# जहर और अमृत

(पौराणिक कथावस्तु के
आधार पर नवीन परिवेश में व्यक्तित्व की
सूक्ष्म विवेचना करने वाला मनोवैज्ञानिक उपन्यास)

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर (राज.)

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३२२वाँ पुष्प

❋ पुस्तक : जहर और अमृत

❋ लेखक : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

❋ सम्पादक : डॉ. लक्ष्मण भटनागर

❋ प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थल : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग
उदयपुर-३१३ ००१
फोन : (०२९४) ४१३५९८

❋ © सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

❋ प्रथम संस्करण : वि. स. २०५२ ज्येष्ठ
ई. सन् १९९५ जून

❋ मुद्रक : राजेश सुराना द्वारा
दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस
एम. जी. रोड, आगरा-२८२ ००२
फोन : (०५६२) ५४३२८

❋ मूल्य : चालीस रुपये लागत मात्र

# प्रकाशकीय बोल

महाकवि कालिदास ने कहा है–

*"विभिन्न रुचिर्हि लोकः।"*

लोकों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जिस प्रकार मनुष्यों की आकृतियाँ परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार उनकी प्रकृति भी, उनकी रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। किसी को तत्त्वज्ञान में रुचि होती है किसी को कविता, संगीत एवं भजन में। किसी को सिद्धान्त की सूक्ष्म बातों में तो किसी को कथा, उपन्यास एवं कहानियों में। इस जनरुचि को ध्यान में रखकर परम श्रद्धेय आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म. ने साहित्य की विविध विधाओं में, विभिन्न शैलियों में और भिन्न-भिन्न विषयों पर साहित्य-सर्जना की है। उस विशाल साहित्य उद्यान में से पाठक अपनी पसन्द और अपनी रुचि के फूल चुन लेता है और उनके रस–गंध रस से स्वयं को आनन्दित अनुभव करता है।

हमें प्रसन्नता है कि पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी की कृपा से तथा आचार्यश्री की असीम अनुकम्पा से उनके बहुआयामी साहित्य का प्रकाशन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है और लगभग ३५० से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन अब तक कर चुके हैं।

इस वर्ष प्रकाशन-कार्य अत्यधिक महँगा हो गया है। कागज की कीमतों में अकल्पित वृद्धि हो रही है। विगत छह महीनों में ही लगभग ४०-५० प्रतिशत की भाव-वृद्धि ने साहित्य प्रकाशन अत्यधिक महँगा कर दिया है।

हमें प्रसन्नता है कि साहित्य प्रकाशन के इस ज्ञान-यज्ञ में जैन समाज के दानवीर, प्रसिद्ध उद्योगपति लाला विद्यासागर जी ओसवाल जैन के औद्योगिक

प्रतिष्ठान के मुख्य संचालक युवारत्न उदार हृदय श्री नीलम जी जैन ओसवाल (लुधियाना) ने स्वयं की भक्ति-भावना से संप्रेरित हो, आचार्यसम्राट् के साहित्य प्रकाशन में मुद्रणार्थ प्रिंटिंग पेपर का अनुदान देने की भावना व्यक्त की। समाज रत्न श्री हीरालाल जी जैन ने भी आचार्यश्री से प्रार्थना की कि श्री नीलम जी ओसवाल की भावना की भेंट स्वीकारने की कृपा करें।

श्री नीलम जी की भक्ति-भावना और उदारता के कारण पुस्तक प्रकाशन में आपके औद्योगिक प्रतिष्ठान से मुद्रणार्थ कागज का जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसी कारण हम लागत से भी कम मूल्य पर अपने प्रकाशन पाठकों के हाथों में पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील हैं और इसी साहित्य की बिक्री से नया उत्तम साहित्य जनता की सेवा में प्रस्तुत करते रहने का प्रयास करेंगे।

*–चुन्नीलाल धर्मावत*
(कोषाध्यक्ष)

# स्व-कथ्य

साहित्य की विविध विधाओं में कहानी और उपन्यास भी एक रोचक और लोकप्रिय विधा है। कहानी का सम्बन्ध अक्सर अतीत के साथ होता है। 'कथा' शब्द ही सूचित करता है कि–'क'–'था' अमुक था। दादी-नानी की कहानियाँ भी प्रायः 'एक था राजा' से प्रारम्भ होती हैं। बीतक को 'कहानी' कहा जाता है। इसलिए 'कहानी' शब्द से किसी अतीत घटना का बोध होता है। कहानी का 'कथ्य' अतीत से किसी-न-किसी रूप से जुड़ा रहता है किन्तु उसका तथ्य वर्तमान जीवन को स्पर्शता है, इसलिए उसका सम्बन्ध एक प्रकार से भूत-वर्तमान को जोड़ते हुए भविष्य के किसी उद्‌बोधन, मनोहर कल्पना अथवा उत्तम उद्देश्य के साथ जुड़कर त्रैकालिक सत्य बन जाता है।

कहानी का कलेवर प्रायः लघु होता है, कुछ बातें साफ-साफ और कुछ संकेतों में कही जाती हैं। उसमें कथ्य से भी तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कथ्य का महत्त्व भी इसीलिए है कि वह तथ्य पूर्ण होता है। मटका भर दही बिलोने पर थोड़ा-सा मक्खन मिलता है, इसी प्रकार १-२ पृष्ठ की कहानी पढ़ने पर २-४ पंक्तियों का तथ्य मिल पाता है। किन्तु वह तथ्य इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि समूची कहानी को अविस्मरणीय और पठनीय ही नहीं, किन्तु ग्रहणीय भी बना देता है। नीरस में रस पैदा कर देता है तथ्य।

कहानी में इतिहास, संस्मरण और अनुभव भी होता है, कभी-कभी रूपक, कल्पना या भविष्य का ताना-बाना भी कहानी में होता है, मुख्य बात है–कहानी का कथ्य रुचिकर और तथ्य हितकर होता है। उसमें काँटे-सी चुभन और मिश्री-सी मार होती है। सरल होकर भी वह तरल होती है, इसलिए गरल को भी अमृत बनाकर प्रस्तुत करती है।

'उपन्यास' की विधा कहानी से बिलकुल ही भिन्न है। या यूँ कहें कि लघु कहानी का विशाल रूप, वामन का विराट् रूप या अंश का सर्वांश रूप उपन्यास है।

न्यास और उपन्यास शब्द में बहुत कम अन्तर है। 'न्यास' का अर्थ है स्थापना, धरोहर या संपत्ति। घटनाओं की धरोहर, इतिहास की संपत्ति या आदर्शों की निधि

जब कल्पना और शब्दालंकार की सुन्दर, मनोहारी वेश-भूषा में सज्ज होकर उपस्थित होती है तो वह 'न्यास' 'उपन्यास' के रूप में दृष्टिगत होता है। कहानी जीवन या जगत् के अनुभव या इतिहास के किसी एक अंश या एक पक्ष को लेकर लिखी जाती है। उपन्यास जीवन का सर्वांग मिश्रण होता है। घटना के अथ से इति तक की धारा विविध प्रवाहों में बहती-बहती अन्त में अपने उसी उत्स को विस्तारपूर्वक प्रकट करती है जहाँ से उसका उद्‌गम हुआ था। पात्रों की विविधता, घटनाओं का विस्तार और कथ्य की बहुआयामिता, उपन्यास को कभी-कभी विशाल अरण्य की पगडंडियों जैसा जटिल और लखनऊ की भूलभुलैया जैसा घुमावदार भी बना देता है, किन्तु शर्त यही है कि उपन्यासकार घूम-फिरकर अन्त में अपने लक्ष्य पर आ पहुँचता है और सम्पूर्ण कथा-विस्तार को एक बिन्दु पर समाहित कर देता है।

मुझे बचपन से कहानी पढ़ने का शौक रहा है। इतिहास और महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ीं, संस्कृत-प्राकृत के चरित्र ग्रंथ पढ़े, कथा कोष का भी आलोडन किया तथा अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें, दृष्टान्त-सागर, दृष्टान्त-सरोवर, अनुभवों के गुलदस्तों से संस्मरणों की सरिताएँ पता नहीं कितनी पुस्तकें पढ़ीं, पढ़ता ही रहता हूँ। जो कुछ पढ़ता हूँ उसमें से जो प्रिय और संकलनीय लगता है वह अपनी डायरी में नोट कर लेता हूँ। समय-समय पर प्रवचनों में, अपने लेखों में उसका उपयोग भी करता हूँ। मैंने अनुभव किया कि सामान्य व्यक्ति गुरु-गंभीर ग्रंथों को पढ़ने में रुचि नहीं रखता। दार्शनिक प्रवचन सुनते-सुनते भी ऊँघने लग जाता है, तब छोटी-सी कथा, कहानी, कोई संस्मरण या चुटकला उसके सुप्त निद्रित मन को सहसा जगा देता है, झकझोर देता है। ऊँघता-ऊँघता श्रोता हँसने लग जाता है। उदासी और ऊबासी भाग जाती है, वक्ता की बात में श्रोता को रस आने लग जाता है।

मैं भी गुरु-गंभीर ग्रंथों को लिखते-लिखते जब थक जाता हूँ, विहार या वार्त्तालाप में जन-सम्पर्क और जन-कोलाहल से मन-मस्तिष्क थककर विश्रान्ति चाहता है तब कहानियाँ पढ़ लेता हूँ, लिख लेता हूँ। धीरे-धीरे वे ही पुस्तक बनकर पाठकों के हाथों में पहुँच जाती हैं।

मैं मानता हूँ मेरी कहानी शैली और आज की प्रचलित कहानी शैली में पर्याप्त अन्तर है, और यह अन्तर स्वाभाविक है। मैं जिन पाठकों के लिए कहानी लिखता हूँ उनमें से अधिकांश की पात्रता का, उनकी रुचि और सोच-समझ का मुझे अनुभव है और मैं चाहता हूँ घुमा-फिराकर नहीं बल्कि सीधी-सादी शैली में तथ्यपूर्ण बात कह दूँ ताकि वे उसे सहजतापूर्वक ग्रहण कर लेवें। मेरे विचार उनके मन-दर्पण में सहजतापूर्वक प्रतिबिम्बित हो जायें, मेरे शब्द उनके कानों को सहज लगें, बुद्धि को

ग्राह्य लगें और मन को स्वाभाविक रूप में सहला देवें। जैसे 'कला' केवल कला के लिए नहीं, किन्तु कला जीवन के लिए होनी चाहिए। वैसे ही कहानी केवल कहानी के लिए नहीं, केवल मन को बहलाने के लिए नहीं, किन्तु मन को जगाने के लिए होनी चाहिए। बस, यही है मेरा कहानी लेखन का उद्देश्य। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें पाठक बड़े चाव से पढ़ते हैं।

उपन्यास

कहानी की भाँति उपन्यास भी एक रोचक और शिक्षाप्रद विधा है। मैंने अब तक लगभग १५ से अधिक उपन्यास लिखे हैं। सामान्यतः उपन्यास किसी ऐतिहासिक घटना या काल्पनिक तथ्यों को आधार बनाकर लिखा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, जासूसी उपन्यास आदि अनेक रूप हैं उनके। मेरे उपन्यासों की पृष्ठभूमि प्रायः जैन इतिहास एवं जैन कथा साहित्य के पात्रों पर आधारित है। विशाल जैन कथा साहित्य में हजारों ऐसे चरित्र हैं, पात्र हैं जिनको आधार बनाकर सुन्दर, रोचक और शिक्षाप्रद उपन्यासों की सर्जना हो सकती है। इन पात्रों का जीवन घटनाबहुल, उथल-पुथल से परिपूर्ण और स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताओं से रचा-पचा रहता है। कहीं-कहीं राजनीतिक षड्यंत्र, काम-क्रोध की ज्वालाएँ, परस्पर के विश्वासघात, प्रणय-प्रसंग, छल-छद्मों के घात-प्रतिघात आदि की कषैली गंध के साथ-साथ उदात्त मानवीय सद्गुणों की मन-भावनी सुगंध की भी कमी नहीं है।

सत्संग, सदुपदेश और सद्चिन्तन के प्रभाव से दुर्गुणों के शूलों में भी सद्गुणों के फूल खिलने लगते हैं। स्वार्थ समर्पण में बदल जाता है। लोभ त्याग के रूप में प्रस्फुटित होता है। वासनात्मक प्रेम, उदात्त मैत्री और सेवा में परिवर्तित हो जाता है। क्रूरता के कटु परिणामों को भुगतते-भुगतते उन्हीं में से करुणा का रस निर्झर बहने लगता है। सुरा, सुन्दरी और सत्ता का अंधा मोह, त्याग वैराग्य और अकिंचनता के स्वर्णिम प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है। नर-राक्षस, नर-देव बन जाते हैं। युद्ध की भेरी बजाने वाले शांति का शंखनाद करने लगते हैं। भोग और वासना के शूकर वैराग्य के राजहंस बनकर संयम के नील गगन में उड़ने लगते हैं। जीवन का यह परिवर्तन ही हमारे उपन्यासों का उद्देश्य है, गति की दिशा है और इसी में श्रम की सार्थकता है।

मेरा विचार है साहित्य-सर्जना का एक निश्चित उद्देश्य होता है, और वह यही होना चाहिए—जीवन की दिशा में परिवर्तन। भावनाओं का ऊर्ध्वीकरण, आवेगों का संवेग (सम्यक् वेग) के रूप में रूपान्तरण। काम-क्रोध-मोह की ग्रन्थियों, भावनाओं

का वैराग्य, क्षमा और ज्ञान के रूप में उदात्तीकरण। अगर हमारा कथा साहित्य, हमारा उपन्यास साहित्य, हमारे निबन्ध, कविता, काव्य, गीत, संगीत इस लक्ष्य में सफल होते हैं तो हमारी साहित्य-सर्जना, हमारा बौद्धिक श्रम सफल है, सार्थक है।

मेरी पूर्व कृतियों की भाँति प्रस्तुत कृतियाँ भी इसी दिशा की ओर प्रगति चरण हैं, और मुझे विश्वास है ये चरण निश्चित ही अपनी मंजिल की तरफ बढ़े हैं और पाठकों को पढ़ने की प्रेरणा देंगे।

सदा की भाँति मेरे साहित्य लेखन, सर्जन आदि में परम गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. का वरदहस्त, उनका आशीर्वाद और प्रत्यक्ष-परोक्ष मार्गदर्शन सदा स्मृति-पथ में समासीन है, उनका स्मृति-सम्बल भी मेरी जीवन यात्रा का परम पाथेय है। उनके उपकारों की क्या स्मृति करूँ? जो कुछ मेरे पास है वह उनके आशीर्वाद की निधि ही है।

महामहिम आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म. महामहिम आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म. का हार्दिक आशीर्वाद भी मेरे साथ है, जिससे मुझे पूर्ण आत्मविश्वास है कि श्रवणसंघ प्रतिपल प्रतिक्षण प्रगति के पथ पर बढ़ता रहेगा।

आदरणीय मातेश्वरी महासती प्रतिभा मूर्ति प्रभावती जी म. तथा आदरणीया बहिन महासती पुष्पवती जी म. की पावन प्रेरणा मेरे साहित्य निर्माण में सम्बल के रूप में रही है। प्रकाशन की दृष्टि से श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने आत्मीय भावपूर्वक साज-सज्जा की है उन सबके सहयोग के प्रति कृतज्ञ भावेन साधुवादं अर्पयामि !

*–आचार्य देवेन्द्र मुनि*

# भूमिका

हिन्दी गद्य की आधुनिक विधाओं में उपन्यास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपन्यास मानवी-घटनाओं का जीवंत लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। इसके कथा-कथानक में जीवन के विविध संदर्भ इस प्रकार उपन्यस्त किये जाते हैं कि पाठक अथवा श्रोता को वे अपने ही जीवन के अंश अनुभूत हो उठते हैं।

'जहर और अमृत' एक पौराणिक कथा-वृत्त पर रचा गया सफल उपन्यास है। इसके स्त्री और पुरुष सभी पात्र सांसारिक-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। कर्म वस्तुतः सांसारिक-जीवन का मूलाधार है। कर्म और उनका चक्रमण गृहीत और अगृहीत कर्म-कुल के रूप में निरन्तर गतिशील रहता है। अगृहीत कर्म के फलोदय से प्राणी अपने अगले जन्म–जीवन में तदनुसार भोग भोगा करता है। अगृहीत कर्म-लीला का परिचायक होता है अवधिज्ञान। विवेच्य उपन्यास में आर्य धर्मसेन महाराज पूर्व-जीवन का अवबोध कराने के दायित्व का बखूबी निर्वाह करते हैं।

कहते हैं तिलकपुर राज्य के दक्ष नरेश हैं संयती। कर्म दुर्विपाक से उनकी एकमात्र संतति–राघव दुष्चरित्र और मैली मनोवृत्ति का राजकुमार है। उसी राज्य के श्रेष्ठी दम्पति–सुदत्त और गुणसुन्दरी हैं। राघव गुणसुन्दरी के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त हो, अनर्थ करने का कुचक्र करता है। इस पापपूर्ण कर्म-चक्र के फलोदय से उपन्यास की वर्तमान कथा के पात्र बनते हैं। राघव का जीव बनता है दाई सलखू नाइन, राघव की रानियाँ बनती हैं राजा चन्द्रसेन की तेजस्विता आदि ग्यारह रानियाँ। सुदत्त और गुणसुन्दरी बनते हैं राजा चन्द्रसेन की अन्तिम तेरहवीं रानी विश्वसुन्दरी की संतति–आनन्दसेन और चम्पकमाला। सुदत्त सेठ के दोनों मित्र बनते हैं बाबा ब्रह्मानन्द और शीलावती जो आनन्दसेन और चम्पकमाला की रक्षा

करते हैं। सपत्नी-डाह से उत्पीड़ित रानी तेजस्विता आदि दस रानियाँ, रानी विश्वसुन्दरी की संतति को समाप्त करने का कुत्सित कार्य सौंपती हैं सलखू दाई पर। साथ ही कुतिया के दो नवजात पिल्लों को जन्म देने का समाचार विज्ञापित कर देती हैं। फलस्वरूप जगत-हँसाय से बचने के लिए राजा चन्द्रसेन द्वारा विश्वसुन्दरी को राज्य से निष्कासित कराने का कुचक्र रचती हैं।

बाबा नित्यानन्द के सौजन्य से आनन्दसेन एवं चम्पकमाला का सुरक्षापूर्वक पालन-पोषण सम्पन्न होता है। वयस्क होने पर होनहार आनन्दसेन को आनन्दपुर राज्य का अधिपति बना दिया जाता है। इसी बीच चम्पापुर राज्य की वार्षिक प्रतियोगिता में मल्ल-विद्या में आनन्दसेन विजयी घोषित किये जाते हैं। आनन्दसेन की अनुछवि निहारकर रानी तेजस्विता को आशंका होती है कि कहीं यह विश्वसुन्दरी का पुत्र ही न हो ! सलखू दाई को बुलाकर सन्देह को प्रमाणित कर लिया जाता है। रानी तेजस्विता दुःखी और चिन्तित होती है। राजा चन्द्रसेन आनन्दपुर पहुँचते हैं जहाँ आर्य धर्मसेन महाराज द्वारा पूर्व-जन्म के घटना-चक्र का परिज्ञान करा दिया जाता है। आनन्दसेन को पाकर पिताश्री चन्द्रसेन प्रमुदित होते हैं।

महारानी कल्याणवती एक विदुषी, समभावी, धर्म-परायण नारी पात्रा हैं। संतान-एषणा से व्यथित राजा चन्द्रसेन उत्तरोत्तर तेरह रानियों के साथ विवाह रचाते हैं। दूसरी रानी जयावती के आने पर उनके मन में उत्पन्न द्वन्द्व-द्वेष का आन्दोलन उत्पीड़न देता है। लेखक ने इस द्वन्द्व का मनोविज्ञान आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। संतान न होने पर रानी जयावती महारानी कल्याणवती का अनुसरण करती है। शेष दस रानियाँ एकजुट होकर विश्वसुन्दरी के प्रति सौतियाडाह से पीड़ित हो, ईर्ष्या-भाव रखती हैं। रानी तेजस्विता और दाई सलखू नाइन वस्तुतः मैली मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। दोनों राज्यों का कार्य-भार अपने पुत्र आनन्दसेन को सौंप संसार की इस कर्म-लीला से मुक्त्यर्थ महाराजा चन्द्रसेन आर्य धर्मसेन महाराज से दीक्षा ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार विवेच्य उपन्यास का कथावृत्त गृहीत-अगृहीत कर्म-कथा से अनुप्राणित है। कथानक प्रारम्भ, प्रत्याशा, चरम सीमा, नियताप्ति और फलागम के पड़ावों को स्वाभाविक उतार-चढ़ाव के साथ रोचक चित्र प्रस्तुत करता है। कथा-प्रस्तुति पाठकों के मन को छूती है।

यद्यपि कथा पौराणिक है तथापि उसकी अर्थ-व्यंजना आधुनिक समाज का दर्पण बनकर प्रतिबिम्बित हुई है। लेखक की पांडित्यपूर्ण कला-पटुता इस दृष्टि से पूर्णतः सफल है।

उपन्यास के सभी पात्र सजीव हैं। वे सभी अपनी-अपनी भूमिका के निर्वाह करने में ट्रेण्ड हैं। उपन्यास के संवाद प्रयोग और प्रासंगिक परिस्थितियों के अनुसार छोटे-बड़े संवाद-गत विशेषताओं से सम्पृक्त हैं तथा उनके सटीक प्रयोग से कथा-प्रवाह में गति उत्पन्न होती है। उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्रयुक्त संवाद पाठक को बोझिल नहीं होने देते।

देशकाल के अनुसार विवेच्य उपन्यास में तदनुसार वातावरण उपस्थित किया गया है। राजप्रासाद, नगर और नगरेतर वन-उपवन की प्रकृति को उपन्यस्त करने में लेखक ने सावधानीपूर्वक परम्परा का प्रयोग किया है। वार्षिक उत्सव में राज्य का सर्वांगीण रूप उभर उठा है। लोक-जीवन के सुख-दुःख और राज-परिवार के घात-प्रतिघातों के सहज दर्शन हो जाते हैं।

उपन्यास की भाषा-शैली निखार-पखारकर प्रयुक्त की गयी है। फलस्वरूप पात्रानुकूल भाषा-शैली के दर्शन दुर्लभ हो उठे हैं। परिष्कृत प्राञ्जल हिन्दी भाषा का शुद्ध और सही प्रयोग परिलक्षित है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा का काठिण्य यत्किंचित् कम हुआ है। उपन्यास में सूक्ति-प्रयोग की शैली लेखक के गम्भीर अध्ययन और व्यापक जीवन-अनुभव को प्रमाणित करती है। उपन्यास की शैलीगत विशेषता इस सत्य से मुखर हो उठी है कि पाठक का मन प्रारम्भ से अन्त तक समाप्त करने की उत्कण्ठा के लिए आतुर रहता है।

उपन्यास का उद्देश्य पाठक को खोजना नहीं पड़ता। शुभ और अशुभ कर्मों को कर्त्ता स्वयं करता है उनके फलों का उपभोक्ता भी वह कर्त्ता ही होता है। जीवन की सार्थकता उन्मार्ग से हटकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने में सिद्ध होती है। सुधी और सधे लेखक ने इसी तथ्य को आकर्षक भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया है। 'जहर और अमृत' शीर्षक में उपन्यास का मूलोद्देश्य अन्तर्निहित है।

सब मिलाकर उपन्यास कला-कसौटी पर एकदम खरा उतरने वाला सशक्त साहित्यिक संस्करण है। विवेच्य उपन्यास के रचयिता हैं कथा-साहित्य के प्रख्यात हस्ताक्षर श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री। आप स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन महासंघ के

आचार्य आदित्य हैं। उनकी चर्या, एक ओर धर्म और दर्शन तथा दूसरी ओर उत्तम अभिव्यक्ति जिसमें बौद्धिक प्रदूषण समाप्त करने की अमोघ शक्ति सामर्थ्य विद्यमान है, प्रयोगशाला है। स्वयं लेखक के विचार और आचार हैं प्रखर प्रयोक्ता।

आज के समाज में व्याप्त बौद्धिक प्रदूषण समाप्त करने के लिए विवेच्य उपन्यास 'जहर और अमृत' वस्तुतः उत्तम वैचारिक कैप्सूल है। परिवार के युवक-युवतियों, स्त्री-पुरुष सभी स्तर के सदस्यों के एक साथ पढ़ने योग्य श्रेष्ठ साहित्यिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्करण है–'जहर और अमृत'। हिन्दी और हिन्दीतर भाषा-भाषियों के लिए इस उपन्यास के स्वाध्याय हेतु हार्दिक संस्तुति करता हूँ।

इतनी सुन्दर उपयोगी कृति के लिए इसके सुधी लेखक, प्रकाशक तथा कलापूर्ण एवं शुद्ध मुद्रण के लिए मुद्रक को एक साथ बहुत-सी बधाइयाँ भेंट करता हूँ।

इत्यलम्।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़-२०२ ००१
फोन : २६४८६

व्याख्यान वाचस्पति, साहित्यालंकार, वाणीभूषण
*–विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया*
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.
(निदेशक : जैन शोध अकादमी)

स्वर्णनगरी के राजप्रसाद के लिए यह रात्रि असाधारण रही। राजरानी कल्याणवती को अतिशय तोष था कि आनन्द को सफलता मिली। अनायास ही उनके हृदय में ममता और वात्सल्य का भाव उमड़ उठा। वे स्वयं यह निश्चय नहीं कर पा रही थीं कि क्या ऐसा होना सचमुच ही अकारण था। रागानुराग से तटस्थता रखने वाली राजरानी को भी भीतर से कहीं यह विश्वास हो चला था कि वह असाधारण प्रतिभा और कौशल का धनी आनन्द सामान्य वर्ग का तो हो ही नहीं सकता। उसका भव्य और दिव्य व्यक्तित्व, उसकी आभायुक्त मुखाकृति, उसका सौम्य और सौजन्य–सब-कुछ इस बात का द्योतक है कि वह कुलीन है, उच्चवंशीय है, संभवतः राजवंशीय भी हो। फिर महाराज से जो अत्यन्त समीपता रखने वाला साम्य उसमें दिखायी देता था–क्या वह इस आशंका को पुष्ट नहीं कर पाता कि···· । जयावती रानी से वे विचार-विमर्श भी करने लगीं। इन्हीं सुखद चर्चाओं में अर्ध-रात्रि भी व्यतीत होने को आयी। तभी इन रानियों को कुछ आभास होने लगा कि रानी तेजस्विता के प्रासाद में कुछ हलचल हो रही है। रानी जयावती को पहले से ही कुछ आशंका भी थी। उन्होंने राजरानी को संबोधित करते हुए कहा– "दीदी ! एक बात तो मैं आपसे कहना भी चाहती थी और कहने में मुझे संकोच भी हो रहा था। अब संकोच रखना ठीक नहीं होगा, मैं आपको बता देना चाहती हूँ।"

राजरानी कल्याणवती के मन में औत्सुक्य प्रबल हो गया। उन्होंने रानी जयावती को प्रेरित करते हुए कहा–"कहो···· कहो, क्या बात कहना चाहती हो? हैं?" और प्रतीक्षा करने लगीं। जयावती ने बताया कि "जिस समय संध्या का वह उत्सव विसर्जित हुआ और हम लोग भी अपने मंच से उतरकर पालकियों की ओर जा रही थीं–मैंने रानी तेजस्विता को रहस्यमय ढंग से यह कहते हुए सुना कि····।" रानी जयावती अपना कथन पुनः संकोच के कारण पूर्ण न कर सकीं। राजरानी ने पुनः उत्साहित किया–भय के कारण किसी सत्य अथवा तथ्य को अव्यक्त रखना मानसिक बोझ को बढ़ाना ही है, यही नहीं यह अनैतिक भी है। इसके कारण होने वाले किसी भी अहित का

# जहर और अमृत

उद्विग्न-मन महाराज चन्द्रसेन अपने शयन-कक्ष के पिछवाड़े के चौबारे में तेज-तेज कदमों से टहल रहे थे। ठण्डी रात्रि में भी उनके भाल पर स्वेद-कण छलछला आये थे। दोनों हाथ पीठ पर बँधे हुए, गर्दन के झुकाव का कुछ प्रभाव पीठ तक पहुँचा हुआ, पलकें देर तक झपकना ही भूल गयी थीं। रात्रि आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी, किन्तु महाराज के नेत्रों में नींद का नाम भी नहीं था। अमावस की रात्रि का घना अंधकार व्याप्त था। आकाश में असंख्य तारे जगमगा रहे थे, किन्तु चन्द्रमा के अभाव में तारे बेचारे धरती के अंधकार को धकिया नहीं पा रहे थे। बाहरी वातावरण का प्रभाव नरेश के मन पर भी था। उनका मन भी निराशा के घनांधकार से भर उठा था। एक पुत्र के अभाव में वह अँधेरा भी अडिग, अटल हो गया था। महाराज ने बाहर के तिमिर को देखा और सोचने लगे।

शयन-कक्ष का सजीला, मादक आकर्षण भी हमें भीतर रोक नहीं पाया और हम बाहर आ गये, नवोढ़ा रानी जयावती का रूपाकर्षण भी हमें रोक नहीं पाया और हम बाहर आ गये। उस सुखमय, सरस वातावरण से हमारा मन हमें बाहर धकेल लाया और हम यहाँ चौबारे में आ खड़े हुए। वहाँ के कोमल, नील प्रकाश में भी हमारे नयनों में तो निराशा का तिमिर काजल की तरह बस गया था। हमारा अन्तर्द्वन्द्व हमें मिलन-कक्ष में अशान्त बना गया और हमें यहाँ आना पड़ा।.... किन्तु..... यहाँ.... यहाँ भी हमें क्या प्राप्त हुआ.... हाँ.... ? सब ओर यहाँ भी वही अँधेरा है ! स्यात् यह तिमिर ही अब हमारी नियति है, यही भवितव्य है....!!

सोचते-सोचते महाराज चन्द्रसेन और भी अधिक उद्विग्न हो उठे। एक दीर्घ निःश्वास के साथ उनके रुके हुए चरण पुनः गतिशील हो उठे। वे चौबारे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाने लगे। खुले चौबारे से चम्पानगरी के दूर-दूर के दृश्य दृष्टिगत होते थे। वृक्षों से आच्छादित दूरस्थ पर्वतमाला, दूर-दूर तक फैले हुए सघन वन, मनोहर हरित मैदान दिखायी देते थे, बल खाती सरिता भी बड़ी लुभावनी लगती थी; किन्तु अँधेरे के आवरण ने दृष्टि की क्षमता को विफल बना दिया था।

सीपी-सी सुन्दर चम्पानगरी में मोती-सा भव्य राजभवन था, जिसके चौथे खण्ड में नरेश चन्द्रसेन महाराज का यह शयन-कक्ष था जो राजघराने के वैभव-विलास का सहज साक्षी था। सभी साधन-सुविधाएँ मानो करबद्ध, सेवा में प्रस्तुत थीं। छत से लटकता झालरदार पंखा बड़ा सुन्दर लगता था जिसकी रेशमीन रस्सी को बाहर बैठी सेविका हौले-हौले खींचती और कक्ष में धीमी बयार दोलित हो जाती। अन्य दो दासियाँ कक्ष के बाहर ही सन्नद्ध रहतीं। चार सुरक्षा प्रहरी चुस्ती से कर्त्तव्य-परायणता का परिचय देते। रानी जयावती को छोड़ किसी को भी ज्ञात न था कि महाराज इस समय शयन-कक्ष में नहीं थे, और स्वयं रानी जी भी यह ज्ञात न कर पायी थीं कि महाराज इतने उन्मन क्यों हैं? क्यों वे इतने उद्विग्न रहते हैं? आज भी उन्हें एकाकी, उपेक्षिता छोड़कर महाराज चौबारे में क्यों चले गये .... ? उन्हें किसी कारण का अनुमान भी नहीं हो पा रहा था। वे यह भी स्वीकार नहीं कर पाती थीं कि महाराज का उनके प्रति प्रीति-भाव नहीं है। उनके स्नेह-सौजन्य में रानी जी ने कभी कोई अभाव अनुभव नहीं किया। उन्होंने अपनी सुख-सुविधा के लिए महाराज को सदा ही चिन्तित और सचेष्ट पाया। इन विपरीत परिस्थितियों के कारण वे महाराज के व्यवहार को भली-भाँति समझ नहीं पा रही थीं। उनके मन में नाना प्रकार की आशंकाएँ उदित होती रहती थीं। वे स्वयं नरेश चन्द्रसेन महाराज की मानसिक शान्ति के लिए प्रयत्नशील थीं, किन्तु उन्हें कोई मार्ग नहीं मिल पा रहा था।

महाराज अब भी दूरस्थ, अदृष्ट दृश्यों की कल्पना करते हुए चौबारे में टहल रहे थे। कभी-कभी दूर से कुत्तों के भौंकने की आवाज, बड़ा ही विचित्र स्वर लिए हुए आ जाती थी और महाराज का ध्यान कुछ क्षणों के लिए भंग हो जाता था। उनके मन में अन्तर्द्वन्द्व की प्रचण्ड आँधी अब भी चल रही थी।

वे सोचने लगे कि व्यर्थ ही हमने दूसरा विवाह किया। कहीं ऐसा न हो कि कोमलांगी रानी जयावती का जीना ही दूभर हो जाय ! यदि ऐसा हुआ तो हम भयंकर पाप के भागी बन जायेंगे। हम ही स्वयं को कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे। हमने फूल-सी कोमल राजकन्या जयावती को सपत्नी-डाह की अग्नि में झोंक दिया है। यह दूसरा परिणय कभी भी शुभ और उचित सिद्ध नहीं होगा। क्यों कर लिया .... हमने यह परिणय ! यह नीति-संगत और उपयुक्त नहीं हुआ .... ।

क्यों उपयुक्त नहीं हुआ .... ? नीति-संगत भला, क्यों नहीं है यह? क्यों न हमें यह अन्य विवाह करना चाहिए था? नरेश के मन में आये इस

विचार-परिवर्तन ने उनके मुख-मण्डल को भी कुछ दीप्त कर दिया। झुका हुआ सिर ऊँचा और कमर सीधी हो गयी। वे इस परिवर्तन दिशा में अपना चिन्तन आगे बढ़ाने लगे। सोचने लगे कि प्रत्येक भूपति का यह अनिवार्य दायित्व है कि वह अपने राज्य को, अपनी प्रजा को अपने जैसा ही योग्य शासक देकर जाय। केवल यही पर्याप्त नहीं है कि राजा द्वारा न्यायपूर्ण शासन, प्रजा-वत्सलता, सुख-शान्ति और सुरक्षा के दायित्व-निर्वाह की परम्पराओं को बनाये रखा जाय। आदर्श नृपति को तो भविष्य की उज्ज्वलता को भी सुरक्षित कर लेना होता है। ये परम्पराएँ दूर भविष्य में भी निरन्तरित रह सकेंगी–यह आश्वस्तता भी अनिवार्य होती है। सुशासन की परम्परा भी बनी रहे; वंश-वल्लरी भी फैलती रहे–यह देखना हमारा एक अनिवार्य दायित्व है। नृपति चन्द्रसेन महाराज के मन का यह दूसरा पक्ष था जो उन्हें यह सोचने पर भी विवश किये जा रहा था कि राजपुत्र किसी राजवंश की एक अनिवार्य आवश्यकता है। और तब उन्हें अपने दूसरे परिणय पर संतोष अनुभव होने लगा। वे उसके औचित्य से आश्वस्त हुए। किन्तु यह औचित्य-भावना भी रेत पर पानी की बूँद की भाँति शीघ्र ही विलीन हो गयी।

तुरन्त ही वे यह सोचने लगे कि नहीं···· नहीं···· इन सभी तर्कों में कोई सशक्त तथ्य नहीं है। हमारा अपराध न केवल रानी जयावती, अपितु राजरानी कल्याणवती के विरुद्ध भी है। सामाजिक अथवा पारिवारिक उपयुक्तता की आड़ में भी यह नैतिक दायित्व छिपाया नहीं जा सकेगा। इस प्रकार नृपति चन्द्रसेन महाराज की विचारधारा ने पुनः मोड़ लिया। उनका मन घोर वितृष्णा से भर उठा। वे सोचने लगे कि हमने रानी जयावती से विवाह करके राजरानी कल्याणवती के कोमल और भावुक हृदय को आघात पहुँचाया है। उनके निःस्वार्थ और निश्छल प्रेम का यह प्रतिदान कदापि उपयुक्त नहीं कि उन्हें सौतिया-पीड़ा प्राप्त हो। न चाहने पर भी हमारे द्वारा राजरानी उपेक्षिता बनती जा रही हैं। नवल पत्नी के प्रति चित्ताकर्षण का तीव्र होना; चाहे हमारे लिए कितना ही स्वाभाविक हो, किन्तु उसके कारण राजरानी के मन में होने वाली पीड़ा का तो कोई आर-पार ही नहीं होगा। उनका-हमारा दीर्घकालीन दाम्पत्य रहा है। रानी जयावती के साथ हमारा परिणय तो अभी कल ही की बात है। पर ये दो दिन जीत गये और वे बीते हुए इतने सारे वर्ष हार गये। क्या हुआ, जो राजरानी ने स्वयं ही हमें अन्य विवाह की अनुमति दे दी, वह तो मात्र वाचिक थी। कोई स्त्री अपने प्रियतम के प्रेम का विभाजन सहन नहीं कर सकती। वह एकाधिपत्यपूर्वक एकनिष्ठ प्रीति की अभिलाषा रखती है। हमने उनके साथ छल किया–जिन्होंने हमें

अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। इतिहास चाहे मौन रह भी जाय, हमारा मन तो इसे घोर पाप ही मानेगा। राजरानी बेचारी घोर मानसिक यातना और वेदना में समय बिता रही होंगी। सौत तो मिट्टी की भी बुरी ही होती है; फिर उनकी सौत तो जीती-जागती, हँसती-बोलती, इठलाती-झूमती, रूपसी, नव-यौवना हैं। इनकी चर्चा सुनकर ही उनके वक्ष पर साँप लोट जाते होंगे। राजरानी कल्याणवती के लिए हमारा यह विवाह दु:खद है और हम तो उनके सुखकामी हैं । हमें रानी जयावती से यह दूसरा .... दूसरा परिणय नहीं करना चाहिए था। इस विचार के अन्तिम छोर के आते-आते ही विलोम विचार जैसे मुखर होने लगा था। महाराज सोचने लगे थे–क्यों न करते हम दूसरा परिणय। ऐसा करके हमने कोई भूल नहीं की है। हमें वंश-विस्तार के लिए राजकुमार चाहिए, हमें राज्य के भावी शासक के रूप में एक उत्तराधिकारी चाहिए। हाँ, उत्तराधिकारी के बिना हमें ही नहीं समस्त प्रजाजन को अतिशय निराशा है। और इसकी पूर्ति के लिए हमारे पास अन्य परिणय कर लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही शेष नहीं बचा था। हमें तो प्रसन्नतापूर्वक स्वयं राजरानी कल्याणवती ने अन्य विवाहार्थ अनुमति दी है, प्रेरित किया है। अब हम राजरानी के अपराधी किसी भी प्रकार से नहीं कहे जा सकते। या तो उनके मन में कोई वेदना ही नहीं हो, या फिर उस वेदना का दायित्व हम पर रंचमात्र भी नहीं है। हमने कोई अनीति नहीं की .... ।

.... क्या कोई अनीति वास्तव में नहीं की? महाराज का मन प्रश्नाकुल हो उठा। विपरीत विचार का एक नया झोंका आया। वे सोचने लगे कि राजरानी ने चाहे हमें विवाह की स्वीकृति दे दी हो, किन्तु क्या वह स्वीकृति मन से थी। वे तो कर्म-फल में विश्वास करती हैं। अशुभ कर्मों के रहते हमें पुत्र-सुख किसी भी स्थिति में नहीं मिल सकता–राजरानी तो यह मानती हैं–फिर भला वे अन्य विवाह को हमारी कामना की सफलता का मार्ग कैसे मान सकती हैं !! ऐसी स्थिति में भी यदि हमने विवाह किया .... तो यह हमारी हठ का ही परिणाम है। राजरानी की अनुमति तो मात्र अशोभनीय स्थिति को टालने के लिए रही होगी। वे नहीं मानतीं कि नयी पत्नी से पुत्र-सुख की प्राप्ति होगी; फिर भला ये यह सपत्नी कलह स्वेच्छा से क्यों मोल लेतीं। उनके भाग्य में पुत्र नहीं बदा हो–यही बात नहीं है, वे तो ऐसा कहती हैं। ....

.... उनके कहने से भी क्या होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो बारह वर्ष की अवधि में भी वे मातृत्व का वरदान प्राप्त नहीं कर सकीं .... ऐसा .... ऐसा क्यों हुआ होता। महाराज चन्द्रसेन भारी ऊहापोह और मनोमंथन की इस घड़ी में अत्यन्त विचलित थे। परस्पर विरोधी विचारधाराओं में प्रवाहित होते

वे कभी इस कगार से टकराते तो कभी उस तट से। अन्ततः इस विचार ने उन्हें कुछ स्वस्थ और स्थिर बनाया कि कदाचित् अन्य विवाह नीति-सम्मत ही है, निंद्य नहीं है। महाराज चौबारे से अपने शयन-कक्ष में पहुँचे। रानी जयावती अभी भी उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। उनके नयनों की निद्रा तो मानो उड़ ही गयी थी। उन्होंने सिर झुकाकर महाराज का स्वागत किया।

× × ×

इस भव्य वैभवशाली राजभवन के एक अन्य भाग में उनींदी राजरानी कल्याणवती व्यग्र अवस्था में अपने शयन-कक्ष में टहल रही थीं। नींद उनकी आँखों में भी नहीं थी। कल्याणवती राजरानी चिन्तित थीं–महाराज चन्द्रसेन के अकल्याणयुक्त भवितव्य से। उन्हें आशा थी कि महाराज का भटका मन शीघ्र ही सन्मार्गी हो जायेगा, किन्तु वे तो अधिक-से-अधिक पंक-निमग्न होते जा रहे थे–यह उनके लिए भारी दुःख का कारण था। महाराज के मंगल की कामना राजरानी की प्रमुख साध थी। ऐसा भी नहीं कि इस दिशा में उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया हो। चेष्टा तो भरसक की, किन्तु सफलता हाथ नहीं लगी।

खुले वातायन के समीप खड़ी राजरानी कल्याणवती बाहर फैले घोर अंधकार के पट पर मानो अपने अतीत का चलचित्र, कल्पना के नेत्रों से देख रही थीं। उन्हें स्मरण हो आया कि स्वामी को अपनी निःसन्तानता का बड़ा दुःख था–शोकमग्नता की सीमा तक पहुँचा दिया था उन्हें–इस दुःखात्मक तथ्य ने। सन्तानहीनता के कारण दुःखमयता का होना अस्वाभाविक नहीं, कदापि नहीं है, किन्तु किसी भी प्रकार से इसे मनुष्य अपना वशवर्ती भी नहीं मान सकता। राजरानी कल्याणवती सोच रही थीं कि किसी भी युग में पुत्र-प्राप्ति किसी दम्पति के हाथ की बात नहीं रही है। साधारण .... अज्ञजन संतति का प्राप्त होना और न होना–दोनों ही संयोग की बात मानते हैं। संयोग पर भला किसी का क्या वश है !! कुछ सज्ञान जन इससे कुछ ऊपर उठकर सोचते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सन्तान-प्राप्ति भाग्याधारित है। जिसके भाग्य में नहीं, उसे सन्तति का मुख देखने का सुख कभी सुलभ नहीं हो पाता। जिन्होंने भाग्य को स्वीकार किया वे मानते रहे हैं कि कोई अलौकिक, बाह्य सत्ता इन परिस्थितियों की नियन्ता और नियामक रहती है। वही मनुष्य के लिए सुख अथवा दुःख का पूर्व-निर्धारण कर देती है, वही मनुष्य की भाग्यलिपि है। वह पूर्व-निर्धारणकर्त्ता विधाता है, या प्रभु है, या ऐसी ही कोई कल्पना करके ऐसे विश्वासकर्त्ता चलते हैं। हमने तो महाराज को

इस प्रकार की मान्यताओं से कितना .... कितना सचेत किया, इनके मिथ्यात्व का कैसा स्पष्ट प्रतिपादन किया, किन्तु महाराजश्री ने तो मानो इन बातों पर ध्यान ही नहीं देने का संकल्प कर लिया था।

राजरानी इस सूनी, अँधियारी रजनी में, इन शान्त प्रहरों में बड़ी स्पष्ट चिन्तना करती जा रही थीं। वे दीपक की ओर बढ़ीं और उसकी शिखा को तनिक उद्दीप्त किया। अब उनका कक्ष वह सजीला, नरेश का शयन-कक्ष तो नहीं था, उस पर तो नयी रानी जयावती का अधिकार हो गया था। और कल्याणवती राजरानी का गौरव रखते हुए भी साधारण-सी सजावट वाले एक छोटे-से कक्ष की अधिकारिणी रह गयी थीं। दीपक ने अपनी लौ बढ़ाकर कक्ष के यथार्थ को उजागर कर दिया। इस साधारणता में भी राजरानी को कोई असंतोष नहीं था। वे तो कर्म सिद्धान्त को गहरी आस्था के साथ मानती थीं। उन्हें ज्यों ही कर्म सिद्धान्त की स्मृति आयी, उन्हें यह भी स्मरण आ गया कि उन्होंने महाराज को कितना समझाया कि इस भव में जो कुछ भी हम भोगते हैं, वह हमारे पूर्व-भव के कर्मों का फल होता है। वे सोचने लगीं कि उन्होंने महाराजश्री को विस्तार से समझाया था कि पूर्व-भव में हमने जो शुभाशुभ कार्य किये, उनसे हमने शुभ अथवा अशुभ कर्म-बंध बना लिये और उन्हीं के परिणाम-रूप में हमें इस भव में सुख-दुःख मिलते हैं। पूर्व-जन्म के शुभ कर्म हमें इस जीवन में सुखात्मक परिणाम देते हैं और पूर्व अशुभ कर्म ही हमारी इस भव की दुःखात्मक परिस्थितियों के कारण होते हैं। इस रूप में हम चाहे कर्म-फल-सिद्धान्त को भाग्यवादिता ही क्यों न मानने लग जायें, किन्तु भाग्य किसी अलौकिक, बाह्य सत्ता द्वारा किया गया सुख-दुःख का पूर्व-निर्धारण है, जो अपरिवर्तनीय है। भाग्य पर मनुष्य का अपना कोई वश नहीं। किन्तु हमने तो स्वामी को भाग्यवादिता की असारता भी खूब समझायी। हमने बताया कि स्वामी ! भाग्य सिद्धान्त का रूप समझिये। वास्तव में तो कर्मों के अधीन ही महारा समग्र जीवन है। कर्म कभी हमारे अधीन थे। तब यदि विवेक को संगी नहीं बनाया और उचित-अनुचित का ध्यान न दिया तो उसका फल इस भव में भोगना ही होगा। हमने शुभ कर्म नहीं किये तो शुभ परिणामों की कामना व्यर्थ है ! किन्तु स्वामी ने इस ज्ञान-तत्त्व को तुच्छ माना, नगण्य माना, इसकी उपेक्षा ही करते रहे हैं वे सदा। वे भाग्य को कर्म से नहीं जोड़ सके। निरे इस भव को सर्वस्व मानते रहे। पूर्व-भव को इस भव के कारण स्वरूप स्वीकार ही नहीं करते हैं वे। हमारे प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली। पर इसमें वे भी क्या करते !

राजरानी जयावती सोचते-सोचते इस निष्कर्ष पर पहुँचीं कि मनुष्य की जैसी नियति होती है वैसा ही वह ढलने लग जाता है। उसकी चिन्तनधारा और उसका विवेक भी वैसा ही हो जाता है। यदि पतन ही उसका प्रारब्ध है तो पहले से ही वह मति-शून्य हो जाता है। वे सोचने लगीं कि मैंने यह समझाने में भी कोई कोर-कसर नहीं रखी कि यदि भाग्य कुछ होता भी है तो मनुष्य स्वयं ही उसका निर्माता है। पहले वह अपने दुःख-सुख का लेखा स्वयं ही, पूर्व-जन्म में, कर्म-रूप में तैयार कर लेता है, इस जीवन को उसके अनुरूप ढालता है, उस कर्म-समूह के ही परिणाम इस जीवन में भोगता है। इस जीवन में मनुष्य जो कुछ करता है–उसके परिणाम कर्म-बन्ध के रूप में आगामी भव के भवितव्य बनते हैं। इसके शुभाशुभ फल सुख-दुःखात्मक परिस्थितियों का निर्माण करते हैं–हमारे आगामी भव में । मैंने इसी भूमिका के साथ स्वामी को प्रेरित किया कि वे अब इस भव में सदा शुभ कर्मों का बन्ध करें, अशुभ कर्मों की ओर उन्मुख न हों।.... किन्तु इस ओर भी उनका ध्यान कम है। समता-भाव और विवेक-प्रयोग की दिशा में वे तनिक भी गतिशील नहीं हैं। इस प्रकार वे अपना भावी भव ही नष्ट करते जा रहे हैं।

वे जो भोग रहे हैं, वह यदि कष्ट है तो इसके कारण पूर्व-कर्म हैं–न यह वे समझ पा रहे हैं और न ही यह कि वर्तमान शुभ कर्मों से ही भावी भव के सुखों का सर्जन होगा। वे तो सन्तानहीनता का सारा दोष हम पर आरोपित करते हैं। सामान्यजन भी ऐसी स्थिति में यही स्वीकारता है कि क्या करें ! पूर्व-जन्म के ऐसे ही संस्कार हैं। इस रूप में वह कर्म-सिद्धान्त की ही महत्ता स्वीकार करता है, किन्तु हमारे स्वामी की स्थिति भिन्न ही है। वे इस प्रकार मानने वाले नहीं हैं। वे तो प्रयत्न बल से ही सब-कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं। वे दीवाने की स्थिति तक पहुँच गये हैं–अपनी संतान-कामना की पूर्ति के लिए। ऐसे अथवा वैसे–जैसे भी हो उन्हें संतान प्राप्त करनी है। इसके लिए वे कुछ भी करने को तत्पर हैं। उन्होंने हमसे प्रीति की, अतिशय और निर्मल प्रीति की। उनके अनुराग में सच्चा राग-भाव रहा। हम उनकी प्रीति की पात्र होकर कृतार्थ हो गयीं, किन्तु अब उनकी क्या दशा है? पिछले बरस से तो लगता है जैसे महाराज अब वैसे नहीं रह गये, अथवा हम ही, हम नहीं रह गयीं। क्या हो गया यदि घर में बाल-किलकारी नहीं गूँजी तो ! हम तो हम ही थीं, वो भी वो ही थे। किन्तु पुरानी प्रेम-भावना को तिलांजलि देकर उन्होंने हमारे साथ कैसा कटु व्यवहार किया यह सर्वविदित है। उन्होंने हमसे, न कहने योग्य सारी ही बातें कह दीं। उनके वंश की समाप्ति का कारण उन्होंने हमें माना, हम निपूती हैं, हमें मातृत्व का वरदान नहीं, निःसन्तानता का

अभिशाप प्राप्त है, हमने अपनी अक्षमता से उन्हें पुत्रहीन रख दिया है, हमने चम्पानगरी की प्रजा के प्रति अन्याय–घोर अन्याय किया है। महाराज तो यही सब-कुछ सोचते रहे हैं–हमारे प्रति। सोचते ही नहीं; हमारे समक्ष भी, हमारे लिए वे यही भाव व्यक्त करते रहे हैं। हमारा मन आहत होता है, यह सब सुनकर, किन्तु तुरन्त समता का भाव आ जाता है और इस व्यवहार की दुःखमयता को निर्मूल कर जाता है। उनके आरक्त नयन साश्रु हो गये।

राजरानी कल्याणवती सोचतीं कि क्या यह व्यवहार उनके लिए नये अशुभ कर्म-बन्ध नहीं बना रहा ! क्या नरेश इस प्रकार अपने भावी जीवन की सुखमयता का ही निर्धारण कर रहे हैं !! और वे अपने प्रियतम के भावी अनिष्ट की कल्पना मात्र से काँप जातीं। उस निस्तब्ध रात्रि में वे उद्विग्न हो उठीं, उनका अन्तर चीत्कार कर उठा। उन्होंने बहुतेरा प्रयत्न किया नृपति को आदर्श-मार्ग पर लाने का, किन्तु उन्हें सफलता हाथ न लगी। महाराज समता-भाव की ओर अग्रसर होना तो दूर रहा, उस ओर झाँके भी नहीं। वे तो यही सोचते रहे कि निःसन्तानता उनके जीवन का सबसे बड़ा दुःख है और उसके मूल में हम हैं। वे कभी इसे देवी-देवता का प्रकोप मानते और उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार के अनुष्ठानों में लग जाते तो कभी टोनों-टोटकों की शरण लेते। इन सब मिथ्या-मार्गों में असफलता ही हाथ लगनी थी, किन्तु वे निराश न होते, नव-नवीन मार्ग पकड़ते रहते–किन्तु यह साधारण-सी बात समझने–स्वीकार करने को वो तत्पर नहीं कि कितने ही जन निःसंतान भी होते हैं और यह उनके कर्म का ही परिणाम है। अब कम-से-कम इस भव में तो अशुभ कर्मों से बचें कि 'भावी' सुरक्षित हो जाय !! मिथ्या आचरणों से वे अब भी अमंगल की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं।

दूर सरिता-तट से कुत्तों के भौंकने की ध्वनि आयी और एकाग्र मन राजरानी कल्याणवती को भी चौंका गयी। पल-दो पल के लिए उनका चित्त चिन्तनधारा से विलग हो गया, किन्तु तुरन्त ही त्वरा के साथ वह पुनः उसी चिन्तन से जुड़ गया। उनका मन कहने लगा कि सखियों के इस विचार में भी तथ्य है कि हमने महाराजश्री को नव-विवाह के लिए अनुमति देकर अच्छा नहीं किया। किन्तु हम अनुमति न देकर भी क्या करतीं। हमारे पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष ही नहीं रह गया था। हमें ऐसा करने के लिए विवश होना पड़ा था।

अन्यथा भी हमने तो स्वामी को बहुत समझाया कि प्रजा को उत्तराधिकारी देने, योग्य शासक देने के अन्य भी कुछ उपाय हो सकते हैं।

प्रजाजन से ही किसी सुयोग्य व्यक्ति का चयन किया जा सकता है। इसमें कोई आपत्तिजनक बात भी नहीं है, इतिहास में भी ऐसा होता रहा है। अपने विस्तृत कुल से किसी योग्य युवा को हम दत्तक पुत्र भी स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु स्वामी को ये सुझाव उपयुक्त नहीं लगे। उनका दुराग्रह तो अपनी संतति के प्रति ही बना रहा। वे अपने इस तर्क पर ही अटल रहे कि अपना पुत्र अपना ही होता है। राजवंश की जो सुदीर्घ परम्परा चली आ रही है; उसकी निरन्तरता तो अपने पुत्र से ही सम्भव है। वंश-विस्तार सच्चे अर्थों में उसी से सम्भव है। यह रक्त-सम्बन्ध का प्रसंग है। इस वंश में उत्पन्न उत्तराधिकारी में ही वे रक्त संस्कार होंगे, वही पूर्वजों की परम्परा और भावनाओं का निर्वाह करते हुए प्रजाजन को वात्सल्य, स्नेह, न्याय, सुख और व्यवस्था दे सकेगा। वही वंशोचित योग्य शासक सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकरण को हम बार-बार अनेक अवसरों पर प्रभावशाली भूमिका के साथ लाती रहीं, नव-नवीन तर्कों का हमने सहारा लिया। हमारा उद्देश्य यही रहा कि जो न होना है उसकी लालसा से ही महाराज मुक्त होकर सुखी हो जायें और मिथ्या विचारों और आचरणों से नये कर्म-बन्ध न करें। किन्तु वे इस बात को न छोड़ पाये कि वंश की अपनी संतति ही होनी चाहिए। राजरानी कल्याणवती को अतीत का वह क्षण भी स्मरण हो आया, जब उन्होंने एक अकाट्य तर्क प्रस्तुत कर दिया और महाराज उसे सुनकर निस्तेज हो गये। राजरानी सोचने लगी थीं कि हमने उस दिन भी स्वामी को बहुतेरा समझाया कि छोड़िये भी इस अभिलाषाओं के वन को और यथार्थ की साफ-सुथरी भूमि पर जीने का आनन्द लीजिये और उनके मुख से निकला कि अब हमारे लिए जीने का आनन्द केवल इसी में निहित है कि हमें संतान प्राप्त हो.... सारे सुखों को यह एक अभाव नष्ट कर रहा है और जब तक यह अभाव बना रहेगा–भविष्य में भी वह नष्ट करता ही रहेगा। राजरानी कल्याणवती ने सोचा कि हमने एक प्रश्न किया था तब, हमने कहा–स्वामी ! आपके कथन में सत्य मान भी लिया जाय तो यह आपकी समता-विरोधी प्रवृत्ति है। आप समता नहीं, ममता के आराधक हैं। आप अपने ही पुत्र को राजा बनाना चाहते हैं। और इसके कारण आप एक ओर तो अपना-पराया का भेदभाव अपने मन में पराकाष्ठा की सीमा तक पनपा रहे हैं और दूसरी ओर आपके मन में तीव्र लालसा है संतति-प्राप्ति के लिए । अकथनीय रूप से आप लालायित हो उठे हैं, उसके लिए कुछ भी करने को आप तत्पर हैं। यदि संतति की कामना पूर्ण भी हो गयी और इस राज्य की जनता को राजकुमारी प्राप्त हुई, तो क्या होगा? यह भी तो एक विचारणीय प्रसंग है। सन्तान पाकर

भी आप क्या अपने लक्ष्य में सफल रहेंगे? क्या आप राज्यासन को स्व-वंशोत्पन्न उत्तराधिकारी दे सकेंगे? विफलता तो तब भी बनी रहेगी। कहिये ''''तब आप क्या करेंगे? मनुष्य जब निरुत्तर हो जाता है तो मिथ्यात्व का आश्रय लेता है और कुतर्क प्रस्तुत करता है; जान-बूझकर विषयान्तरित हो जाता है। राजरानी को स्मरण आने लगा कि उनके प्रश्न को सुनकर नृपति चन्द्रसेन उत्तेजित हो उठे थे'''' रोषपूर्ण स्वर में बोले कि तब'''' तब'''' हम अन्य विवाह करेंगे'''' हम निराश नहीं होंगे। महाराज की इस अल्पज्ञता पर इस समय भी राजरानी के अधरों पर क्षीण हास उभर आया। वे सोचने लगीं कि तब हमने बड़ी सहजता के साथ स्वामी को अन्य विवाह हेतु अनुमति दे दी। हमने कहा था कि महाराजश्री ! यदि आप अन्य विवाह को सन्तान-प्राप्ति का समर्थ उपाय मानते हों तो आप इस उपाय को अपना लीजिये। हमें तो इस उपाय की सफलता में ''''आशंका है, किन्तु आपका विश्वास है तो आप इसे भी करके देख लें। आशंका'''' ? आशंका क्यों है? स्वामी ने कहा–सभी स्त्रियाँ तो तुम्हारी जैसी निपूती नहीं होतीं, तुम जैसी तो कोई-कोई स्त्री ही वंध्या होती है। तुम्हारी कोख उजड़ी हुई है तो तुमको सभी अपनी जैसी ही लगती हैं। तुमसे हमने बड़ी आशाएँ लगा रखी थीं, किन्तु तुम उनके अनुकूल नहीं निकलीं। तुम हमें एक राजपुत्र नहीं दे सकीं। कोई अन्य होती तो''''। राजरानी ने इस कटु कथन को पूर्ण न होने दिया, बीच ही में बोल उठीं और महाराज को द्वितीय विवाह के लिए उन्होंने सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी। उनके मुख पर हास था, उनके मन में कोई अवसाद नहीं उठा। वे तो समता-साधिका थीं और महाराजश्री को भी वे इसी मार्ग पर लाना चाहती थीं। यह अनुमति भी उसी प्रक्रिया का एक अंग मानकर दी गयी थी।

रात्रि के संग-संग उनकी स्मृति-यात्रा चलती रही थी। और अब भोर के होते-होते उनकी विचारधारा का प्रवाह भी विराम की ओर अग्रसर हो रहा था। उन्हें स्मरण आने लगा था कि महाराज चन्द्रसेन अपनी प्रिया रानी से अनुमति पाकर हुलसित, उल्लसित हो उठे थे। उनके मन में उमंगें अँगड़ाइयाँ लेने लगी थीं। उन्हें अपनी कामना-पूर्ति की अब समीपता अनुभव होने लगी थी और इस कारण वे उत्साहित दिखायी देने लगे थे। किन्तु मर्मज्ञा राजरानी को इस समय भी अपने स्वामी की अबोधता पर मन-ही-मन हँसी आ गयी थी और उसी की झलक उनके अधरों पर क्षीण-सी मुस्कान के रूप में फैल गयी थी। अनिद्रा के कारण शैथिल्य आ गया था। जमुहाई लेती हुई उन्होंने एक अँगड़ाई ली और उठ खड़ी हुईं। झरोखे से झाँका तो उन्होंने पाया कि पूर्व दिशा में लालिमा फैली थी और बाल अरुण उदित होकर मुस्कराने लगा था।

राजरानी के नेत्रों में भी ऐसी ही लालिमा फैली थी। धीरे-धीरे वे अपने शयन-कक्ष से बाहर हो गयीं।

× × ×

इतिहास-विश्रुत यह चम्पानगरी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण दूर-दूर तक चर्चा की विषय बनी रहती है। यहाँ के राजकुल की बड़ी यशस्वी परम्परा रही। महाराज दधिवाहन जैसे नृपति तो मानो राजकुल-कमल के लिए दिनेश ही थे। निष्ठावान शासक सदा ही प्रजा-वत्सल, न्यायशील, करुणाकरण, दानशील और धर्मप्रिय रहे हैं। महाराजा चन्द्रसेन भी अपने कुल-गौरव के अनुरूप ही योग्य और मनोज्ञ शासक थे–इस तथ्य में तो कोई सन्देह नहीं, किन्तु धर्मशीलता और धर्म-चिन्तना की गहनता उनमें उतनी नहीं रही। समता-भाव की समझ और उसका व्यवहार उनमें कुछ शिथिल ही रहा। इस अभाव की पूर्ति राजरानी की समता दृष्टि से हो जाती थी। राजरानी कल्याणवती ने अपने जीवन को समतायुक्त बना लिया था। चम्पानगरी की पटरानी होने का गौरव उन्हें प्राप्त था; किन्तु वे सदा सादा जीवन व्यतीत करती थीं। उनके रहन-सहन में न ऊपरी तड़क-भड़क रहती और न ही व्यवहार में दिखावटी बड़प्पन। 'ठसक' नाम की कोई चीज उनके व्यवहार एवं व्यक्तित्व में नहीं रही। साधारण वस्त्रों और अलंकारों का उपयोग उनकी विशेषता थी। किसी भी प्रकार की साज-सज्जा और शृंगारादि में भी उनकी विशेष रुचि नहीं थी। किसी के समक्ष वे स्वयं को अत्युच्च समझने की भूल भी नहीं करतीं और न ही किसी अन्य को वे हीन, तुच्छ, नगण्य समझतीं। उनका ऐसा सदाशय, मिष्ट, स्निग्ध व्यवहार रहता था कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति उनके वर्चस्व को स्वेच्छा से स्वीकार करते थे। सभी का हृदय राजरानी ने जीत रखा था। कोई दबदबा न बिठाने की स्थिति में भी उनका प्रभाव सब-किसी पर रहा करता था। उनकी सेवा के लिए सभी लालायित रहते, किन्तु अवसर ही नहीं के समान मिलता। अपने अनेक निजी कार्य वे स्वयं पूर्ण कर लेती थीं। किसी की सहायता अपेक्षित भी रहती, तो आदेश नहीं; वे उसके लिए अनुनय का स्वर प्रयुक्त करतीं। 'भैया', 'बहना' जैसे सम्बोधन तो वे दास-दासियों के लिए भी प्रयुक्त किया करतीं। किसी से राग नहीं, किसी से द्वेष नहीं। राजरानी की ऐसी व्यवहार-शैली से सभी उनके प्रति आदरयुक्त स्नेह-भाव रखा करते थे। समता की प्रतिमूर्ति राजरानी कल्याणवती दुराग्रहों से दूर, पूर्वाग्रहों से दूर, अनीति से दूर और कल्याण-कामना में अग्रणी थीं। वे सच्चे सर्वजन-हिताय, सर्वजन-सुखाय व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं। उनका अन्याय और अनीति के प्रति सर्वदा ही विरोध रहता था, किन्तु वह भी

मधुरता और कोमलता के साथ। अंध-विश्वासों और अंध-रूढ़ियों को वे स्वयं नहीं मानती थीं–यह तो सत्य था ही, साथ ही यह भी तथ्य था कि वे किसी अन्य को भी इसका अनुसरण नहीं करने देती थीं। उनका प्रयत्न यही रहता था कि कोई भी इस फंदे में नहीं पड़े। इस हेतु उनके उपदेश 'कान्ता-सम्मत' रूप रखते थे–अत्यन्त मृदुता के साथ वे इनके त्याग की प्रेरणा दिया करती थीं और प्रायः उन्हें इसमें सफलता भी मिला करती थी। यदि कहीं उन्हें विफलता का सामना करना पड़ा, तो वह अपने ही घर में करना पड़ा। वे अपने स्वामी को सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं कर पायीं। राजरानी कल्याणवती की निष्ठापूर्ण चेष्टा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रही, कदाचित् नरेश चन्द्रसेन महाराज की संस्कारशीलता में ही कुछ कमी थी, वे ही अपनी रूढ़मनस्कतावश राजरानी की सद्प्रेरणाओं से भी अप्रभावित रह जाते थे।

राजरानी के समस्त प्रयासों के उपरान्त भी नृपति चन्द्रसेन महाराज अपनी विषमता को त्यागकर समतायुक्त नहीं हो पाये। अपनी सन्तानहीनता के कारण दुःखी होने का मूल ही उनका विषमता का भाव था। इसी में ग्रस्त होकर महाराज टोने-टोटकों, यंत्र-मंत्र, देवी-देवताओं की मनौतियाँ आदि असार्थक और असमर्थ साधनों के भ्रम-जाल में उलझे रहते। कर्माधीन न मानकर वे परिस्थितियों को अपने वशीभूत मानना चाहते थे–यही उनकी असफलता का भी और अन्ततः दुःख का भी कारण बनता। नृपति होकर भी महाराज चन्द्रसेन विवश थे। उन्हें अपनी यही विवशता कष्टित भी करती थी और अनुपयुक्त मार्गों पर भटकाती भी रही। इसी का एक उदाहरण उनका दूसरा विवाह था।

बड़ी ही हौंस और विश्वास के साथ उन्होंने अपना हठ पूर्ण किया और नई रानी जयावती उनके रनिवास में आ गयीं। अनावश्यक कार्य तो मनुष्य को तुरन्त ही अपनी असार्थकता व अनुपयुक्तता का आभास कराकर प्रायश्चित्त के कगार पर पहुँचा देते हैं। दुराग्रही व्यक्ति अपने चित्त की इस पुकार की अनसुनी कर जाते हैं और अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने में लगे रहते हैं। महाराज का उस रात्रि का ऊहापोह, उनका मनोमंथन, उनका अन्तर्द्वन्द्व भी इसी प्रक्रिया-शृंखला की एक कड़ी के रूप में था। सत्य ही है कि नियति जिसे दुःखद परिस्थितियों में जकड़ लेना चाहती है, वह प्रथमतः उसके विवेक को ही दुर्बल कर देती है।

राजरानी कल्याणवती अभी भी सोत्साह थीं कि नरेश को समता के मार्ग पर ले आयेंगी। उनकी प्रयत्नशीलता तो निराश होना जानती ही नहीं थीं। उन्हें

सुदृढ़ विश्वास था कि वे स्वामी को समतामार्गी बनाने में एक-न-एक दिन अवश्य ही सफल होंगी। समता-भावीजन स्वयं तो सन्मार्गी होते ही हैं, इस मार्ग पर अन्य जनों को आरूढ़ करने में ही वे परहित-भावना की सफलता भी मानते हैं और लगन के साथ वे इस दिशा में प्रवृत्त रहते हैं। सफलता तो एक दिन उनकी अनुगामिनी बनकर रह जाती है। मनुष्य के उन्नयन और मानसिक जागरण का भी एक संयोग होता है। उस क्षण के आने पर ही परिवर्तन घटित हो पाता है। राजरानी को विश्वास था कि उनके स्वामी के जीवन में जागरण का वह संयोग अब अधिक दूर नहीं है। वे अपने प्रयत्न-रज्जु से नरेश को इस लक्ष्य की ओर खींचती जा रही थीं।

राजरानी ने अपना व्यावहारिक दृष्टान्त अपने स्वामी के समक्ष उपस्थित कर रखा था। उनका समतापूर्ण आचरण-व्यवहार खुलकर प्रकट हो रहा था। जयावती उनकी सपत्नी थीं, सौत थीं–यह सत्य है, किन्तु राजरानी ने उनके साथ सगी, स्नेहशीला अनुजा का सा सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। राजरानी की मृदुभाषिता, उनका निःस्वार्थ स्नेहभाव, उनकी हितैषिता ऐसी उच्च कोटि की और वास्तविक थी कि रानी जयावती तो राजरानी के प्रति समर्पिता हो गयी थीं। नरेश की वह सारी भावना ध्वस्त हो गयी कि ये दोनों पारस्परिक कलह से दुःखित होती रहेंगी। स्थिति तो यह थी कि जब तक राजरानी के पास भोर में ही रानी जयावती एक बार पहुँच न जातीं उनके मन में शान्ति व्याप्त नहीं हो पाती। प्रतिसन्ध्या राजरानी का रानी जयावती के कक्ष में आगमन सर्व निश्चित रहता था। उनका परस्पर वार्त्तालाप धर्मचर्चा का ही रहा करता। दोनों एक-दूसरे के मनोभावों से परिचित होती रहतीं। रानी जयावती को तो यह विश्वास हो गया था कि अग्रजा के रूप में राजरानी का एक सुदृढ़ सहारा उन्हें प्राप्त हो गया है। वास्तविकता का अनुभव राजरानी कल्याणवती को होता था कि हम दोनों को एक-दूसरे का सहारा है। इनके इस पवित्र स्नेह से महाराजश्री बड़े प्रभावित हुए, उन्हें अपनी पूर्व-धारणा के ध्वस्त हो जाने पर प्रसन्नता ही थी, सच्चा हर्ष था।

●●

महाराज चन्द्रसेन ने राजरानी कल्याणवती की भर्त्सना तो बहुत की थी कि रानी ने अपने राज्य को कोई उत्तराधिकारी नहीं प्रदान किया। महाराज अपनी सन्तानहीनता का सारा दोष ही राजरानी पर ही मढ़ा करते थे, जली-कटी सुनाते थे। नरेश इस अभाव के कारण अतिशय दुःखी रहा करते थे। महाराज के दुःख से राजरानी का अधीर हो जाना तो स्वाभाविक ही था, किन्तु वे उनका दुःखी होना निर्मूल, व्यर्थ मानती थीं। अबोधता के कारण महाराज चन्द्रसेन को विचलित और पीड़ित पाकर राजरानी उन्हें कान्ता-सम्मत प्रबोधन भी दिया करती थीं। वे स्वयं जाग्रत मनस्क थीं, जगत् और जीवन के समस्त सुख-दुःख उनके समक्ष 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट स्वरूप रखते थे। अतः वे न तो संतति के अभाव में कभी दुःखी रहीं और न ही स्वामी की भर्त्सना के कारण। राजरानी कल्याणवती का मन भी अपने पति के प्रति कभी मलिन नहीं हुआ। अबोधजन का विरोध भी उपेक्षणीय होता है और उनके समर्थन व प्रशंसा का भी कोई विशेष मोल नहीं माना जा सकता। महाराजा द्वारा की गयी निन्दा के कारण उनके मन में कभी कटु विचार नहीं आया। उनकी समता-साधना और सत्संग-रुचि ने उनके व्यक्तित्व को ऐसा ही ढाल लिया था।

महाराजा चन्द्रसेन पर भी अपनी पटरानी के व्यक्तित्व का सूक्ष्म प्रभाव होता अवश्य जा रहा था—चाहे वे इस प्रभाव को व्यक्त नहीं कर पा रहे थे—अपने आचरण में नहीं उतार पा रहे थे। कदाचित् इस गुह्य प्रभाव से वे स्वयं ही अनभिज्ञ भी रहे हों। आरम्भ की इस स्थिति ने भी एक आधार बनाया। राजरानी के आचरण-व्यवहार, उनके स्वभावादि पर महाराज का ध्यान जाने लगा था। जब कभी कर्म-फल का विवेचन करती हुई राजरानी इस भव के सुख-दुःखों का आधार पूर्व-भव के संचित कर्मों को बतातीं तो महाराज विचार में पड़ जाते। महाराज अपनी राजरानी की समता-भावना के, उनकी सत्संग की प्रवृत्ति के भी प्रशंसक थे, अनुसरण करना चाहे उनके वश की बात नहीं रही हो।

राजरानी कल्याणवती की समता-भावना अत्युच्च थी। वे तो सभी के लिए स्नेह की, आदर की पात्र थीं, सभी उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते थे–इसका रहस्य ही उनकी समता की भावना रही। सभी से प्रेम, सभी से स्नेह, सभी का मान-सम्मान, सभी की भावना को समझना, उसका आदर करना, किसी के मन को ठेस न पहुँचाना आदि राजरानी के अपने व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त थे। सभी का हृदय उन्होंने जीत लिया था। सेवक, सेविका को भी कभी उन्होंने झिड़का नहीं, स्नेह-भरे सम्बोधन उनके लिए भी थे। उनके सुख-दुःख में राजरानी अपना हिस्सा मानतीं। कष्ट-समस्या की घड़ी में न केवल करुणा जताना, सहानुभूति रखना; अपितु उनकी हर प्रकार से सहायता करना भी अपना धर्म मानती थीं। सदाशयता की वे साक्षात् प्रतिमा थीं। फिर भला उनका सभी के मनोराज्य पर शासन क्यों न होता। वे सभी के लिए और सभी उनके लिए थे। प्रजाजन के प्रति भी उनका मनोभाव यही रहता था। महाराज द्वारा सभी को न्याय मिले, संरक्षण और पोषण मिले–राजरानी इस दिशा में भी सदा जागरूक रहती थीं। उनकी चेष्टा सभी को सुख पहुँचाने की रहा करती थी। किसी का दुःख उनसे देखा नहीं जाता था। वे तो अपनी निःसंतानता के अभाव की पूर्ति प्रजा-वत्सलता में ही पा लेती थीं। उनकी तो असंख्य संततियाँ थीं।

महाराजा चन्द्रसेन ने अन्य विवाह तो कर लिया, किन्तु कर्मवशात् राजपुत्र की प्राप्ति नहीं हुई। इस परिस्थिति में भी महाराज तो रानी जयावती को ही दोषी ठहराने लगे। लांछना और भर्त्सना से तिलमिलाकर भी रानी जयावती मूक-मौन रह जातीं। नारी-जीवन की विवशताओं में आबद्ध वे भीतर-ही-भीतर घुटने लगीं। कुछ ही दिनों में उनका खिला-खिला रहने वाला मुखड़ा निस्तेज और हतकान्ति हो गया। उनकी सारी देह पीत होनी लगी। वे क्षीणकाय होने लगीं तो एक दिन राजरानी ने इस सबका कारण पूछा। रानी जयावती मौन रह गयीं, कोई उत्तर न दे पायीं। संकोच छोड़कर सब कुछ बता देने को जब राजरानी ने प्रेरित किया तो दीदी की सहानुभूति पाकर रानी जयावती का अश्रुओं का बाँध ही जैसे टूट गया। वे फूट-फूटकर रोने लगीं। राजरानी ने निःशब्द रहकर, मात्र कोमल स्पर्श से स्नेह जताकर ढाढ़स बँधाया। इस उपचार ने रानी जयावती को कुछ स्वस्थ किया। तब राजरानी ने स्वयं अपनी ओर से कारण प्रस्तुत करते हुए पूछा–"कहीं स्वामी तुम्हारी भर्त्सना और उपेक्षा तो नहीं करने लगे हैं–तुम्हारी संतानहीनता के कारण।" रानी जयावती अब भी मौन रहीं। उनके अश्रुपूरित नयन कुछ झुक गये। उन्होंने सकारात्मक आशय के साथ शीश डोलाया तो राजरानी राई-रत्ती बात समझ गयीं।

राजरानी ने रानी जयावती को प्रबोधन दिया–"बहिन ! ये प्रसंग विचलित होने के नहीं, विवेक को अपनाकर धैर्यपूर्वक निर्णय लेने के होते हैं। मेरी भाँति तुम भी स्वामी को सन्तान-सुख नहीं दे सकी हो–इसमें तुम्हारा-हमारा दोष कुछ भी नहीं है। यह तो स्वामी की ही नियति ऐसी है। यह सुख उनके कर्म-फल का परिणाम बन ही नहीं पा रहा है–अभी वह समय नहीं आया, अभी अशुभ कर्म-बंधन का ही निस्तारण नहीं हुआ है, शुभ फल कहाँ से प्राप्त होंगे। तुम्हें दुःखित होने की आवश्यकता नहीं। तुम भी वैसा ही करो, जैसा हमने किया। तुम्हारी भी निर्दोषता सिद्ध हो जायेगी। लोग तो ऐसे भी हैं जो अपने दोष पर भी दुःखी नहीं होते, तुम दूसरों के दोष से क्यों दुःखी होती हो। महाराज जब सज्ञान हो जायेंगे–वे दुःखी होना भी छोड़ देंगे, दूसरों पर आरोप मढ़ना भी छोड़ देंगे। बहन जयावती, परिस्थितियों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखना आरम्भ कर दो। व्यर्थ का दुःख छूट जायेगा। समता-भाव की साधना करो, सामायिक का आश्रय लो, सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

राजरानी की वाणी में वशीकरण था, जादू था। उनके थोड़े से शब्दों ने ही रानी जयावती के मन में अपार शान्ति व्याप्त कर दी थी। उनके मन में भी धर्माराधना, समता और सामायिक को अपनाने की प्रेरणा जागी। इस समय तो वह प्रसन्नवदना नयनों-ही-नयनों में आभार ज्ञापित करती हुई विदा हो गयीं। जाते-जाते उनके अधरों पर एक क्षीण मुस्कान बिखर गयी जिसने कक्ष में आलोक भर दिया। रानी जयावती के विदा हो जाने के पश्चात् भी बड़ी देर तक राजरानी अपलक नयनों से उस आलोक का आभास पाती रहीं। उन्हें संतोष था; अब रानी जयावती का इस दुःख से छुटकारा हो गया–यह सोचती हुई राजरानी स्वयं भी कुछ मुस्करा उठीं। कक्ष का उजाला द्विगुणित हो उठा। दूसरों को सुखी बनाने में जो आनन्द और संतोष मिलता है वह स्वयं के सुखी होने में भी नहीं मिलता। अपना सुख तो प्यास बढ़ाने वाली तृप्ति के समान होता है।

× × ×

चम्पानगरी की प्रजा के दुःख-सुख को जानने-समझने की आवश्यकता महाराज चन्द्रसेन ने सदा ही अनुभव की थी। उनकी मान्यता थी कि उनका सुशासन तभी सफल और धन्य होगा, जब वे एक-एक जन की कठिनाइयाँ और दुःखों को दूर कर देंगे, सभी को न्याय का संतोष देंगे, किसी के भी दमन-अत्याचार से किसी को त्रस्त नहीं होने देंगे। इसके लिए प्रजाजन के सुख-दुःख की जानकारी मिलना अत्यावश्यक है और इसके लिए अधिकारियों

द्वारा प्रस्तुत सूचनाओं और प्रजा द्वारा किये गये निवेदनों के अतिरिक्त महाराज स्वयं भी सचेष्ट रहा करते थे। वे वेश बदलकर राज्य-भर में भ्रमण करते, छद्मवेश में जन-सम्पर्क करते, लोगों का जीवन देखते, उनके वार्त्तालाप सुनते, उनसे वार्त्तालाप करते। ग्रामीण वेश धारण कर वे अपने एक विश्वस्त सेवक के साथ नगर के समीप ही बसे एक ग्राम में पहुँचे। रात्रि का समय था। ढोर-डंगर घरों के पिछवाड़े बने बाड़ों में बँधे रहते थे। पशुओं का हाल-चाल देखने की इच्छा से वे दबे पाँव एक बाड़े में घुसे। कई सारी गायें, भैंसें, बैल, बछड़े बँधे थे। ग्रामीण वेशधारी महाराज ने पाया कि पशु संतुष्ट हैं। उन्हें कोई अभाव नहीं है। महाराज के मन में भी एक संतोष व्याप गया। उसी समय उन्हें घर के भीतर से तीव्र पुरुष-स्वर सुनायी दिया। रोष भरा स्वर, प्रताड़ना भरा स्वर सुनकर महाराज ध्यान से सुनने का प्रयत्न करने लगे। अनुमान होने लगा कि यह पति-पत्नी का कलह है। समस्या क्या है? यह जानने को उनका मन उत्सुक हो उठा। वे बड़ी सावधानी से दीवार के समीप पहुँच गये। बन्द खिड़की से कान सटाकर सुनने का प्रयत्न करने लगे। पुरुष की क्रोधित वाणी और स्त्री की हिचकियाँ, रुदन का स्वर—यह प्रकट करता था कि वास्तव में यह पति-पत्नी के बीच का ही विग्रह है।

"अब मैं सहन नहीं करूँगा···· निपूती···· ! अब कितना और सहन करूँ। तू मेरे कुल को एक बेटा भी तो नहीं दे पा रही है। अब तुझे घर में नहीं रखूँगा। एक दिन भी नहीं रखूँगा। अब घर की लक्ष्मी बनकर यहाँ वही रहेगी जो इस घर को कम-से-कम एक बेटा दे सके।" पुरुष स्वर में वेदना थी, तड़प थी, आक्रोश था। महाराजा समस्या का मन-ही-मन विवेचन करते हुए कुछ विचलित हो रहे थे। उन्हें इस प्रसंग के दर्पण में जैसे अपनी ही छाया दिखायी देने लगी थी। वे विचार-मग्न हो गये। सहसा उनका ध्यान तो तब टूटा, जब स्त्री का स्वर भी उसी तीव्रता के साथ सुनाई दिया। स्त्री का कहना था कि यदि घर में बच्चे नहीं हैं तो इसमें दोष उसका नहीं है। जैसे उसका पति अपनी पहली पत्नी को दो वर्ष पूर्व घर से निकाल चुका है, वैसे वह उसे नहीं निकाल सकता। देखें तो···· निकालकर।

यह सब सुनकर पति तैश में आ गया, बोला—"बाँझ कहीं की, तेरा तो मुख देखना भी पाप है। तुझसे तो विवाह किया ही इसलिए था कि तू तो इस घर को एक बेटा दे सकेगी। तू भी बाँझ निकली। मेरे तो भाग्य ही ऐसे हैं—जो मिलती है—वही निपूती निकलती है। लेकिन मैं भी चुप नहीं रहूँगा। मैं महाराज चन्द्रसेन नहीं हूँ कि पुत्र की कामना से नया-नया ब्याह रचाता रहूँ और सैभी

स्त्रियों को पालता-पोसता रहूँ और पुत्रवान मुझे एक न बनाए''''। मैं तुझसे पिण्ड छुड़ा लूँ तो परले गाँव में नया ब्याह करूँ'''।''

''ब्याह तुम कितने ही कर लो''–पत्नी ने कहा। ''रानी जयावती के बाद महाराज ने भी दस ब्याह और कर लिये'''' क्या उनकी आशा पूरी हो गयी? क्या उनकी बारहों रानियाँ बाँझ हैं। राजकुमार क्यों नहीं आया? यह सब कर्मों के खेल हैं। तुम्हारे ही कर्मों के कारण मुझे भी यह दिन देखना पड़ता है। मेरी गोद इस कारण सूनी है कि तुम्हारे पूर्व-जन्म के कर्मों के कर्म ही ऐसे हैं कि तुम्हारे लिए पिता होने का योग नहीं बन रहा। जब अशुभ कर्म पूरे होंगे और शुभ कर्म फल देने लगेंगे तो अपने आप ही दिन फिरेंगे। अब कुविचार मन में लाकर नये अशुभ कर्म तो न बाँधो।''

इस लम्बे कथन से पति कुछ प्रभावित लगने लगा। महाराज ने बन्द खिड़की के बाहर खड़े-खड़े शान्त स्वर में सुना–''शायद तू ठीक ही कहती है प्रेमा ! पर यह ज्ञान की बातें तुझे बतायीं किसने ? तू तो अब गँवार रही नहीं'''' पहले जैसी।'' महिला-स्वर में तब महाराज ने सुना–''मैं भी एक दिन सत्संग में गयी थी। वहाँ मेरे पूछने पर राजरानी जी ने मुझे यह सब-कुछ बताया। मेरे मन में तो तब से सन्तोष-शान्ति आ गयी है। तुम्हारे ताने सुन-सुनकर तो मेरा कलेजा छलनी ही हो गया था। तभी तो मैंने राजरानी जी से उपाय पूछा था। अब तो तुम लाख बुरा-भला भी कहते हो पर मुझे कोई दुःख नहीं होता। क्या सुख, क्या दुःख–मैं तो हर हाल में एक जैसी बने रहने की विद्या सीख ली है।''

''यह तूने खूब किया, प्रेमा !'' पति ने आश्चर्य के साथ कहा–''और मुझे कुछ पता भी न चला। लेकिन बात तो तूने ठीक ही कही है। एक बाँझ हो तो हो'''' दूसरी'''' । अवश्य यह कर्मों का ही फल है। मैंने निराश होकर ही मोहिनी को घर से निकाल दिया। ठीक नहीं किया यह मैंने। उसका भी दोष कुछ न रहा होगा। तुझे भी तो सन्तान न हुई। अवश्य दोष मेरे ही कर्मों का है। वह बेचारी मोहिनी व्यर्थ ही कष्ट झेल रही है।''

''तो अब ही अपनी भूल सुधार लो, बुला लो न फिर से''''' ''हाँ-हाँ प्रेमा'' व्यग्र पति ने बीच ही में कह दिया–''बुला लूँगा उसे''''' अवश्य बुला लूँगा, पर तू यह तो बता कि मेरा कर्मों का यह अशुभ फल कब पूरा होगा? कब मुझे सुख मिलेगा? कैसे?''

''यह क्रम तो चलता रहता है। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद''' जैसे रात के बाद दिन और दिन के बाद रात, वैसे ही''''' प्रेमा ने कहा।

"अब मोहिनी को क्या पता था कि उसके जीवन में खोया हुआ सुख लौट आएगा। उसके अशुभ कर्मों से उस पर यह कष्ट आया। शुभ फलोदय होने लगा तो सारी परिस्थितियाँ ही बदल गयीं। तुम्हें अपनी भूल का आभास होने लगा।.... ऐसे ही तुम्हारा भी....."

सुनते-सुनते महाराज चन्द्रसेन अधीर और विचलित हो उठे। उनके मन में अद्‌भुत क्रान्ति होने लगी। वे वहाँ से लौट पड़े और राजभवन की ओर चल दिये। वे सोचने लगे कि व्यर्थ ही वे भी रानियों को दोष देते रहे। निःसन्तानता का मूल कारण तो मेरा कर्म-फल ही है। वास्तविकता तो यह है कि मेरे इस कर्म-दोष के कारण रानियों को पुत्र-सुख से वंचित रहना पड़ा है। मैंने व्यर्थ ही पुत्र-कामना की ममता के लाभ में समता को नहीं अपनाया। अपने व्यवहारों से मैंने नये कर्म-बंध और बना लिये हैं। समता भाव से, कष्टों और अभावों को सह लेना ही जीवन की उत्तम शैली है–महाराज चन्द्रसेन इस रहस्य को समझे तो उनका हृदय-परिवर्तन हो गया। उन्हें अपने अब तक के व्यवहारों में स्वतः ही मिथ्यात्व अनुभव होने लगा। राजभवन में जब वे पहुँचे तो रात्रि का पिछला प्रहर आरम्भ हो चुका था।

उन्हें स्मरण आने लगा कि किस प्रकार उन्होंने राजरानी कल्याणवती की भाँति ही जयावती पर भी वंध्या होने का आरोप लगाया, उन्हें भी जली-कटी वे सुनाते ही रहे। कई-कई प्रहरों तक रानी रुदन करती रहतीं और उनकी आँखें सूज जातीं। आज उन्हें अनुभव होने लगा कि अपने व्यवहार से उन्होंने अपनी दोनों राज-महिषियों को कितना संतप्त किया था। कोई पत्नी सुगमता से तो अपनी सौत का स्वागत करने को तत्पर नहीं हो जाती। जयावती ने भी सौत के होने का दुःख कम और उससे भी अधिक कष्टदायी मेरे दुर्व्यवहार को अनुभव किया होगा–तभी तो उन्होंने स्वेच्छा से ही मुझे तीसरे विवाह के लिए अनुमति दे दी होगी।

महाराज चन्द्रसेन अपने शान्त-सूने कक्ष में बैठे सोचते जा रहे थे और यही क्रम आगे-से-आगे चलता रहा। यहाँ तक कि मैंने बारह विवाह रचा लिये। आशाजनक परिणाम एक भी विवाह का नहीं निकला। किसी भी रानी ने मुझे पुत्रवान होने का गौरव नहीं दिया। वे.... वे किन्तु निर्दोष हैं। सच ही है यह–दोष किसी एक रानी में हो सकता है.... दो में हो सकता है; सभी रानियाँ तो वंध्या नहीं हो सकतीं.... नहीं हो सकती हैं। वे सभी निर्दोष हैं, उनमें कोई अभाव नहीं है। दोष तो मेरे ही पूर्व-कृत कर्मों का है। कर्मों का यह फल भोगना ही होगा। समत्व के साथ भोगना ही शुभकर होगा–यह भी सत्य

ही है। मेरे कर्म-दोष के कारण ही मेरी धर्मपत्नियों को भी व्यर्थ ही में सन्तान-सुख से दूर रहना पड़ा है। उनका वात्सल्य-भाव अतृप्त ही रह गया। दोषी वे नहीं, मैं स्वयं हूँ। व्यर्थ ही मैंने एक के बाद एक इतने विवाह रचाये। यह मेरा अविवेकपूर्ण कृत्य रहा। विवेक के आगमन पर प्रायश्चित्त भी साथ-ही-साथ आ जाता है। महाराज के मन में तीव्र अनुत्ताप भड़क उठा। अन्तर की इस अग्नि ने उन्हें तड़पा दिया। वे सहसा विचलित हो उठे। दुःखी होकर उन्होंने मन-ही-मन अपनी भूल स्वीकार की। ऐसा कर लेने पर महाराज को एक अद्‌भुत सुखानुभव होने लगा।

महाराज चन्द्रसेन का मन सन्मार्गी होने को वचनबद्ध होने लगा। उनका मन सत्संग और सामायिकी के महत्त्व को अंगीकार करने लगा। जिस परिवर्तन का बीज-वपन राजरानी कल्याणवती ने किया था, कृषक-दम्पति के संवाद ने उसे अंकुरित कर दिया। महाराज का संकल्प और लालसा उसे पल्लवित करने को उद्विग्न हो उठी थी। उन्होंने अब व्यर्थ की ममता को त्याज्य माना। पुत्रेषणा से उनकी अन्तरात्मा मुक्त होने लगी।

महाराज का चित्त इस संकल्प मात्र से प्रफुल्ल हो उठा था। ऐसा सुख तो उन्हें विगत दीर्घकाल में कभी अनुभव नहीं हुआ। उनको लगा—जैसे वे कूप की संकीर्ण परिधि से मुक्त होकर असीम सागर में संतरण करने लगे हों। अब उन्हें यह रहस्य ज्ञात होने लगा कि इतनी सपत्नियों के होते हुए भी कैसे राजरानी प्रसन्न और संतुष्ट रहती हैं? क्यों नहीं उनके मन में सौतिया डाह भड़कती है? उनका तो जैसे स्नेहीजनों का परिवार ही व्यापकतर हो गया है। यही नहीं उनसे प्रेरित होकर सभी रानियाँ भी परस्पर स्नेह और अपनत्व भरा व्यवहार ही करती हैं। लगता ही नहीं कि जैसे वे परस्पर सपत्नियाँ हों। राजरानी ने सभी को अपने ही रंग में रँग दिया है। सत्य है, विवेकशील समतानुरागीजन स्वयं ही सुख और उत्सर्ग के मार्ग पर नहीं चलते वे अपने संसर्गियों को भी उसी पथ के पथिक बना देते हैं। वे दिशा ही नहीं दिखाते गतिशील रहने की शक्ति भी देते हैं। वे तो तुम्बे के समान स्वयं भी तैरते हैं और अन्यों को भी तैरा देते हैं।

महाराज चन्द्रसेन ने भी अब राजरानी के इंगित का सच्चे मन से अनुसरण करने की ठान ली। उन्होंने निश्चय किया कि गंगतटवासी होकर वे अब कुआँ खोदकर प्यास बुझाने की दुर्बुद्धि को नहीं अपनायेंगे।

× × ×

अब नृपति चन्द्रसेन का हृदय विराट् और विशाल होता गया। सभी रानियों के प्रति उनके निर्मल हृदय का अनुराग-स्रोत प्रवाहित होने लगा। उनकी अभेद बुद्धि विकसित होकर इतनी व्यापक हो गयी कि कोई उन्हें अन्य जन लगता ही न था। सभी के प्रति उन्हें अपनत्व अनुभव होता। प्रजाजन को अपना संतति मानकर वे पुत्रहीनता का क्लेश भूल ही गये। वे तो असंख्य पुत्रों के वत्सल जनक थे। उन्होंने राजरानी कल्याणवती से समता-भावना का अभ्यास और सामायिकी की प्रक्रिया सीखी। उन्हें अब अभाव में भी जीवन के सच्चे आनन्द की अनुभूति होने लगी। सन्मार्ग का संतोष सभी अभावों को विस्मृत कर देता है और अलौकिक आनन्द का लक्ष्यगामी बनाकर वह साधक को लोक-सागर में कमलवत् निर्लिप्त कर देता है।

● ●

चम्पानगरी के नरेश बड़े सहज और बड़े उदार हो गये थे। इस परिवर्तन ने उनको चिन्तन और मननशील बना दिया; अन्तर्मुखी बना दिया था। उन्हें प्रकृति में भी सर्वत्र ही समभाव दिखायी देने लगा। वे सोचते कि मेघ आकाश में छा जाते हैं तो अपने धर्म का निर्वाह ही करते हैं। वे अपने-पराये का, या भले-बुरे का भेद नहीं करते। सभी की प्यास बुझाते हैं, सभी को तृप्त करते हैं। यही तो समभाव है। किसी से आसक्ति अथवा ममता इतनी नहीं कि दूसरे के प्रति उदासीन हो जाय अथवा किसी कामना विशेष के प्रति इतनी दृढ़ता हो जाय कि उसकी पूर्ति के लिए नीति-अनीति का ही विचार त्याग दिया जाय। इन भावनाओं के वशीभूत होकर वे समत्व-भावना के आराधक हो गये। राजरानी कल्याणवती की प्रेरणा से वे सामायिक में भी संलग्न रहने लगे। सत्संग के प्रभाव से उनकी धर्म-बुद्धि प्रबल होने लगी।

इस परिवर्तन ने महाराज चन्द्रसेन को एक आदर्श शासक के रूप में ढाल दिया। वे अब सभी के हितकामी हो गये। अब उनका यह दृष्टिकोण जाता रहा कि केवल उन लोगों के लिए ही वे कृपालु हों जो उनके मनोनुकूल हों। विरोधी के लिए वे उदार नहीं बनें। अब तो न कोई उनका समर्थक और न कोई विरोधी था। उनमें जो अभेद दृष्टि विकसित हो गयी थी उसके कारण सब कोई उन्हें अपने ही लगते थे। वे सभी के हित में लगे रहते। यह समता-भावना का ही प्रभाव था। सबसे प्रेम, सबसे सहानुभूति, सबके प्रति वत्सलता– व्यक्ति इन गुणों से अपने विरोधियों का मन भी जीत लेता है। वह अजातशत्रु बन जाता है। किसी में अपने प्रति विरोध तो व्यक्ति को तब दिखायी देता है जब वह स्वयं उस व्यक्ति के प्रति अशुभ भाव रखे। वह विरोध अपने ही विरोध की प्रतिच्छवि होती है। जब सभी अपने, तो विरोध किससे और कौन हमारा विरोधी।

महाराज को अपनी राजरानी से बड़ी गहरी सीख मिली। वे सोचते कि अकारण ही मैं उन पर कुपित होता, उनसे खिन्न रहता, उन पर व्यंग्य करता, उनका अपमान करता; किन्तु मेरे किसी भी दुर्व्यवहार की उन्होंने कभी

अनुचित प्रतिक्रिया नहीं दी। उन्होंने मेरा तो क्या, मेरी उस अनीति का भी कभी विरोध नहीं किया। गंभीर, शान्त बनी रहीं और मेरे द्वारा अहित किये जाने पर भी उनके मन में मेरे प्रति प्रत्युत्तर में कोई कुभाव नहीं आया। निराशा की स्थिति में भी वे मेरा सतत रूप से भला चाहती रहीं, मंगल मनाती रहीं। यही तो आदर्श व्यवहार है। लोक में आदर्श प्रचलित है–'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।' समता-भावना तो इस तटस्थता से भी आगे बढ़कर कहती है–'सब काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।' प्राणिमात्र के साथ मैत्री का मार्ग दिखाने वाली होती है–समता-भावना।

धीरे-धीरे समत्व के साँचे में महाराज चन्द्रसेन का सारा व्यक्तित्व ढलकर निखरने लगा। अपने अभावों को विस्मृत कर वे दूसरों के अभावों की पूर्ति में प्रवृत्त हो गये। वे सच्चे जन-सेवक शासक हो गये। उनकी राजनीति, उनके आदर्श सब कुछ-के-कुछ हो गये थे। उनकी लोभ वृत्ति का भी शमन हो गया। वे अपने राज्य की सीमा के विस्तार को भी व्यर्थ, अनीतिपूर्ण मानने लगे। इसे वे विषमता की नीति मानते। अब उन्होंने आस-पास के सभी राजा-महाराजाओं से बन्धुत्व और मैत्री के सम्बन्ध स्थापित कर लिये। पारस्परिक कलह स्वतः ही शान्त हो गया और महाराज का यश दिग्दिगंत में व्याप्त हो गया। सभी राज्य और वहाँ की जनता चम्पानगरी की जनता की मित्र और हितैषी हो गयी।

राजकोष की समृद्धि की कामना अब उन्हें नहीं रही। इस ममता से छुटकारा पाकर महाराज तो धन का अधिकाधिक सदुपयोग प्रजा की सुख-सुविधा के लिए करने लगे। विपत्तियों से मुक्त होकर सुखी जनता जब महाराज का जय-जयकार करती तो उसके प्रभावस्वरूप भी उनके मन में किसी गौरव का आभास नहीं होता।

क्या हमारे जीवन में कोई रिक्तता, कोई अभाव नहीं है? कभी-कभी ऐसा विचार उनके मन में आता अवश्य था। और वे सोचने लगते–कुमार का अभाव तो अभाव ही है। वे इस तथ्य को झुठला नहीं पाते, पुत्र-प्राप्ति की कामना उनके मन के किसी कोने में छिपी हुई अवश्य थी, किन्तु इसके प्रति आसक्ति का भाव समाप्त हो गया था। वे सोचते सन्तान न हो .... तो भी क्या है ! जो भी परिस्थितियाँ हैं उनमें रमे रहते हुए सत्कर्म में प्रवृत्त रहना ही मनुष्य का करणीय है। संतोष के साथ समभावपूर्वक जीना जो सीख जाता है, सुख स्वयं ही उसका स्वागत करने को लालायित रहता है।

महाराज चन्द्रसेन ने तो सन्तानहीनता में भी संतोष को अपना लिया, किन्तु चम्पानगरी की प्रजा बड़ी चिन्तित रहती थी। राज्य के गौरवपूर्ण इतिहास की स्मृति उनकी चिन्ता को और भी अभिवर्धित कर देती थी। यह राजकुल शूरवीर, पराक्रमी नरेशों की समृद्ध परम्परा का प्रतीक रहा है। प्रजा-वत्सलता, न्यायशीलता और दानवीरता के एक-से-एक उत्तम उदाहरण इस राजकुल की विशेषता रहे हैं। जनता मानती थी कि महाराज चन्द्रसेन तो ऐसे यशस्वी नृपेन्द्रों में अपना अनन्य स्थान रखते हैं, किन्तु भय यह है कि कहीं ये ही ऐसे अन्तिम शासक न हों। इनके साथ ही कहीं इस गरिमापूर्ण परम्परा का अवसान न हो जाय। इस कल्पना मात्र से प्रजाजन काँप उठते थे। महाराज की निस्सन्तानता की पीड़ा से सभी संत्रस्त और व्याकुल थे।

एक प्रातः महाराजश्री सामायिक से निवृत्त होकर शान्त-गम्भीर मुद्रा में राज-काज में प्रवृत्त हुए ही थे कि सहसा प्रतिहारी ने आकर कहा–"जय हो देव ! कतिपय प्रतिष्ठितजन आपश्री के दर्शनों की लालसा लिए उपस्थित हुए हैं।" महाराज कुछ अनुमान लगाने लगे कि क्या समस्या हो सकती है ! इस समय इनका आगमन किस प्रयोजन से हो सकता है ! वे विचार-मग्न ही थे कि प्रतिहारी ने पुनः कहा–"उनके लिए क्या आज्ञा है देव?" और सर झुकाए करबद्ध स्थिति में खड़ा रह गया। तभी महाराज का सहसा ध्यान भंग हुआ और बड़ी ही तत्परता के साथ उन्होंने उन सज्जनों को तत्काल वहीं बुला लाने को कहा। "महाराज की जय हो .... सदा विजय हो !"–नागरिकों ने समवेत स्वर में जय-जयकार किया। झुककर सभी ने प्रणाम किया और नतशिर, पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। महाराज चन्द्रसेन ने हाथ उठाकर सभी का स्वागत-मुस्कान के साथ अभिवादन स्वीकार किया और आसन ग्रहण करने को इंगित करते हुए सहज मधुर वाणी में सभी की कुशल पूछी, कहा– "नगरवासियो ! हमारे लिए प्रथम और महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य ही राज्य की, प्रजा की सेवा करना है। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है। आप प्रजाजन यह अवसर हमें प्रदान करते हैं, इस प्रकार हमारा भव सफल हो पाता है। हम पर आपका यह बड़ा भारी अनुग्रह है।" कहते-कहते नरेश के मुख-मण्डल पर सहसा ही स्वाभाविक आभार का भाव उतर आया।

महाराज की इस अतिशय विनयशीलता से आगंतुकों के हृदय पसीज उठे। एक वयोवृद्ध नागरिक ने कहा–"देव ! अनुग्रह की प्रतीक्षा तो सदा हमें रहती है और श्रीमानेश्वर हमें कभी भी निराश नहीं करते। आप तो उलटी गंगा बहाकर हमें लज्जित कर रहे हैं। हम भला ....।" अधीर से महाराज

चन्द्रसेन ने कथन-मध्य ही टोकते हुए कहा–"बन्धुओ ! यथार्थ तो यही है। आप और प्रकार से इसे लें तो उसमें आपका बड़प्पन ही है। हाँ, कहिये–आप भद्रजनों ने इस समय कष्ट कैसे किया? कोई संकट ..... कोई समस्या?"

"राजराजेश्वर ! आपकी सुचारू शासन-व्यवस्था में भला कोई संकट क्या होगा ! आप तो पहले से सारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को भाँप कर ही अनुकूल प्रबन्ध कर देते हैं ....." एक अनुभवी नागरिक ने कहा–"आपकी प्रजा के लिए कभी किसी प्रकार की समस्या रही ही नहीं, आज भी कोई समस्या नहीं।" महाराज कुछ जिज्ञासु हो उठे। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि एक नागरिक ने अपना कथनारंभ कर दिया–"पृथ्वीनाथ ! शासक तो मेघ के समान होता है जो तृप्ति भी देता है और शीतल छाँह भी। प्रजा के माँगने पर भी जो न दे वह दुष्ट है, माँगने पर ही दे वह दंभी और प्रशंसा का भूखा है और जो राजा बिना माँगे ही, आवश्यकता की पूर्ति करता चलता है उसका सिंहासन जनता के हृदय में होता है। आप तो श्रीमानेश्वर ! हमारे चित्त में बसे हैं, हमारी अभिलाषाएँ आपसे छिपी नहीं रहतीं और आपकी उदारता उन्हें पूर्ण करने में कोई आगा-पीछा भी नहीं करती। स्वर्णनगरी आप जैसा शासक पाकर धन्य-धन्य हो उठी है ! आप शतायु रहें !"

महाराज चन्द्रसेन प्रजा के संतोष और सुख से अवगत होकर प्रसन्न हो उठे। मन्द मुस्कान उनके अधरों पर थिरकने लगी। तभी एक अन्य प्रभावशाली सज्जन कहने लगे–"यह सत्य ही है राजन् ! आप सुयोग्य, न्यायशील, उदार और प्रजा-वत्सल नृपति हैं। प्रजा जब सदाचार का तप करती है, तभी उसे जनहितकारी शासन-व्यवस्था मिलती है। सर्वजन-हिताय और लोक-मंगलकारी शासन जनता की निष्ठा और शुद्धाचरण का ही परिणाम होता है। हमें गर्व है कि हमारा तप भी सार्थक हुआ। स्वर्णनगरी की भव्य और दिव्य शासक-परम्परा के योग्य ही आपश्री ने स्वयं को भी सिद्ध किया है। किन्तु .... ।"

महाराज उत्सुकता के साथ, दत्तचित्त होकर सुनते चले जा रहे थे। उक्त नागरिक के सहसा विराम से वे हठात् चौंक पड़े–जैसे ... जैसे कोई सरस संगीत-प्रवाह अवरुद्ध हो गया हो। उन्होंने प्रश्न किया–"किन्तु क्या बन्धु? आप रुक क्यों गये? कहिये–क्या कहना चाहते हैं?"

नरेश का कोमल उत्साह-वर्धन पाकर सज्जन ने कथन को अग्रसर करने का साहस जुटाया। बोले–"किन्तु महाराज ! वर्तमान पर संतुष्ट होकर बैठ रहने वालों को भविष्य की उज्ज्वलता कहाँ मिल पाती है ! जिनके चरण

वर्तमान की धरती पर चलें, किन्तु हाथ भविष्य की ओर ललकते हों–वे ही उत्तम कल का निर्माण स्वयं कर सकते हैं। हमारी सारी चिन्ता और सोच आने वाले कल से सम्बद्ध है। कैसे राजवंश की इस यशस्वी और समृद्ध परम्परा का आगे निर्वाह होगा। चम्पानगरी को कल भी ऐसा ही शासक मिलेगा–यह आशा धूमिल होती जा रही है। यह शुभ संकेत नहीं है महाराजश्री !'''' सर्वथा नहीं है। आपकी इस कीर्ति और प्रजा के इस सुख को बनाये रखने वाला तो कोई इसी वंश का दीपक हो सकेगा। राजवंशोत्पन्न उत्तराधिकारी को ही आत्म-गौरव का भान हो सकता है, वही उस गौरव की रक्षा हेतु स्वयं को समर्पित कर सकता है। शासक तो सर्व-सुख-साधनों का नियन्ता होता है, उसके सुख में क्या कमी हो सकती है। किन्तु जनता के सुख में ही सुखानुभव करने वाला सच्चा शासक होता है। आपके शासन के पश्चात् भी ऐसा ही शासक स्वर्णनगरी को प्राप्त हो–यह हमारी हार्दिक भावना है। आपश्री के लिए ऐसे योग्य, सद्लक्षण उत्तराधिकारी का सुयोग बने, चम्पानगरी को एक राजकुमार का सुख सुलभ हो तो कितना अच्छा हो ! हम चिर-आकांक्षित हैं प्रभो ! नियति हम पर कृपालु हो और हमारे सुखदाता नृपति को पुत्र-रत्न का वरदान प्राप्त हो। हम सभी नागरिकजन इसी भावना के साथ इस समय उपस्थित हुए हैं।''

कथन समाप्त हो गया और कक्ष में कुछ क्षणों के लिए मौन छा गया। महीप चन्द्रसेन भी मौन ही रह गये। गम्भीरता का गहन आच्छादन वातावरण पर ऐसा छाया कि सभी अन्तर्मुखी हो गये। स्वयं को अपने भीतर से मुक्त करते हुए राजन् कुछ मुस्कराये और एक ठंडी साँस छोड़ते हुए कहने लगे–''बन्धुओ, आपकी यह सद्भावना व्यापक हिताय है–स्वार्थ की रंच मात्र झलक भी इसमें दृष्टिगत नहीं होती। हम आपके इस आचरण से बड़े प्रसन्न हुए। पुत्रेषणा से शून्य तो हमारा मन भी नहीं। हमें यह संतोष भी है कि हम सन्ततिविहीन नहीं हैं। प्रजा ही एक राजा के लिए सन्तति हुआ करती है। हमें तो इस रूप में अनेक सुपुत्र मिले हुए हैं। हाँ, व्यक्तिगत अर्थ में हम पुत्रहीन भी हैं। पुत्र-प्राप्ति की कामना हमें भी रही है–इसमें कोई संदेह नहीं। यह तो पितृ-ऋण है–इससे भला कौन उऋण नहीं होना चाहता। किन्तु भाई मेरे ! केवल चाहने मात्र से क्या होता है ! होता तो वही है जो पूर्व-निर्धारित है। यह पूर्व-निर्धारण हमारे कर्म-फल के अनुरूप ही होता है। इस भव में तो हम केवल फल भोगते हैं, उन कर्मों का–जिनका बंध हम पूर्व-भव में कर चुके हैं। हमारी निस्सन्तानता कर्म-बंध का ही फल है। इस फल को शुद्ध भावना से भोगना ही एक विवेकपूर्ण मार्ग है और हम उसी का अनुसरण कर रहे हैं।

इस फल का भोग करते समय यदि असहिष्णुता या अशुद्ध भाव आ जाय तो कर्मक्षय के स्थान पर नवीन अशुभ कर्म बँध जाते हैं। यह धर्म का मार्ग नहीं है।" महाराज चन्द्रसेन ने अत्यन्त शालीनता के साथ अपना मंतव्य प्रस्तुत कर दिया और अपार मानसिक शान्ति का अनुभव करने लगे। उन्होंने उपस्थितजन को सम्बोधित करते हुए कहा–"हम तो धर्म के कर्म को समझकर कर्म-फल को शुद्धाचरण के साथ भोग रहे हैं–इसी से कर्मक्षय हो, राजपुत्र की प्राप्ति के आसार बनें तो आपकी भावना सफल होगी। शुद्ध अन्तःकरण से की गयी कामना फलवती अवश्य होती है। आपको आशावान रहना चाहिये। हम तो निष्काम भाव से अपने करणीय में ही प्रवृत्त रहते हैं।" इतना कहकर नरेश गंभीर शान्ति के साथ मौन हो गये। महाराज के उद्‌बोधन ने जन-प्रतिनिधियों को आशान्वित कर दिया। वे उत्साह के साथ, प्रणामपूर्वक विदा हो गये।

इस वैभवयुक्त कक्ष में पुनः सन्नाटा हो गया, किन्तु नरेश का मन और अधिक उद्वेलित हो उठा। उन्होंने सप्रयास अपनी इस क्षणिक चंचलता को शान्त किया और आश्वस्त होकर संकल्प किया कि हम पुत्रेषणा के वशीभूत नहीं रहेंगे। हमारे मन में ऐसी कामना ही कभी उठ नहीं सकेगी और इस प्रयोजन से कोई अविवेकपूर्ण मार्ग तो हम कभी नहीं अपनाएँगे। संकल्प ने उनकी आत्मा को निश्चिन्त किया, एक नवीन पुनर्बलन की प्राप्ति हुई। वे कर्त्तव्य-पालन की नव-स्फूर्ति के साथ राज-काज में जुट गये।

कुछ कालोपरान्त जन-प्रतिनिधियों की यह भेंट लगभग विस्मृत ही हो गयी। नरेश को अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए जो मार्ग मिल गया था वे उसी का अनुसरण करते रहे। सामायिक की साधना द्वारा वे आत्मालोचना करते, दोषों को दूर करते रहते, नवकार महामंत्र जाप द्वारा मनोबल बढ़ाते रहते और जीवन व जगत् के समस्त कार्य समत्व की भावना के साथ सम्पन्न करते रहते। व्यक्ति जब सन्मार्गी हो जाता है और इस मार्ग पर बने रहने की प्रबल आन्तरिक प्रेरणा जाग्रत रहती है तो बाह्य वातावरण भी उसकी सहायता ही करता है। उसे सभी दिशाओं से सहकार मिलने लगता है। हाँ, उसके धैर्य की परीक्षा भी कम नहीं होती।

एक सुहावनी सन्ध्या में नृपति चन्द्रसेन महाराज अपने राजभवन के अन्तः उद्यान में बैठे विश्राम कर रहे थे। शीतल-मन्द-सुगंधित पवन दिन-भर की थकान को कुछ दूर करने लगी थी। उनके मनःचक्षुओं के समक्ष आज के राज-काज का कार्य-कलाप चलचित्र की भाँति आ उपस्थित हुआ। वे तटस्थ

मन से अपने ही कार्यों की स्वयं समीक्षा करने लगे थे। तभी "जय हो देव !" की ध्वनि से वे सहसा चौंक पड़े। देखा–समक्ष ही वृद्ध महामात्य करबद्ध स्थिति में उपस्थित थे। महाराज इस समय भी कोई अनुमान नहीं लगा पाये कि प्रयोजन क्या हो सकता है ! किन्तु इस सहसा उपस्थिति से वे आश्चर्यचकित भी नहीं हुए। उन्होंने सहज स्वर में प्रश्न किया–"महामात्य ! इस समय क्या कोई अनिवार्यता आ पड़ी ? कैसे कष्ट किया ?"

महाराजश्री की असाधारण विनय ने उनमें एक संकोच जाग्रत कर दिया। द्विगुणित विनय के साथ, सकुचाते हुए ही महामात्य ने उत्तर में निवेदन किया, "अनिवार्यता नहीं श्रीमानेश्वर, कोई अनिवार्यता नहीं। आकस्मिक आई किसी परिस्थिति का भी कोई कारण नहीं। यह सेवक तो एक सर्वविदित और सुस्थापित तथ्यात्मक परिस्थिति के कारण इस समय उपस्थित हुआ है। आज्ञा हो तो निवेदन करूँ ?" वृद्ध महामात्य पुनः ससंकोच सिर झुकाकर मौन, करबद्ध खड़े रह गये।

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं–अवश्य ···· ।" भूपेश चन्द्रसेन ने साहस बढ़ाते हुए कहा–"कहिये महामात्य जी, आप क्या कहना चाहते हैं ? निस्संकोच कह दीजिये।"

"श्रीमानेश्वर, इस दास की पीढ़ियाँ राजकुल की सेवा में रही हैं। मेरे रक्त में जन्म से ही संस्कारों के समान आपके कुल का लवण घुला हुआ है। विगत पचास वर्षों से, बड़े महाराज के समय से ही मैं स्वयं भी राज्य की सेवा करता चला आ रहा हूँ। राज्य और राज्य की जनता के लिए, राजकुल के लिए और उसके इतिहास-ख्यात गौरव के लिए मंगल-कामना करना मेरा स्वाभाविक धर्म हो चुका है, महाराज ! जहाँ तक मुझे स्मरण है और इतिहास का ज्ञान मुझे है इस राजवंश में कभी दत्तक पुत्र अपनाने की परिस्थिति नहीं आयी। और यही कारण है कि एक के बाद एक पीढ़ी में वे भव्य संस्कार उतरते चले गये, सुदृढ़ और प्रखर होते चले गये हैं। इस राजकुल की कुछ अपनी विशिष्ट मर्यादाएँ और आचरण-पद्धतियाँ रही हैं। इसकी अपनी कीर्ति रही है। रक्त सम्बन्ध के कारण ही यह गौरव उत्तरोत्तर पीढ़ी-अनुपीढ़ी निरन्तर विकसित होता रहा है श्रीमान् !"

"आप उचित ही कथन कर रहे हैं महामात्य जी !" महाराजश्री ने औचित्य-अनुभव को व्यक्त करते हुए कहा–"हम भी अपने प्रयत्नों में कोई अभाव नहीं आने देंगे। कुल की मर्यादा और गौरव की पताका को हम भी झुकने नहीं देंगे। यदि नियति ने साथ दिया तो हम इन यशस्वी परम्पराओं को

और भी प्रबल बनाने में समर्थ रह सकेंगे। आपकी मंगल-कामनाएँ हमारा मार्ग प्रशस्त ही करेंगी।" आत्म-विश्वास की दिव्याभा से महाराज का मुख-मण्डल दमक उठा।

आगत अनुकूल स्थिति का लाभ उठाते हुए महामात्य ने भी त्वरा के साथ निवेदन अग्रसर किया–"जी श्रीमान्, यह सत्य है जल की तरलता की भाँति सौ प्रतिशत सत्य है कि आपश्री के आचरण और विचारों ने, आदर्शों और व्यवहार पद्धतियों ने कुल की परम्पराओं को और भी उज्ज्वल, प्रबल और युगानुरूप बना दिया। आप-सा उदार और न्यायप्रिय शासक पाकर ही हम शासन-व्यवस्था से जुड़े अधिकारीगण भी कर्त्तव्य-पालन का संतोष अनुभव कर पा रहे हैं। यही अनुभव हमारी सेवा को सार्थक बना पा रहा है। हमें इसी से संतोषानुभूति हो रही है। चिन्ता तो इस प्रश्न से है कि आगे क्या होगा, देव !"

"यह चिन्ता का विषय है ही नहीं महामात्य !" महाराज ने शान्त-गंभीर वाणी में कहा–"यह चिन्ता का विषय नहीं। काल तो अपने सहज प्रवाह से चलता रहता है–चलता रहेगा और यथासमय सर्वघटनीय घटित होते रहेंगे। हमारा धर्म तो वर्तमान परिस्थितियों को सुन्दर बनाए रखने में योगदान करना है। वह हम करते रहें–बस !"

"मान्यवर, सर्वथा सत्य है यह, जो आपने बताया, किन्तु भविष्य को मंगलमय बनाने की कामना भी तो मनुष्य में सहज ही रहती है। हम रहें न रहें–यह चम्पानगरी रहेगी, यह राज्य-पताका रहेगी–और ऊँची ही रहेगी। इस राज्य की प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा में बढ़ोत्तरी ही होगी श्रीमान् ! हम यह मानकर चलते हैं, किन्तु यह सब राजकुलोत्पन्न उत्तराधिकारी से ही संभव हो सकेगा। वे ही, राजकुमार ही तो वंश-वल्लरी को प्रसारित कर पाएँगे। यों शासन तो फिर भी चलेगा, किन्तु यथेष्ट गौरव तो वंशीय उत्तराधिकारी द्वारा ही बढ़ पायेगा–यह समस्त राजकरण की सम्मति और भावना है। क्या ही अच्छा हो इस राज्य को ऐसा भावी नरेश मिले जो इसी वंश का हो !"

"हम तो महामात्य जी अब कुछ अन्य ही प्रकार से सोचने लगे हैं।" महाराज चन्द्रसेन ने कहा–"हमारे मन में अब ममता के लिए कोई स्थान नहीं रहा। उसका स्थान समता ने ले लिया है। अपना-पराया कुछ भी नहीं है, यह भेद ही अब कोई अस्तित्व नहीं रखता। अपना ही उत्तराधिकारी हो–यह सोचना ममता है। हम तो समत्व-साधक हैं। ऐसे आग्रह अब हमारे लिए समाप्त हो गये हैं। हमने इन परिधियों को पार कर विराट् में प्रवेश कर लिया

है, अभेद जहाँ की विशेषता है। कोई लगाव नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। तथापि आप लोगों की कामना निरर्थक नहीं जायेगी–ऐसा हमारा विश्वास है। नियति हमारे कर्मानुसार ही चलती है। हमारा मन एक दर्पण है जिसमें उत्पन्न कामनाएँ कर्म-फल की ही छवियाँ हैं। शुद्ध मनोकामनाएँ ऐसी ही होती हैं। यदि यह कामना आप बंधुजनों के मन में आयी है तो यह भी भावी शुभ का एक पूर्व संकेत है। हमें आशान्वित होना ही चाहिये। आप निश्चिन्त रहिये।"

नवीन उत्साह के साथ जब महामात्य भी लौट गये तो महाराज का मन पुनः सक्रिय हो गया। वे सोचने लगे कि जब सभी दिशाओं से यह एक ही स्वर आ रहा है तो इसकी महत्ता को नकारा तो नहीं जा सकता। उनका समताधीन हृदय भी सन्तान-प्राप्ति के प्रश्न पर तटस्थ भाव से पुनः चिन्तन करने लगा। राजरानी की प्रेरणा से उनका अन्तःकरण ममताओं और दुराग्रहों से तो मुक्त हो चुका था, किन्तु वे इसी प्रवृत्ति के साथ जन-भावना पर विचार करने लगे। एक दीर्घ मनोमंथन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पुत्राभाव के लिए वे विषाद और चिन्ता से ग्रस्त तो कदापि नहीं रहेंगे, किन्तु यदि इस प्रयोजन से कोई सद्प्रयत्न सम्भव हों तो उनसे भी विमुख नहीं रहेंगे। इस निश्चय ने शान्तिदायक भूमिका निभाई।

× × ×

भोर की शीतल बयार ने महाराज चन्द्रसेन के तन-मन को अपूर्व शान्ति प्रदान की। वे उत्फुल्ल मन के साथ शुद्ध भावनाओं का चिन्तन करते हुए विचरण कर रहे थे। वे तड़के ही नगर-बाह्य क्षेत्र में उन्मुक्त वायु सेवन के प्रयोजन से चले गये थे। रात्रि में हुई वर्षा ने सर्वत्र एक मादक परिवेश निर्मित कर दिया था। नगर-समीप की कृषक बस्तियाँ भी धुली-धुली-सी बड़ी सुन्दर लग रही थीं। नगर से काफी दूर निकल जाने पर महाराज को लगा, उन्हें अब राजभवन को लौट चलना चाहिये। सामायिक की आन्तरिक प्रेरणा भी प्रबल होने लगी। वे मार्ग पर चलते-चलते पलटकर कुछ ही बढ़े थे कि उन्हें सामने से आता हुआ एक कृषक दिखायी दिया। बैलों की जोड़ी को हाँकता वह उत्साहपूर्वक चला आ रहा था। उसके पीछे-पीछे उसका युवा-पुत्र भी चला आ रहा था जिसके कंधे पर हल था। महाराज का अनुमान सत्य ही था कि कृषक अब वर्षा हो जाने के कारण बुवाई के लिए अपने खेतों पर जा रहा है। इस कल्पना से ही उनका मन हर्षित हो उठा। वे अन्तर्लीन से हो गये। सोचने लगे–धरती माता कितनी उदार है। अपनी सन्तति के पोषण के लिए अन्न-दान में कभी वह कृपणता या संकोच नहीं करती। किन्तु .... किन्तु धरती का यह

वरदान भी उद्यम के बल पर फलदायी बनाया जा सकता है। धन्य हैं हमारे कृषक बन्धु जो उद्यम और परिश्रम कर धरती का यह स्नेह सभी प्राणियों के लिए सुलभ कर देते हैं। प्रशंसा भावना के साथ, सामने से आते कृषक की ओर जब उन्होंने ताका तो सहसा वे आश्चर्य में पड़ गये। यह क्या? कृषक तो पलटकर अपने घर की ओर चल पड़ा। ऐसा····· ऐसा क्यों? अपने खेतों पर जाने का विचार उसने त्याग क्यों दिया? नरेश विचार में पड़ गये। उन्होंने अपने अनुचर को इस कृषक का पता लगाने का आदेश दिया और स्वयं त्वरा के साथ राजभवन लौट गये।

सामायिक से निवृत्त होकर महाराज अपने कक्ष से प्रस्थान करने ही वाले थे कि अनुचर ने उन्हें सूचना दी। वह उस किसान को राजभवन ले आया था। महाराज का मन सामायिक के उपरान्त भी आज असामान्यतः अशान्त था। साधना में भी उनका मन सदा के जैसा रम नहीं पाया था। उन्हें देखकर किसान लौट क्यों पड़ा? यही प्रश्न उनके अन्तर में घुमड़ता रहा। कृषक के उपस्थित हो जाने पर वे सीधे यही प्रश्न करना भी चाहते थे, किन्तु कृषक की आकुल-व्याकुल स्थिति को भाँपकर वे सदय हो उठे। उन्होंने कोमलता के साथ ही आरम्भ किया। पूछा–"भाई, नाम क्या है तुम्हारा?"

"जी, किसनू; महाराज ! किसनू नाम है मेरा, घीसा का किसनू।"

"घीसा जी नाम रहा तुम्हारे पिता का?"

"जी महाराज !" किसनू ने काँपते हुए कहा।

"अच्छा-अच्छा !! कितने बेटे हैं तुम्हारे?"

"जीता रहे महाराज, मुझे तो एक ही बेटा मिला है।"

"वही न ! जो आज सवेरे भी तुम्हारे साथ था।"

"जी हाँ, स्वामी ! वही मेरा बेटा···· गोपाल।"

"अच्छा···· गोपाल है नाम उसका। बढ़ा परिश्रमी और सुशील लगता है गोपाल तुम्हारा।"

"आपका आशीर्वाद है पृथ्वीनाथ ! बड़ा सेवाभावी है।"

"अच्छा एक बात तो बताओ, भैया किसनू ! आज सवेरे तुम जब मार्ग में मिले तो तुम खेतों पर ही जा रहे थे ना?"

"जी महाराज ! जा तो रहा था, खेतों पर ही जाना था।"

"वर्षा हो गयी है। बुवाई की बेला आ गयी है·····।"

"जी महाराज, जी, बुवाई के लिए अच्छा समय आ गया है। सभी किसान बीज डालने की सोचने लगे हैं।"

"किसनू, तुम फिर बीच मार्ग में से ही फिर लौट क्यों गये? तुमने बुवाई क्यों नहीं की?"

कृषक किसनू बेचारा असमंजस की स्थिति में पड़ गया। क्या उत्तर देता ! जो तथ्य था–उसे प्रकट कर नहीं पा रहा था ! और कोई उत्तर भी नहीं सूझ पा रहा था। वह मूक-मौन खड़ा ही रह गया। महाराज तो वास्तविकता जानने को उत्सुक थे। भाँति-भाँति से उन्होंने उसे प्रेरित किया कि वह स्थिति जैसी भी है–व्यक्त कर दे। आध्यात्मिक अनुराग की जो भावना उनके मन में विकसित हो गयी थी, उसने तो उनका काया-पलट ही कर दिया था। रोष और कोप तो रंचमात्र भी उनमें शेष नहीं रहा। स्नेह और करुणा उनके व्यवहार के प्रमुख सोपान हो गये थे। अतिशय स्नेह पाकर व्यक्ति अपनी भूमिका को न निभाने के हठ से डिग ही जाता है। यह अन्य बात है कि बाह्य परिस्थितियाँ उसे उचित रूप में भूमिका न निभाने दें। किन्तु वह निष्क्रिय नहीं रह पाता। महाराज के बार-बार प्रोत्साहनपूर्ण आग्रह से किसनू भी विवश हो गया। उसे कोई उत्तर तो देना ही पड़ेगा–ऐसा सोचकर उसने कहा–"क्या निवेदन करूँ महाराज ! मुझे किसी कारण से ही लौट जाना पड़ा। कुछ बात ही ऐसी हो गयी थी।"

"क्या बात हो गयी थी?"

"महाराज ! मूर्खता थी मेरी। बुवाई के लिए घर से निकला था और बीज की पोटली तो घर ही छोड़ आया। लौटना ही पड़ा।"–यह कहते हुए किसनू ने जो कृत्रिम फीकी मुस्कान अपने अधरों पर चुपड़ दी थी–महाराज को उससे संदेह हो गया कि कृषक ने वास्तविकता प्रकट की ही नहीं है। यह कारण नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होता भी तो वह अपने युवा-पुत्र को घर भेज सकता था। त्वरित बुद्धि के साथ किसनू को महाराज ने पूछा–"तो तुम फिर से खेत पर नहीं गये–ऐसा क्यों हुआ? हमारा कर्मचारी बताता है तुम तो हल को कोने में रखकर, बैलों को खूँटे पर बाँधकर, हाथ माथे पर लगाकर उदास बैठ गये थे। कारण बीज वाला नहीं, कोई अन्य ही रहा है। तुम छिपा क्यों रहे हो? निर्भय होकर वही कह दो जो सत्य है।"

"आप तो शासक हैं महाराज ! राजा हैं, और राजा भगवान का ही अवतार होता है। आपसे सत्य छिपाना ठीक नहीं, किन्तु महापुरुषों का आदर

भी तो रखना होता है। इस कारण मैं सत्य प्रकट करने में सकुचा रहा था।" किसनू कहते-कहते सहसा मौन हो गया। नरेश अपने पैरों के समीप दृष्टि गड़ाए शान्त बैठे रहे। किसनू के कथन के रुकने पर एक बार उनकी दृष्टि उसकी ओर उठी अवश्य थी। इससे उत्साहित होकर कृषक आगे कहने लगा–"खेती के काम-काज में बुवाई का बड़ा महत्त्व है महाराज ! बुवाई से ही तो अच्छी निपज की आशा बँधती है। इसी में यदि अपशकुनी हो जाय तो फिर आशा कैसी ! मैं तो इसी कारण घर लौट गया। सोचा, अब इस वर्ष मुझे खेती में लाभ नहीं मिल सकेगा। मैं तो अब अपने परिवार सहित अन्य लोगों के खेतों में काम करके ही पेट पाल लूँगा–इस वर्ष मेरा खेत खाली ही रह जाय तो अच्छा। साल-भर प्रयत्न करके भी घर में अन्न नहीं ला पाऊँ तो उस खेती का अर्थ ही क्या?"

महाराज सिर नीचा किये अब भी ध्यान से उसकी बात को हृदयंगम करते चले जा रहे थे। उन्होंने मस्तक उठाया और प्रश्न किया–"किसनू ! आखिर अपशकुनी क्या हो गई भाई कि तुमको इतना बड़ा निर्णय लेने को विवश कर दिया था। पूरी बात बताओ।"

"आप तो सदा ही सुदर्शी हैं महाराज ! आपके दर्शन किन्तु आज भोर में हो गये, जब में बुवाई के लिए जा रहा था–वह अशुभ ही था श्रीमान् ! ऐसे अवसर पर किसी निपूते का सामने आ जाना मांगलिक नहीं होता न महाराज ! आपसे कहते हुए संकोच तो होता है, पर वास्तविकता यही है मान्यवर ! इस काम में जोखिम उठाना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।"

निरीह किसनू के इन शब्दों ने बाणों की भाँति महाराज के अन्तस्थल पर प्रहार किया। वे तिलमिला उठे, किन्तु उन्होंने अपने अशुभ भावों पर शीघ्र ही नियंत्रण पा लिया। अपनी पीड़ा का संवरण करते हुए उन्होंने किसनू को प्रबोधन दिया–"भाई मेरे ! तुम शकुन-अपशकुन के अंध-विश्वासों में न पड़ा करो। सफलता का आधार तो पुरुषार्थ ही है। जब तुम कर्म ही न करोगे तो फल मिलेगा कहाँ से। अपशकुन से तुम्हें आशंका ही हुई कि कदाचित् अच्छी फसल न मिले। पर अब तो फसल के बिलकुल न मिलने का पक्का निश्चय हो गया। यह तुमने अच्छा नहीं किया। तुम्हारे विचारों में कारण और कल्पित परिणाम के बीच कोई तालमेल नहीं दिखायी देता। फिर भी मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छा के विपरीत कोई काम करने को विवश नहीं करूँगा। न करो खेती इस वर्ष, ऐसा करो हमारे अन्न-भण्डार से तुम अपने परिवार के लिए वर्ष-भर की

आवश्यकता का अन्न ले जाओ। मंगल हो तुम्हारा ! कल्याण हो !!" महाराज ने हाथ उठाते हुए शुभ कामनाएँ कीं और मौन हो गये।

किसनू के मन में तो इस निर्णय से भारी क्रान्ति मच गयी। यह क्या हो गया ! अपशकुन का यह कैसा परिणाम ! अपनी मानसिक उथल-पुथल से निकलते हुए उसने निवेदन किया–"नहीं महाराज ! नहीं–मैं अन्न नहीं लूँगा। स्वयं पुरुषार्थ करूँगा। जिस अन्न के वर्ष-भर बाद मुझे नहीं मिलने की आशंका थी–वह तो मुझे आज ही मिल रहा है–फिर कैसा अपशकुन और कैसा उसका दुष्परिणाम ! आपने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मैं कभी भी ऐसे अंध-विश्वासों में नहीं पड़ूँगा महाराज ! मैं कल ही भोर में बुवाई करता हूँ।" किसनू ने सोत्साह कहा। महाराज के अधरों पर विजय-मुस्कान थिरक उठी। स्वयं सन्मार्गी बने रहने से तो संतोष की अनुभूति होती है, अन्य जनों को सन्मार्ग पर लाने में जो प्रसन्नता होती है उसकी समकक्षता अन्य किसी सुख से नहीं हो पाती। वही पर-हितैषियों का सच्चा सुख है। महाराज इसी सुख में निमग्न होते हुए विनोद में कह उठे–"कल तो बीज की पोटली घर भूलकर न जाओगे।"

किसनू हँस पड़ा–"नहीं···· महाराज ! नहीं। किन्तु आप तो कल इसी प्रकार मुझे मार्ग में मिल जायेंगे न !" दो विमल हृदयों के उज्ज्वल हास से कक्ष मानो जगमगा उठा।

●●

समता-साधक नरेश चन्द्रसेन तो सर्वथा ममताविहीन हो गये थे। ममता से कामना और कामना से अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त के रक्षण की चिन्ता जन्म लेती है। महाराज तो निश्चिन्त होकर शुभ भावनाओं को अपनाने और सुकर्म करने के अभ्यासी हो गये थे। उनके लिए अपना जीवन न सम्पन्न था और न ही विपन्न। उनके लिए अभाव की अनुभूति भी विगत की वस्तुत हो गयी थी। पुत्रेषण का चिह्न भी उनके मन के किसी भाग में शेष नहीं बचा था, किन्तु वे अपने राज्य, अपनी प्रजा की खिन्नता, उदासी, चिन्ता से भी कैसे अप्रभावित रहते। वे विरक्त नहीं, संसारी थे और लोकधर्म की पूर्ति को वे अपना दायित्व मानते थे। नरेश थे–अपनी प्रजा को सुखी और संतुष्ट रखना उनका धर्म था। इससे विमुख होना वे उपयुक्त नहीं मानते थे। उन्होंने शुभ कर्मों के मार्ग को दृढ़तापूर्वक अपना लिया–यह उनके लिए एक मांगलिक शुभ संकेत अवश्य था, किन्तु उन्हें आश्वस्तता नहीं थी कि प्रजाजन की हार्दिक मनोकामना पूर्ण ही होकर रहेगी। अस्तु उन्होंने देव के आह्वान का निश्चय किया।

उपर्युक्त प्रयोजन से भूपति ने तेले की तपस्या करने की ठान ली थी, किन्तु उनका प्रबुद्ध और सतर्क मन स्वयं ही इस तपस्या-धारणा पर औचित्य का प्रश्न-चिह्न भी अंकित कर दिया करता। तप का साधन कितना ही प्रबल होते हुए भी क्या वह इस प्रयोजन से अनुपयुक्त नहीं ठहरता? वे सोचते कि तप तो आध्यामिक साधन है, जिसका परिणाम आत्मिक शुद्धि के रूप में ही फलित होता है। जागतिक अभिलाषाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु तप किया जाय–यह अमर्यादापूर्ण और अनीतियुक्त है। जब तेले की तपस्या देवता के आह्वान के लिए की जाय और ऐसा आह्वान यह ज्ञात करने के प्रयोजन से किया जाय कि राजकुल के लिए युवराज की प्राप्ति का योग है, अथवा नहीं–तो इसमें लोकेषणा ही है, आत्म-शुद्धि का लक्ष्य नहीं है। यह मलिन प्रयोजन एक समर्थ साधन को भी लांछित ही करेगा। तभी उन्हीं के मन का कोई अन्य रूप अपना तर्क प्रस्तुत करता–हमें हमारी इच्छा-पूर्ति के लिए संतति की अपेक्षा है ही कहाँ ! हमारे तप के पीछे तो प्रबल जनेच्छा और लोकहित की

भावना ही निहित है। उद्देश्य की यह विराटता उसे मलिन नहीं होने देगी। हमारा प्रयोजन तो सर्वजन-हिताय है, सर्वजन-सुखाय है, स्वार्थ की संकीर्णता उसमें नहीं है। यह भी सत्य ही है कि तप परलोक के लिए होना चाहिए, इहलोक के लिए नहीं। किन्तु हमारी इहलोक की यह कामना भी व्यापकता का आधार पाकर पारलौकिक सीमा में प्रविष्ट हो जाती है। फिर हम अभी विरक्त नहीं, श्रावक हैं। हमें गृहस्थाश्रम के सभी धर्मों और दायित्वों का निर्वाह भी करना ही पड़ेगा। नृपति हैं तो हमें लोकरंजन और जनहित का ध्यान भी रखना ही होगा। इस मार्ग में जब संकट आ जाय और उसके निवारण के लिए हम किसी उच्च शक्ति का आश्रय लें तो उसमें अनीति है ही क्या ! हम तो इस प्रकार अपना दायित्व ही पूर्ण करेंगे। वे सोचने लगे कि हमारे जीवन के दो रूप हैं–हम साधक भी हैं और सर्वजनहित-कामी शासक के रूप में सद्गृहस्थ भी। हमारा तप का संकल्प तो हमारे इस दूसरे रूप द्वारा धारण किया गया है। हमारा यह तप भी धार्मिक प्रक्रिया नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारा तप कुत्सित नहीं है, अपितु उसका सर्वोच्च लक्ष्य होने के कारण उसमें और अधिक परिमार्जन आ जायेगा। तर्क-वितर्क के ऊहापोह से उबरकर अन्ततः महाराज का तप-विचार सुदृढ़ हो गया। उन्होंने किसी भी प्रकार से इसमें कोई आपत्तिजनक बात होना नहीं पाया और वे अपने चिन्तन को मुखर करते हुए फुसफुसा उठे– हम तेले की तपस्या करेंगे .... हम कर सकते हैं यह तप .... इसमें कोई हानि है ही नहीं। यह सोच, महाराज ने पूर्ण निष्ठा के साथ पौषधशाला में तेले का तप किया। तप की सम्पूर्ति पर आहूत देवता साक्षात् हुए। नृपति को अपने साफल्य पर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होने लगा। महाराज ने पूर्ण श्रद्धा-भावना के साथ नमन-वन्दन किया और क्षमा-याचना के स्वर में निवेदन किया–"हमने आपको एक लोकरंजक उद्देश्य से कष्ट दिया है स्वामी ! आप तो अवधिज्ञानधारक, परम सामर्थ्यवान हैं। हम तो आपके समक्ष दीन-दुर्बल हैं। आप .... ।"

"हमारा आह्वान किस प्रयोजन से किया गया है?" देवता ने अपनी प्रशंसा में रस न लेते हुए बीच ही में सीधा प्रश्न किया।

देव ! सांसारिक कारणों से ही आपका आह्वान किया गया है। हम निस्सन्तान हैं। हम तो संतति की कामना ही त्याग चुके हैं, किन्तु राजकुमार के अभाव में हमारे प्रजाजन म्लान और दुःखित रहते हैं। उन्हें राज्य का भविष्य अंधकारमय लगता है। हमारे शासन से हमारी जनता प्रसन्न और सुखी है पर ऐसे नरेश की भावी अनुपलब्धि की आशंका उन्हें अस्थिर किये रहती है, देव ! वे हमारे राजवंश जात उत्तराधिकारी का ही शासन चाहते हैं। इस

असंभाव्य परिस्थिति के कारण ही वे खिन्न और पीड़ित रहते हैं। क्या आप उदारतापूर्वक यह भावी रहस्य उद्घाटित करेंगे कि क्या हमें पुत्र प्राप्त होगा? यह सौभाग्य कब सुलभ होगा और राजपुत्र कैसे गुण-लक्षणों का होगा?

अवधिज्ञानी देवता प्रश्न सुनकर अन्तर्लीन हो गये और कुछ ही क्षणों में नेत्र विस्फारित करते हुए वे मुस्करा उठे। बोले–"राजन्, परहित से प्रेरित तुम्हारा प्रश्न बड़ा जटिल है। मैं तुम्हें वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराता हूँ। पुत्र-प्राप्ति का योग तुम्हारे जीवन में है और सुनिश्चित है। मैं किसी को पुत्रवान नहीं बना सकता–केवल इतना ही मेरे लिए शक्य है कि किसी के कर्मों की अवस्था देख सकूँ और उसके अनुसार भावी परिणाम से अवगत करूँ। वही मैंने किया भी है। देवता ने समझाकर यह भी कहा कि मनुष्य को पूर्व कर्म-बंधानुसार ही फलरूप में सुख-दुःखादि मिलते हैं। शुभ कर्मों और शुद्ध भावना से पूर्व अशुभ कर्मों का क्षय और नवीन शुभ कर्मों का बंध होता रहता है। अमंगल योगों के कर्म टूटते हैं, तभी शुभ कर्म फलदायक रूप में आते हैं और शुभ परिणाम प्रकट होने लगते हैं। तुम्हारे साथ भी यही होने वाला है और वह स्थिति अब अधिक दूर भी नहीं है। क्योंकि तुम न तो पुत्र-प्राप्ति की कामना रखते हो और न इसके लिए चिन्तित रहते हो–तुम्हारे लिए यह योग और भी अधिक सुदृढ़ हो गया है। चिन्ता धर्माराधना को दुर्बल बनाती है और अन्तराय कर्मों की स्थिति अनुकूल नहीं बन पाती। राजन् !" देवता ने कहा–"आवश्यक यही है कि आप निश्चिन्त मन से अधिकाधिक धर्माराधना करें। धर्म पर पक्की आस्था रखें तथा मिथ्यात्व को बाधक न बनने दें। एक कार्य तुम्हें विशेष रूप से करना ही होगा।"

देवता कुछ क्षणों तक मौन रह गये और तब बोले–"नरेश ! तुमने अपना उत्थान, अपने जीवन का उन्नयन तो किया है, अब तुम्हें जनता के जीवन का उत्थान भी करना होगा। शासक का कर्त्तव्य है कि जनता को शुद्धाचारी बनावें और उसका उत्कर्ष करें। कुव्यसनों से जनता को मुक्त करना परमावश्यक है। कुव्यसन अनेक विकारों के जनक बनते हैं और ये ही विकार दुःख के कारण बन जाते हैं। जनता के दुःख का दायित्व इस प्रकार शासक पर भी आता है।"

देवता मर्म-कथन करते जा रहे थे और नरेश गम्भीरता के साथ उसे हृदयंगम कर रहे थे। देवता ने कहा–"सुनो राजन् ! चम्पानगरी का राजकुमार गुणशील में साक्षात् तुम्हारी ही अनुकृति होगा। जैसा तुम उसे बनाना चाहते हो वैसे ही साँचे में तुम अभी से स्वयं को ढाल लो। तुम्हारी प्रजा को तनिक भी चिन्ता नहीं करनी होगी कि भविष्य न जाने कैसा होगा।

भावी शासक साक्षात् तुम जैसा ही होगा। हाँ, बाल्यकाल दोनों का भिन्न प्रकार का रह सकता है।"

जन-कामना की पूर्ति की आशा से महाराज चन्द्रसेन का मन भी कुछ उत्साहित हुआ। इसी उत्साह के अधीन उन्होंने देवता से प्रश्न किया–"इस विषय में आपका हमारे लिए क्या मार्गदर्शन है, स्वामी? हमें क्या करना होगा?"

देवता ने अत्यन्त तटस्थ भाव के साथ कहा–"तुम्हें इस निमित्त एक विशिष्ट अनुष्ठान करना होगा। यह अनुष्ठान तुमसे साहस और धैर्य की अपेक्षा रखेगा। पुरुषार्थ से तो दुर्लभ समझी जाने वाली वस्तुएँ भी सुलभ हो जाती हैं। आवश्यकता केवल आस्था, निष्ठा और साहस की ही है। अस्तु, राजन् ! तुम्हें यहाँ से दक्षिण दिशा में पाँच सौ कोस की यात्रा सम्पन्न करनी होगी। निस्संग, एकाकी–तुम अकेले ही यह यात्रा करोगे। घने और भयानक वन-पर्वत, उपत्यकाएँ इस मार्ग में आएँगी, सुन्दर सुहावने वातावरण भी होंगे। यदि इन सभी स्थलों को पार करके तुम बढ़ते चले गये तो तुम्हें एक सुरम्य स्थल–'चम्पा-उद्यान' मिलेगा। यही तुम्हारा गंतव्य होगा जो तुम्हारे मंतव्य पूर्ति का आरम्भ-स्थल भी होगा। तुम्हें अपनी समत्व-भावना का परिचय भी देना होगा। नवकार महामंत्र तुम्हारा संरक्षक बना रहेगा और सामायिक साधना तुम्हारी रक्षिका रहेगी।"

"वहाँ एक सुन्दर, प्राचीन वापी है। यहीं तुम्हारा सामना एक भयंकर और विशाल मणिधारी नाग से होगा।" इतना कहकर देवता ने कुछ क्षणों का विराम लिया और महाराज की जिज्ञासा देखकर वे इतना ही कह पाये– "इसके आगे की भूमिका स्वयं तुम्हें ही निश्चित करनी होगी राजन् ! शौर्य सिखाने की वस्तु नहीं होती, पराक्रम की पाठशाला नहीं होती ···· ।" देवता की वाणी क्रमशः धीमी होती चली गयी और वे सहसा अदृश्य हो गये। हक्के-बक्के से महाराज देखते रह गये। अनायास ही उन्होंने गगन की ओर दृष्टि कर, करबद्ध नमन किया। उनको एक मार्ग मिल गया था, करणीय की पहचान हो गयी थी। महाराज प्रसन्न वदन पौषधशाला से प्रस्थान कर राजभवन में आ गये।

राज-परिषद् और राज-परिवार सभी ने तपोपरान्त महाराज का सादर स्वागत किया। तेला तप की उपलब्धि के विषय में जानने को सभी उत्सुक थे। महाराज ने मात्र इतना कहकर सभी को सुखी कर दिया कि "राज्य और प्रजा का भविष्य अंधकारमय नहीं है। राजवंश को आशा रखनी चाहिए।" वे

अपने विश्रामागार को चल दिये। सभी सानन्द एक-दूसरे को बधाइयाँ देने लगे। सर्वत्र मंगलाचार होने लगे। सभी के मन में एक नयी स्फूर्ति, नयी उमंग जाग उठी। नयी दस रानियाँ इसकी अपवाद रहीं। दुर्जनों को दुष्प्रवृत्तियों में ही रस आता है। उन्हें पुष्पोद्यान में भी केवल काँटे ही हाथ आते हैं। उनके मन में इस आशाजनक संवाद ने भी विष घोल दिया। यदि राजकुमार आया तो निश्चित है कि उसके पूर्व कोई एक रानी अवश्य आयेगी। महाराज की कामना पूर्ण करने वाली वही रानी उनकी हृदयेश्वरी होगी। उसके होते, हमें कौन पूछेगा भला ! हम भी, किन्तु कुछ कम नहीं। अपने सुखों की होली जलते हुए तो हम भी नहीं देख सकतीं। अपना मार्ग स्वयं हमें ही निश्चित करना होगा। रानियों के मन में एक क्रूर भाव तांडव करने लगा।

× × ×

महाराज चन्द्रसेन अपने एकाकी अभियान पर प्रस्थान को तत्पर हुए। राज-काज की व्यवस्थाएँ कीं और सबसे विदा होकर अपने चपल अश्व पर आरूढ़ हो उन्होंने दक्षिण दिशा की ओर गमन किया। अत्यन्त तीव्रगामी अश्व उन्हें हवा से बातें कराने लगा था। आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत महाराज भी अनवरत यात्रा करते रहे। मार्ग में घने वन, पर्वत आते रहे–भयानक, साँय-साँय करने वाले एकान्त वन-प्रान्तर भी महाराज को बड़े मनोहारी लगते। भय तो उनके मानस को स्पर्श भी नहीं कर पाया था। साहस की प्रतिमूर्ति नरेश ज्यों-ज्यों गहन वन में प्रविष्ट होते गये–उनके उत्साह में अभिवृद्धि होती रही। सामायिक साधना उनका सम्बल बनी रही। नवकार मंत्र का जाप करते हुए वे आगे बढ़ते रहे। स्वच्छ, रजतवर्णी झरनों का जल पीकर वे तृषा शान्त करते और वन्य-फलों का आहार कर लेते। प्रायः सघन वृक्ष समूहों से दूर-दूर ही अपना मार्ग बनाने की उन्होंने सर्वदा सावधानी रखी। उनका ध्यान बना रहा कि अश्व की टापों से वन्य पशु-पक्षी आक्रान्त न हों, उनकी शान्त जीवन-चर्या में अशान्ति और भय-त्रस्तता उत्पन्न न हो। इस अहिंसा-भावना से उनका मन कभी विलग नहीं हुआ।

साहसी नरेश चन्द्रसेन महाराज लक्ष्यगामी यात्रिक बने रहे। लक्ष्य-प्राप्ति का नैष्ठिक आराधक मार्ग की बाधाओं से कभी विचलित नहीं होता और न ही सुरम्यताएँ किसी प्रकार का मोह जगाकर उन्हें चेष्टा-शिथिल बना पाती हैं। महाराज अन्तराल के शुभाशुभ वातावरण की उपेक्षा के साथ अपने लक्ष्य के समीप से समीपतर होते चले गये। स्थान-स्थान पर विशाल भुजंग उनके सामने से निकलते गये। समीप से ही सिंहों की दहाड़ और हाथियों की चिंघाड़

सुनायी दे जाती। रात्रि-काल में तो और भी अधिक भयावह स्थितियाँ बनतीं, किन्तु वे बिना किसी विचलन के आगे बढ़ते रहे। रुकाव लक्ष्य के प्रति आस्था शैथिल्य का प्रतीक हो जाता है और विश्राम की अभिलाषा वही पथिक करता है जिसे लक्ष्य की अपेक्षा सुख की अधिक महत्ता प्रतीत होती है। सच्चे पथिक के लिए तो लक्ष्य-प्राप्ति में ही सच्चा सुख निहित होता है। कोई भय उसे थाम नहीं पाता।

रमणीक कानन में अनेक आकर्षक स्थल भी आये। मनोहारी छटाएँ बाँध रखने की अपनी समस्त समर्थताओं के मोहक जाल में भी राजा चन्द्रसेन को रोक नहीं पाती थीं। सर्वत्र छाया मनोमुग्धकारी चेटक भी विफल रह जाता और अप्रभावित रूप में महाराज अग्रसर हो जाते। समता-भाव के साधक नरेश के लिए कोई मित्र, कोई शत्रु न था। प्राणिमात्र के प्रति उनके हार्दिक अगाध स्नेह के परिणामस्वरूप हिंस्र जीव-जन्तु भी उनके अपने-उनके आत्मीय हो गये थे। इस शुभ भावना के परिणामस्वरूप वन्य प्राणी भी उन्हें अपनत्व से ही देखते। वे भला भय त्रस्त करते भी कैसे ? समस्त चराचर जगत् की यही कामना रहती कि स्नेहमूर्ति नरेश को सफलता प्राप्त हो। पवन भी पीछे से आकर उन्हें आगे अग्रसर होने में सहायक बनती। विरुद्ध पवन कभी होती भी तो अतिशय मंथर, अति मृदुल और शीतल-सुखद होती।

अश्वारूढ़ महाराज सभी की मंगल-कामनाओं को लेते हुए, सभी की आशिष के साथ बढ़ते हुए अन्ततः चम्पा-उद्यान में पहुँच ही गये। वहीं उद्यान-मध्य स्थित वह प्राचीन वापी भी उन्हें दिखायी दे गयी। स्फटिक-निर्मित कलात्मक तोरण द्वार से उसकी शोभा अनेक गुनी बढ़ गयी थी। महाराज ने अश्व का त्याग किया और उद्यान की शोभा निहारने लगे। तोरण द्वार से होकर वे वापी की सीढ़ियों तक पहुँचे। उतरकर वे जल के समीप आये तो पाया कि स्वच्छ निर्मल जल से भरी यह वापी भीतर से और अधिक रमणीक थी। उनका जी हुआ कि यह शुद्ध-शीतल जल पीकर वे अपनी तृषा शान्त कर लें किन्तु अपरिचय ने बाधा उत्पन्न की। वे सोचने लगे सम्भव है यह जल पेय और निरापद न हो। उन्होंने मन-ही-मन नवकार महामंत्र का जाप किया और जल के भीतर झाँकने लगे। जल की निर्मलता ने सुविधा दी और उन्हें वापी का अधोजल भाग भी स्पष्ट दिखायी देने लगा। एक कोने के पास वापी तल में उन्हें एक कलात्मक द्वार भी दिखायी दिया। इस सुन्दर संरचना से नरेश बड़े प्रभावित हुए। वे धीमे-धीमे ही वापी की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बाहर आ गये। उन्हें यह चम्पा-उद्यान अब और भी अधिक रम्य लगा। सन्ध्या समय

समीप था। अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों में स्नान कर उद्यान का पत्ता-पत्ता दमक उठा था। भाँति-भाँति के पुष्पों से सज्जित उद्यान सुरभित हो उठा था। पुष्पों का मन्द हास साँझ के अरुण आलोक में और भी अधिक अनूठा हो उठा था। किन्तु यह रम्यता साधारणजनों के लिए चमत्कारी और प्रभावशाली हो सकती थी। चरम के समीप पहुँचकर महाराज तो परम सतर्क और लक्ष्य-संवेदना से युक्त हो गये थे। इस अपरिचित और रहस्यपूर्ण स्थल पर रात्रि-यापन की स्थिति उनके समीप ही थी। विवेकशील महाराज चन्द्रसेन ने त्वरा के साथ भावी कार्य-कलापों की योजना बनायी। यही वह स्थल है जहाँ मणिधारी नाग प्रकट होगा। अतः आत्म-रक्षा की समुचित व्यवस्था भी अपेक्षित रहेगी—यह सोचकर महाराज ने अश्व को सुरक्षित स्थल पर बाँधा और वापी के समीप से ही एक सघन, उच्च वृक्ष पर चढ़कर उपयुक्त स्थल खोजने लगे। उन्हें वृक्ष की शाखाओं का एक समुच्चय ऐसा मिल भी गया जो उनके विश्राम के लिए उपयुक्त था। उन्होंने एक मोटी शाखा को चुनकर उसके आस-पास की छोटी टहनियों को ऐसा जमा दिया कि वे वहाँ से सभी ओर दूर-दूर तक देख सकें। तब महाराज उस मोटी शाखा पर बैठे और पीठ टिकाकर विश्राम करने लगे। कुछ ही कालान्तर में सूर्यास्त भी हो गया और कोमल अंधकार आकाश से उतरने लगा। धीरे-धीरे सभी दिशाएँ घनांधकार से घिर गयीं। समस्त दृश्यमान इस तम-समुद्र में निमग्न होकर लुप्त हो गया। दृष्टि की क्षमता विफल हो गयी। केवल कर्णेन्द्रिय की सक्रियता ही यथातथ्य बोध कराती थी। इस महाशून्य की सी स्थिति में नेत्र विफल होकर मुकुलित हो गये और महाराज सामायिक कर नवकार मंत्र का जाप करने लगे। उनका मन अपने अहर्निश के कार्यों की आलोचना कर सत्पुरुषार्थ प्राप्त हो गया। उनका समभावी और जागरूक मन भावी परिस्थितियों की प्रतीक्षा करने लगा।

बन्द पलकों में भी महाराज के नयन क्षीण से कोमल प्रकाश का अनुभव करने लगे। मध्य-रात्रि का समय था। सतर्क महाराज ने नयन खोलकर जो देखा तो पाया कि प्रकाश का उद्गम वह वापी ही थी। आस-पास का भाग जगमगाने लगा था। वापी के ऊपर का आकाश आलोकित हो उठा और यह आलोक क्रमशः तीव्रतर होता जा रहा था। महाराज ने कुछ ही पलोपरान्त पाया कि प्रकाश का एक पिण्ड वापी से बाहर आया और भूमि पर आगे बढ़ने लगा। दृष्टि पर बल लगाकर महाराज ने ध्यान से देखा तो पाया कि वास्तव में एक विशालकाय, विकराल विषधर वापी से निकलकर उद्यान में विचरण कर रहा है। नाग की मणि से ही यह आलोक विकीर्ण हो रहा है और

इस वन-प्रान्तर को कान्तिमान बना रहा है। महाराज की समग्र चेतना ही जैसे उनके नयनों में केन्द्रीभूत हो गयी थी और वे मणिपन्नग की प्रत्येक गतिविधि को ध्यानपूर्वक देखने लगे। उन्होंने देखा कि वह विकराल भुजंग सरकते हुए तीव्र गति से एक ऊँची चट्टान पर चढ़ गया और तब उसने अपनी मणि निकालकर चट्टान पर स्थापित कर दी। तत्काल ही उस वन में दूर-दूर तक प्रकाश फैल गया। उसी प्रकाश में अपना आहार खोजने को वह उद्यान के विभिन्न भागों में विचरण करने लगा।

महाराजा चन्द्रसेन आश्चर्यचकित होकर इस अद्‌भुत दृश्य को देखते रह गये। ऐसी प्रकाशमान नाग-मणि और ऐसा विशाल नाग—उनके लिए अपूर्व थे। पुष्ट, घना श्यामवर्णी नाग देखकर कम्पित हो जाना भी सर्वथा स्वाभाविक ही था। एक अद्‌भुत तथ्य से तो वे अचंभित ही रह गये। नागराज खाद्य की खोज में निकला था। अनेक छोटे-छोटे जन्तु उसके आस-पास उछल-कूद कर रहे थे; किन्तु वह उनकी ओर बढ़ता ही नहीं था। वह तो वृक्षों के तले बिखरे सूखी फलियों के बीज खाता जा रहा था। समीप ही की समतल भूमि पर समा नामक घास उगी थी। घास भी सूख गयी थी और उस पर लगे डोडे पक गये थे। नाग भूमि पर बिखरे डोडे के दाने चुगने लगा। वह घास को हिला-हिलाकर डोडे नीचे गिरा देता और उन्हें तोड़कर भीतर के दानों का आहार करने लगा। नाग का यह शाकाहारी आचरण देखकर नरेश मन-ही-मन चिन्तन करने लगे—नागराज अवश्य ही असाधारण विभूति है। धर्म-भावना से ओत-प्रोत है यह सामान्य सर्प हो ही नहीं सकता।

कुछ समय विचरण कर नाग उस वृक्ष तले आ पहुँचा जिस पर महाराज बैठे थे। उन्होंने श्रद्धापूर्वक नमन किया। नाग ने अपना फन उठाकर डोलाया, मानो अभिवादन के उत्तर में आशिष दी जा रही हो। मंथर गति से तब नाग चट्टान की ओर बढ़ा और अपनी मणि लेकर वह वापी की ओर चला गया। कुछ ही पलों में वन पुनः अंधकार से भर उठा। चमत्कृत से महाराज कुछ क्षणों तक तो कुछ सोच ही नहीं सके। शेष रात्रि उन्होंने संकट-मोचन नवकार मंत्र का जाप करते ही व्यतीत कर दी। भोर होने पर वे उस वृक्ष से नीचे उतरे।

अपने स्वामी को पाकर चपल अश्व प्रसन्न होकर हिनहिना उठा। महाराज ने उसके गले में प्रेम से हाथ फिराया, पीठ थपथपाकर उसे आश्वस्त किया। स्वामी का स्नेह पाकर वह निहाल हो उठा। पूँछ हिलाकर और कनौती फड़फड़ाकर वह आभार व्यक्त करने लगा। महाराज ने खोज की तो तनिक

दूरी पर एक झरना मिला। स्नानादि से निवृत्त होकर महाराज ने विधिपूर्वक सामायिक की और अश्वारूढ़ होकर चल पड़े। नवकार मंत्र का जाप तो उनके लिए अभ्यास का क्रम ही बना हुआ था। आश्वस्त अश्व पूर्ण शक्ति और उमंग के साथ उड़ चला। महाराज को खोज थी आस-पास के किसी नगर-ग्राम की। संयोग से एक नगर भी कुछ दूरी पर मिल गया और महाराज ने संतोष की साँस ली। उनके लिए अब सबसे बड़ा कार्य नागराज को प्रभावित करने का ही था और वे इसी उपक्रम में जुटे हुए थे।

× × ×

जब महाराज लौटकर पुनः चम्पा-उद्यान में पहुँचे, सन्ध्या-समय समीप आ गया था। उनको संतोष इस बात का था कि उनको मनोवांछित सामग्री नगर से उपलब्ध हो गयी। वापी के आस-पास का क्षेत्र उन्होंने परिश्रम करके स्वच्छ कर दिया। यह स्थल अब पहले की अपेक्षा और भी अधिक सुन्दर दिखाई देने लगा था। स्थान-स्थान पर उन्होंने सुन्दर सुगंधित पुष्प सजा दिये। मार्ग में और इधर-उधर पुष्प-ही-पुष्प बिखेर दिये। लता-गुल्मों के पल्लवों पर मनोमुग्धकारी सुवासयुक्त इत्र फैला दिया। झाड़ियों में उन्होंने असंख्य अगरबत्तियाँ लगा दीं। कुछ ही समय में यह सारा क्षेत्र सुरभित और सुषमायुक्त हो उठा। महाराज ने श्रमपूर्वक कुछ दोने वृक्षों के बड़े-बड़े पत्तों से बना लिये और उनमें केशर-मिश्रित दूध भरकर उन्हें विभिन्न स्थानों पर रख दिया। इस समस्त उपक्रम में पर्याप्त समय लगा। सूर्यास्त के पश्चात् भी वे इन कार्यों को कुछ समय तक सम्पन्न करते रहे; यहाँ तक कि अँधेरा होने लगा। वे निश्चिन्त मन से यह सब-कुछ करते रहे; क्योंकि वे जानते थे कि अर्द्ध-रात्रि से पूर्व नाग वापी से बाहर नहीं आता है।

सारी व्यवस्थाएँ सम्पन्न हो चुकने पर महाराज सामायिक साधना में प्रवृत्त हुए। आत्म-बल के विकास का यह एक समर्थ और सफल साधन है। महाराज अन्तर्लीन होकर अपने भीतर झाँकने लगे थे। वे अपनी आन्तरिक शुभाशुभ दशा का अवलोकन करने लगे थे। परीक्षा करने लगे कि अपने मन में सद्भाव अधिक हैं, अथवा विचार अधिक हैं। वे जानते थे कि विकारों पर सद्भावों की विजय होनी चाहिए और इसके लिए पुरुषार्थ अपेक्षित रहता है। पुरुषार्थ अपनी विजय के साथ-साथ आत्म-बल का विकास करता चलता है। लगभग इसी अनुपात में साधक का आत्म-विश्वास भी बढ़ता चलता है। ऐसा साधक आत्म-शक्ति की वृद्धि पर निर्भीक और साहसी तो स्वतः ही हो जाता है। वह जानता है कि आत्म-विश्वास ही समस्त संकटों से रक्षा का एक उत्तम

साधन है। अतः निश्चिन्त होकर वह चेष्टा में प्रवृत्त हो जाता है और बाधाएँ पराजित हो जाती हैं–सफलता उसके हाथ लगती ही लगती है।

ऐसे ही मनोबल और अभिवर्धित आत्म-विश्वास के साथ गत रात्रि की भाँति महाराज चन्द्रसेन वृक्ष की उसी शाखा पर बैठकर आज भी नागागमन की घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे। निश्शंक मन से वे महामंत्र का जाप करने लगे। वे निश्चय कर चुके थे कि निर्णायक घड़ी के आने पर जैसी परिस्थिति होगी, उसके अनुरूप ही अपनी भूमिका निर्धारित कर उसका अनुसरण करेंगे।

ज्यों-ज्यों रात्रि गहराती जा रही थी, महाराज की उत्सुकता उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही थी। आज उनकी दृष्टि वापी के भीतरी भाग पर विशेष रूप से जमी रही। वे वापी में नाग के निवास का रहस्य जान लेना चाहते थे। उनकी उत्सुकता का चरम भी आ पहुँचा। मध्य-रात्रि का समय हुआ और वापी के बाहर मद्धिम प्रकाश विकीर्ण होने लगा। महाराज ने जागरूकता के साथ वापी की गतिविधियों पर दृष्टि गड़ा दी। उन्होंने देखा कि प्रकाश का स्रोत धीमे-धीमे पानी के भीतर से ऊपर को उठ रहा है। वे इस सारी प्रक्रिया का गहन निरीक्षण करने लगे। उन्होंने देखा कि वापी का जल दो भागों में विभक्त होता जा रहा है और एक मार्ग निर्मित हो गया है जिसका अनुसरण कर नागराज जल से बाहर निकल आया है। तभी, तत्काल ही जल पुनः एकाकार हो गया और मस्तानी गति से नाग वापी के बाहर निकल आया। इसी समय महाराज को उस कलात्मक द्वार का रहस्य भी ज्ञात हो गया, जिसे उन्होंने वापी के तले में अधोजल स्थिति में देखा था। अवश्य ही नागराज का निवास-स्थान उस द्वार के भीतर होगा–महाराज ने मन-ही-मन सोचा और आगामी परिस्थितियों का निरीक्षण-परीक्षण करने लगे।

भुजंगराज अपनी स्वाभाविक फुफकार करते हुए आगे बढ़ा। फूँ-फूँ का भयावह रव वातावरण को भीति भाव से भरता हुआ ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगा। तत्काल ही उसके व्यवहार में एक परिवर्तन दिखायी दिया। वह एकदम शान्त-गम्भीर होकर कुछ चिन्तन मुद्रा में ठिठककर खड़ा रह गया और एक बार कुछ क्षणों के लिए फन उठाकर जैसे दूर-दूर तक देख लेने का प्रयास करने लगा। नाग को जैसे संतोष का अनुभव होने लगा था। वह मंथर गति से रेंगता हुआ आगे बढ़ा एक दोने का केसरिया दूध उसने पी लिया तो वह और भी शान्त और तृप्त दिखायी देने लगा। सब ओर के सुरभित वातावरण ने उसे मगन कर दिया था। फूलों का कोमल स्पर्श पाकर तो वह उमंगित हो उठा। उसने अनेक बार दूध पिया, फूलों में लोट-पोट होता रहा। कभी इधर

तो कभी उधर मुड़ता और नाना भाँति क्रीड़ाएँ करता रहा। और तब बीच चौक में आकर वह फन उठाकर बड़ी देरी तक नाचता रहा। आज उसने ऊँची चट्टान पर अपनी मणि भी नहीं रखी थी। इसकी आवश्यकता भी उसे प्रतीत नहीं हुई। बिना खोजे ही उसे उसका आहार प्राप्त हो गया था। ऐसे प्रसन्न, मगन अवस्था में नाग को देखकर महाराज चन्द्रसेन को यह घड़ी बड़ी अनुकूल लगी। वे धीमे-धीमे वृक्ष से उतरकर भूतल पर आ गये और मन-ही-मन नवकार मन्त्र का जाप करके वे आगे बढ़ गये। निःशब्द चरणों से वे नागराज की ओर बढ़े। इस समय भी वे सर्वथा निश्चिन्त और निर्भीक थे। वे तो मानते थे कि हमारी भावना जैसी दूसरों के प्रति होगी–वैसी ही भावना हमारे प्रति उनके मन में भी होगी। हम यदि अभिनय द्वारा छद्म भाव प्रकट करेंगे तो वे भी ऐसा ही कर सकते हैं, किन्तु मूल भाव दोनों पक्षों का एक-सा ही रहेगा। दोनों के हृदय एक-दूसरे के लिए दर्पण बने रहते हैं। महाराज इसी आत्म-विश्वास के साथ आगे बढ़ते चले गये कि हमारे मन में नागराज के प्रति अहित का भाव नहीं है तो नाग के मन में हानिकारक भाव भला क्यों होगा। मित्र के लिए तो वह भी शत्रुता का प्रदर्शन नहीं करेगा। धीरे-धीरे वे नाग के समक्ष आ खड़े हुए और नमनपूर्वक करबद्ध वन्दना की। नाग अभी भी फन उठाये हुए था; हाँ, नृत्य उसका अवश्य ही स्थगित हो गया था।

महाराज ने देखा–नाग एकटक उन्हीं को निहार रहा था। उन्होंने सोचा नाग कदाचित् मेरे विषय में कुछ बात करना चाहता है। प्रणाम मुद्रा में ही वे कहने लगे–"नागदेव, हम तो सामान्य से ही नरदेही हैं। हम इतिहास-ख्यात राज्य चम्पानगरी के राजकुल में उत्पन्न, उस राज्य की जनता के सेवक हैं। जनता की सुख-सुविधा की व्यवस्था करना ही हमारी साधना है। जनता की कामनाओं की पूर्ति हो–हम इस पुनीत ध्येय से सचेष्ट रहते हैं। यही हमारा कर्म भी है, धर्म भी है और मर्म की बात यही है कि इस समय भी हम जनाभिलाषा को पूर्ण कराने के ही प्रयोजन से यहाँ आये हैं। हम चाहे निस्सन्तान हैं किन्तु न तो इस कारण हम दुःखित और चिन्तित हैं और न ही इस विषय में हम अभिलाषा रखते हैं। हम तो समता-साधक हैं। तटस्थ भाव से निरीह रूप में, शुभ कर्म करते हुए सेवाशील बने रहना–बस ऐसी ही हमारी जीवन-शैली बन गयी है। किन्तु जनता का यह प्रबल आग्रह कि उसे राजकुल में उत्पन्न शासक ही भविष्य में भी प्राप्त हो। यह जनधारणा बन गयी है कि हमारे जैसा सेवक ही सच्चा जन-हितैषी बन सकता है और हमारे जैसा तो हमारा पुत्र ही हो सकता है। हमें तो यह भी ज्ञात नहीं हो पाया था कि हमारी नियति में पितृपद की प्राप्ति भी है, अथवा नहीं। अतः हमने तप करके

देवता का आह्वान किया जिन्होंने अपने अवधिज्ञान से ज्ञात करके हमें अवगत कराया कि पुत्र-योग हमारे लिए है। हम पिता अवश्य बनेंगे। इससे जनता में आह्लाद की लहर दौड़ गयी है। उन्हीं देवता ने हमें आपकी सेवा में उपस्थित होने का भी निर्देश दिया है।"

इतना कहकर महाराज चन्द्रसेन ने विराम लिया। "हमने अपना परिचय आपको दिया, अपना यहाँ आगमन का मंतव्य भी प्रकट किया। आपके दर्शनों से तो हम अत्यधिक प्रभावित हुए।" महाराज ने कहा–"कृपापूर्वक अपना परिचय भी दीजिये। हमें नहीं ज्ञात है कि हमारी जनता की अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी–कृपया इस विषय में भी हमारा मार्गदर्शन करने का अनुग्रह कीजिये।" नरेश मुस्कराते हुए, हाथ जोड़े, स्थिर खड़े रह गये।

महाराज के आश्चर्य का पार ही नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि नागराज ने सहसा फन नीचे किया और क्षिप्र गति से एक झाड़ी में प्रविष्ट हो गया। कुछ ही क्षणों में एक दिव्याभा वाला भद्र पुरुष उसी झाड़ी से बाहर आया। उस दिव्य पुरुष ने नरेश को सम्बोधित करते हुए कहा–"राजन्, आपने मुझे नाग-रूप में देखा है। वास्तव में मैं एक विद्याधर हूँ। मैंने अनेक विद्याएँ सिद्ध कर रखी हैं, उनमें से एक नाग-विद्या भी है। विगत कुछ समय से मैं नाग-रूप में ही रह रहा हूँ। इसके पीछे भी एक रहस्य निहित है महाराज !" कुछ क्षणों के विरामोपरान्त विद्याधर ने कहा–"मेरी एक युवा-कन्या है विश्व-सुन्दरी–यथा नाम तथा गुण है वह। विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होने का गौरव प्राप्त है उसे। जब वह परिणय-योग्य अवस्था को पहुँची तो अनेक राजा-महाराजा, राजकुमार-युवराज आदि उससे पाणिग्रहण के लिए लालायित रहने लगे। कहाँ इसका सम्बन्ध करना उपयुक्त एवं शुभ रहेगा–मेरे लिए यह बड़ा दुष्कर हो गया। मैं इस समस्या में ग्रस्त ही था कि संयोग से जंघाचरण महाराज के दर्शन हो गये। वे बड़े ज्ञानी और पहुँचे हुए महात्मा हैं। मैंने अपनी समस्या उनके समक्ष प्रस्तुत की। मुनि महाराज ने मेरी बड़ी सहायता की। उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ मुझे बताया कि चम्पानगरी के नरेश महाराज चन्द्रसेन के साथ विश्व-सुन्दरी का विवाह-योग है।" यह सुनकर मेरी तो जी की कली ही खिल गयी। मेरी सारी समस्या ही सुलझ गयी। जब मैंने यह संतोष व्यक्त किया तो मुनि महाराज ने कहा–"न केवल तुम्हारी समस्या का समाधान इस परिणय से सम्भव होगा, अपितु जन-हितैषी महाराज चन्द्रसेन की समस्या भी इसी से सुलझेगी। यह विवाह सम्बन्ध सर्वमंगलकारी और अत्यन्त शुभ सिद्ध होगा।"

महाराज विद्याधर का वृत्तान्त ध्यान लगाकर हृदयंगम करते जा रहे थे और वह वर्णित करता चला जा रहा था। उसने कहा–"तब मैंने मुनि जी के समक्ष अपनी मूल कठिनाई रखी कि यह सम्बन्ध निश्चित कैसे होगा? कैसे हमारी भेंट होगी? उत्तर में मुनि जी ने मुझे निर्देश दिया कि मैं चम्पा-उद्यान चला आऊँ। यहीं महाराज चन्द्रसेन से भेंट भी होगी और यह परिणय भी सम्पन्न हो जायेगा। तब से मैं अपनी पुत्री के साथ इस उद्यान की वापी में, जल के भीतर एक प्रासाद में निवास कर रहा हूँ। मैं प्रति क्षण आपकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ, राजन् ! आज मेरी मनोकामना पूर्ण हुई है। आपसे भेंट क्या हो गयी–मुझे तो मोक्ष का ही मार्ग मिल गया है।"

"यह···· यह कैसे? मोक्ष का मार्ग···· ।" महाराज चन्द्रसेन ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए पूछा। विद्याधर ने अपने उत्तर में कहा–"यह मैं बाद में बताऊँगा, पहले आप यह नाग-मणि ग्रहण कीजिये। यह मणि बड़ी ही प्रभावकारी है।"–यह कहते हुए विद्याधर ने मणि महाराज को अर्पित कर दी और कहा–"मान्य नृपति ! इस मणि पर उसी का अधिकार हो सकता है जो मेरा जामाता बनने को तत्पर हो। आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया है। मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। अब कृपया मेरी कन्या विश्व-सुन्दरी का पत्नी-रूप में वरण कीजिये और मुझे मुक्त कीजिये, महाराज !"–यह कहते हुए विद्याधर के अधरों पर एक याचना भरी मुस्कान थिरक उठी और उसने प्रणाम-मुद्रा में अपने हाथ जोड़कर निवेदन किया–"महाराज ! आप सर्व प्रकार से मेरी कन्या के योग्य हैं और विश्व-सुन्दरी भी कदाचित आपके ही योग्य है। यह परिणय स्वीकृत कर कृपया मुझे अनुमति दीजिये। मेरे मन में तो तीव्र अभिलाषा थी काफी समय से कि मैं आध्यात्मिक साधना को अपनाऊँ, संयम ग्रहण कर लूँ। किन्तु विश्व-सुन्दरी का दायित्व भी तो मुझ पर था। उसे पूर्ण किये बिना मैं उस मार्ग का पथिक कैसे बनता ! अस्तु, अब आज मैं उस भार से मुक्त होकर अपने मनोवांछित को साकार कर लेना चाहता हूँ। विश्व-सुन्दरी से परिणय कर लीजिये।" विद्याधर ने अनुरोधपूर्वक कहा और तब नरेश चन्द्रसेन की प्रतिक्रिया जानने को मौन हो गया।

राजा चन्द्रसेन तो देवता के निर्देश पर यहाँ इसी पूर्व-धारणा के साथ आये थे कि जो कुछ यहाँ घटित होगा, वही हमारे लिए अभीप्सित और काम्य है। उन्होंने कहा–"मोक्ष-मार्ग का पथिक तो एक दिवस हमें भी बनना है। हाँ, जब कल्याण का दायित्व मुझे अवश्य ही उसके पूर्व पूर्ण करना होगा। चम्पानगरी की प्रजा की अभिलाषा हमारे लिए आदेश है, उसकी पूर्ति कर लें

तो अपने मंतव्य और गंतव्य का ध्यान करूँ। किन्तु आप तो हमसे पूर्व, इसी समय संसार-त्याग को तत्पर हो गये हैं। इस दृष्टि से आप मेरे लिए अग्रजवत् हो गये हैं। आपका निर्देश कैसे टाला जा सकता है ? मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार्य है।'' महाराज ने यह सोचते हुए यह उत्तर दिया कि कदाचित् देवता की बात इसी प्रकार पूर्ण होने को हो। इस प्रकार स्वर्णनगरी की जनाभिलाषा साकार होने को हो।

महाराज चन्द्रसेन की सुखद स्वीकृति से विद्याधर को आत्मतोष हुआ। वह कहने लगा–''महाराज ! मैं फिर से आपके अनुग्रह के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। अब आप विलम्ब न कीजिये। तुरन्त वापी-स्थित हमारे प्रासाद में पहुँचिये और विश्व-सुन्दरी से विवाह कर लीजिये। मैं अब जाता हूँ, आत्म-कल्याण की साधना करूँगा।''

महाराज ने कहा–''विद्याधर जी, आपकी कृपा के लिए हम और चम्पा-नगरी की प्रजा सदा ही आपकी उपकृत रहेगी। किन्तु क्या आप हमारा विवाह भी सम्पन्न नहीं कराएँगे ? नव-दम्पति को शुभाशिष प्रदान करके ही जाइये ।''

विद्याधर का आकुल-व्याकुल मन साधना-कामी हो उठा था। उसे अब एक क्षण का विलम्ब भी असह्य होने लगा था। उसने कहा–''महाराज ! आपने विवाह का वचन दिया है तो मैं मानता हूँ कि अब विवाह सम्पन्न होने में कोई व्यवधान हो ही नहीं सकता। राज-दम्पति को मंगल-कामनाएँ और आशीर्वाद तो मैं अग्रिम ही दिये देता हूँ। आप यशस्वी हों, प्रत्येक क्षेत्र में विजयी और सुखी हों !!'' हाथ उठाकर विद्याधर ने आशिष दी और महाराज का मस्तक स्पर्श किया। तत्काल ही विद्याधर ने एक ऊँची छलाँग लगायी और आकाश-मार्ग से अपने गंतव्य की ओर प्रस्थान कर गया। महाराजा चन्द्रसेन उसे निहारते रह गये। देखते-ही-देखते भोर के तारे की भाँति वह गगन के महाशून्य में लुप्त हो गया।

● ●

शुभ कार्यों में प्रमाद अथवा विलम्ब अपेक्षित नहीं। एक बार का क्षणिक विलम्ब स्वतः विस्तृत होकर कितना सुदीर्घ हो जाय–यह कहा नहीं जा सकता। यही सोचकर विद्याधर साधना हेतु तत्काल चल दिया था। आत्म-कल्याण हेतु अग्रसर होने वाले साधकों को सर्व दिशाओं से अनुमोदन, सहकार और प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए, व्यवधान अथवा विरोध नहीं। ऐसा ही मानकर महाराज चन्द्रसेन ने भी कोई आग्रह अपने मन में भी विकसित नहीं होने दिया। विद्याधर को उन्होंने उसका अभीप्सित पूर्ण करने दिया।

जाते-जाते विद्याधर ने महाराज को कहा था कि विश्व-सुन्दरी का दायित्व आपको सौंपकर अब मैं सर्वथा निश्चिन्त हूँ। आप ही अब उसके संरक्षक हैं, सर्वस्व हैं। आपके अभिप्रेत से भी मैं परिचित हूँ। आपका सर्वजन-हिताय प्रयोजन सिद्ध हो ! सर्वमंगल हो !!–मेरी यही कामना है। एक मर्म की बात बताते हुए विद्याधर ने कहा–"विश्व-सुन्दरी जो कुछ कहे-करेगी वह आपके हित में होगा, उसके मत की अवमानना नहीं कीजिये। उसी में आपका मंगल निहित रहेगा।" महाराज चन्द्रसेन के कानों में विद्याधर के ये शब्द ध्वनित-प्रतिध्वनित होते रहे। अब महाराज को अपनी भूमिका निभानी थी। उन्होंने एक बार हस्तगत मणि को ध्यान से देखा, नवकार मंत्र का जाप किया और वापी की ओर बढ़ गये।

पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ महाराज स्फटिक-निर्मित सीढ़ियाँ उतरते हुए जल तक पहुँच गये। निःसंकोच भाव के साथ वे अविलम्ब जल में प्रविष्ट भी हो गये। आजानु जल निमग्न हुए ही थे कि मणि के प्रभाव से जल दो भागों में विभक्त होता चला गया, महाराज के लिए मार्ग बनता गया। अधोजल सीढ़ियाँ निर्जल होती जातीं और नरेश नीचे उतरते चले जाते। इसी प्रकार वे वापी के तल में उस कलात्मक स्फटिक द्वार के पास पहुँच गये। निर्भीकतापूर्वक वे तत्काल द्वार में प्रविष्ट हो गये। इसी द्वार से विद्याधर के प्रासाद की ओर मार्ग जाता था। यह मार्ग जलविहीन और सर्वथा स्वच्छ था। रजत भित्तियों को

बहुवर्णी चित्रों से अलंकृत किया गया था। यही मार्ग भीतर एक विस्तृत प्रांगण तक पहुँचाता था। विद्याधर का यह प्रासाद बड़ा भव्य था। महाराजा चन्द्रसेन को लगा कि चम्पानगरी तो नाम ही नाम की है। यह भवन तो समूचा ही स्वर्ण-निर्मित था। सारे भवन में रत्नजटित अनुपम आकृतियाँ शोभित थीं।

नरेश इस निर्जन से प्रतीत होने वाले प्रासाद के विभिन्न भागों में विचरण करने लगे। प्रासाद की एक भित्ति पर नवकार मंत्र अंकित देखकर तो वे बहुत ही हर्षित और प्रभावित हुए। उन्होंने प्रणामपूर्वक हृदय की समस्त आस्था-भावना के साथ महामंत्र का जाप किया। उन्हें आन्तरिक सबलता का अनुभव हुआ। हृदय शुभ भावों से भर उठा। नवीन स्फूर्ति के साथ वे प्रासाद के अन्तरंग भाग में पहुँचे, जहाँ एक छोटा-सा अति रमणीक उद्यान था। भाँति-भाँति के लता-गुल्मों से सज्जित यह उद्यान अत्यन्त मनोहारी था। अब तक भोर हो गयी थी और नव विकसित पुष्पों की भीनी-भीनी सुरभि से सारा वातावरण महक उठा था। भ्रमरों के दल मधुर गुंजार करते हुए उपवन के कोने-कोने में विचरण कर पुष्पों से मधुकरी ग्रहण करने लगे थे। सुन्दर, चपल तितलियाँ भी अपने बहुरंगी पंख फैलाए यत्र-तत्र उड़ रही थीं, फूलों पर आसीन वे और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती थीं।

इसी उद्यान के केन्द्र में एक छोटा-सा जल-कुण्ड था जिसमें कमल खिले हुए थे। महाराज का सौन्दर्य-प्रेमी मन उन्हें इस जल-कुण्ड के समीप खींच लाया। तभी उनकी दृष्टि सामने के स्फटिक मंच पर पड़ी। इस कलात्मक मंच पर अन्तर्धान स्थिति में उन्हें एक सुन्दरी आसीन दिखायी दी। महाराज को यह समझ लेने में तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ कि यही विद्याधर-कन्या विश्व-सुन्दरी है और यह भी कि इस समय वह सामायिक-प्रवृत्त है। महाराज चन्द्रसेन मौन-मूक, स्तब्ध-भाव कुछ ही दूरी पर खड़े रह गये। वे एकटक रमणी की मुख-शोभा को निहारते रहे। उन्होंने इस अलौकिक रमणीयता को देखकर अनुभव किया कि विद्याधर के कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति न थी। सचमुच यह तो विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ही है। उनका सम-भावी मन भी, क्षणिक रूप से ही सही–किन्तु मुग्ध हुए बिना न रह सका। गौर-अरुण मुख पर लटक आई श्याम केशलट, ऐसा लगता था मानो प्रस्फुटित कमल पर छोटी-सी भ्रमर-पंक्ति मँडरा रही हो।

सामायिक प्रक्रिया सम्पन्न हुई और सुरबाला-सी उस अनुपम सुन्दरी ने धीमे-धीमे अपनी पलकें खोलीं, जैसे सीपियों के मुख खुल गये हों भीतर से कान्तिपूर्ण, विशाल नयन दमक उठे। पलकें अभी-भी चपलता के साथ ऐसी

टिमटिमा रही थीं मानो दो बाल-भृंग उड़ने का प्रयत्न कर रहे हों। कुछ ही पलों में सुन्दरी कुछ सामान्य हुई कि उसकी दृष्टि आगंतुक पुरुष पर पड़ी। भीतर तक वह झनझना उठी। यह अन्य पुरुष कौन ! यहाँ तक कैसे पहुँचा ! –उसके मन में आदि जिज्ञासा प्रश्न बनकर कसमसा उठी। स्वाभाविक प्रवृत्तिवश वह रोषयुक्त हो उठी। कंठ ने माधुर्य त्यागकर ओज ग्रहण कर लिया। तेजस्विता के साथ वह तनकर खड़ी हो गयी। क्षण मात्र में ही उसकी भ्रू कुंचित और नयन आरक्त हो उठे। तीव्र वाणी में उसने कहा–"पुरुष ! तुम कौन और यहाँ कैसे आ गये ?"

महाराज चन्द्रसेन अपना उत्तर संयोजित कर ही रहे थे कि उन्होंने सुना–"उत्तर शीघ्र दो, अन्यथा मेरी आशंका तुम पर प्रहार किये बिना चूकेगी नहीं।" यह कहते हुए बाला ने अपने हाथों में धनुष-बाण थाम लिया। वह रमणी मृदुल और लावण्यवती तो थी, किन्तु अबला नहीं–सबला थी। आत्म-रक्षा को सर्वथा सन्नद्ध रहती थी वह। इस दृष्टि से वह सक्षम भी थी। उसकी ओजस्विता से महाराज त्रस्त तो नहीं हुए किन्तु इस असामान्य, आदर्श नारी-रूप से प्रभावित अवश्य हुए। उन्होंने मन-ही-मन महामंत्र का जाप सम्पन्न करते हुए कहा–"विश्व-सुन्दरी ! हम तुम्हारे मित्र-वर्ग से हैं; शत्रु-पक्ष से नहीं। हमसे तुम्हारा कोई अहित स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। हम इस मणि के सहारे चम्पा-उद्यान से इस प्रासाद तक पहुँचे हैं।" यह कहते हुए महाराज ने अपनी मुट्ठी खोल दी। उनके करतल पर आलोक पिण्ड जगमगा उठा। मणि देखकर कन्या का मन विविध आशंकाओं से भर उठा। वह सोचने लगी कि कहीं पिता जी पर कोई संकट न आ गया हो। यह मणि इस आगंतुक के पास पहुँची कैसे ? प्रासाद तक पहुँचने के प्रयोजन से, सम्भव है इसने यह मणि पिता जी से बलपूर्वक हस्तगत कर ली हो। यदि ऐसा है तो अवश्य ही इसने उन पर आक्रमण किया होगा ! इस अपरिचित पुरुष का मंतव्य मणि प्राप्त करने अथवा यहाँ तक पहुँचने, इस प्रासाद पर अधिकार करने का नहीं हो सकता। ये तो साधन मात्र ही हैं–साध्य तो इसके लिए मैं ही रही हूँगी। मेरी सौन्दर्य-ख्याति से लुभाकर ही ····। वह आत्माभिमानिनी मन-ही-मन कसमसा उठी। त्वरा के साथ मंच की सीढ़ियाँ उतरकर वह झपटकर महाराज के समीप आ खड़ी हुई और बोली–"मुझे अल्पज्ञ और निरीह न समझना, मैं अशक्त और भीरु भी नहीं हूँ। सत्य-सत्य बताओ–यह मणि तुमने कैसे प्राप्त की है ?"

"प्राप्त करने का प्रश्न नहीं है सुन्दरी !" नरेश ने मुस्कराते हुए, कोमल स्वर में, नम्रता के साथ उत्तर दिया–"यह मणि हमारी उपलब्धि नहीं उपहार

है। तुम्हारे विद्याधर पिता ने यह मणि हमें आशिष के साथ प्रदान की है। उन्हीं के निर्देश पर तो हम यहाँ पहुँचे हैं।" इस नम्रता से सुन्दरी तनिक प्रभावित हुई। आवश्यक नहीं कि क्रोध के प्रत्युत्तर में कोपभाजन के मन में भी क्रोध जन्म ले, किन्तु विनय से विनय का ही उद्‌भव होता है। सच्चा विनय कभी निरर्थक नहीं रहता। अपनी वाणी में सायास माधुर्य और कोमलता घोलते हुए उसने प्रश्न किया–"फिर .... मेरे पिता कहाँ हैं? .... कैसे हैं वे?"

"विद्याधर सकुशल हैं, सुन्दरी !" महाराज चन्द्रसेन ने उत्तर में कहा। "तुम्हारी चिन्ता और व्यग्रता निर्मूल है, सर्वथा निरर्थक है। विद्याधर तो अब पहले से कहीं अधिक उत्तम स्थिति में हैं। उनकी चिर अभिलाषा पूर्ण हो गयी है। वे तो आत्मोत्कर्ष के लिए साधना-व्यस्त हो गये हैं। विरक्ति तो उनके मन में कभी से आ गयी थी, किन्तु तुम्हारा दायित्व जब तक उन पर रहा वे संयम ग्रहण करने की स्थिति में नहीं रहे। तुम्हारा भविष्य हमारे हाथों में सौंपकर वे अपने याचित मार्ग पर अग्रसर हो गये हैं। उनका सारा .... ।"

"तो .... तु .... आप .... आप कौन हैं? कृपया अपना विस्तृत परिचय दीजिये।" लज्जावनत दृष्टि के साथ कन्या ने अपने स्वर को मद्धिम करते हुए अनुरोध के साथ निवेदन किया। अनुकूल घड़ी आयी देखकर महाराज ने विस्तार से अपना परिचय दिया और चम्पानगरी की जनता की भावना तथा देवता की भविष्य वाणी का उल्लेख भी किया। उन्होंने कहा–"सुन्दरी ! हमें तुम्हारे विद्याधर पिता का निर्देश है कि हमारा-तुम्हारा परिणय अविलम्ब सम्पन्न हो जाय। यह हमारे-तुम्हारे, चम्पानगरी की प्रजा के लिए और राज्य के भविष्य के लिए–सभी के लिए न केवल शुभ; अपितु अनिवार्य भी हो गया है। तुम्हारे पिताश्री तो अग्रिम आशीर्वाद भी दे चुके हैं और विदा से पूर्व उन्होंने हमारे विवाहोपलक्ष्य में उपहारस्वरूप ही यह मणि मुझे प्रदान की है।"

इस कथन ने सुन्दरी के मानस में जैसे अमृत घोल दिया। उसे लगा जैसे फव्वारे से रंगीन फुहार निसृत होने लगी हो। पहली बार उसे कोकिल की कूक में सार्थकता अनुभव होने लगी थी। पुष्पों की सुरभि जैसे पहली बार ही साकार और आनन्दमयी हो उठी थी। कृतज्ञता भरे स्वर में उसने महाराज से निवेदन किया–"राजन् ! आपका संग पाकर मेरा जीवन धन्य हो उठा है। सचमुच आप शक्ति, शील और सौन्दर्य की त्रिगुणमयी विभूति हैं। आपकी अद्‌भुत सहिष्णुता और विनय की जितनी भी प्रशंसा की जाय–कम है।" गद्‌गद् कण्ठ से उसने कहा–"आप धर्म-प्रेमी हैं। समता-भावना के साधक और सामायिक के आराधक हैं। नवकार महामंत्र के आश्रय में आपकी

धर्म-भावना पल्लवित होती चली जा रही है। पिता के धार्मिक जीवन का ही संस्कार मुझमें भी विकसित हुआ है। धर्म-क्रियाओं को ही मैं भी अपना जीवनाधार मानती हूँ। आप जैसा जीवन-सहचर पाकर मैं प्रमुदित और उल्लसित हो उठी हूँ। आपने अपने उदात्त जीवन में मुझे स्थान प्रदान किया है–मैं इसे अपना शुभ कर्म फलोदय ही मानती हूँ। आशीर्वाद दीजिये कि मैं दासी रूप में आजीवन आपकी सेवा करती रहूँ।''–यह कहते हुए सुन्दरी महाराज के चरणों में झुक गयी। स्नेहपूर्वक महाराज ने उसे उठाकर गले लगा लिया। विशालाक्षी सुन्दरी के नेत्रों में अश्रु भर आये–आनन्द के अश्रु। ऐसा लगता था मानो मुक्तापूर्ण सुन्दर सीपियाँ खुल गयी हों। नरेश चन्द्रसेन ने कोमलता के साथ अपनी उँगलियों से ये जल-कण पोंछ दिये। किशोर रवि नव-राजदम्पति के प्रथम मिलन का साक्षी हो गया था।

× × ×

विश्व-सुन्दरी न केवल रूपसी थी, उसमें अन्य अनेक गुण थे। वह धार्मिक प्रवृत्ति की साहस-सम्पन्न नारी थी। वह अपने पिता से सुसंस्कार ग्रहण कर आचरण-व्यवहार में भी कुशल और सुशील हो गयी थी। आत्म-रक्षा के प्रयास में उससे जो व्यवहार-विषयक कठोरता हो गयी थी उसके लिए उसके मन में खिन्नताजनक खेद था। महाराज चन्द्रसेन के साथ आरम्भ में उसका जो वार्त्तालाप हुआ था उसके कारण उसके मन में अब अनुत्ताप होने लगा था। उसने उस कटुता के लिए क्षमा-याचना करते हुए कहा–''महाराज ! मुझे ज्ञात नहीं था कि आप नरेश और मेरे भावी पति हैं, इसी कारण .... ।''

''समय और परिस्थितियों के अनुसार ही मनुष्य का व्यवहार औचित्यपूर्ण हो सकता है सुन्दरी ! अच्छे-से-अच्छा व्यवहार भी सभी परिस्थितियों में तो अनुकूल और उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। उस समय की परिस्थिति के अनुसार तुम्हारा व्यवहार सर्वथा समीचीन रहा। हम उसके प्रशंसक ही बने रहेंगे। उसके कारण खेद और क्षमा-याचना कैसी ?'' महाराज ने प्रबोधन के स्वर में कहा और उसे आश्वस्त करने का यत्न किया।

सन्ध्या समय समीप आता जा रहा था। महाराज चन्द्रसेन और विद्याधर-पुत्री विश्व-सुन्दरी दोनों ने अपने-अपने ढंग से नवकार महामंत्र का जाप किया। इसके पश्चात् भी कुछ समय तक जाग्रत अवस्था में भी सुन्दरी जब खुले नयन ही ध्यानलीन-सी बैठी रह गयी तो महाराज ने धीमे स्वर में पूछा–''क्या हुआ? क्या अपने विद्याधर पिता की स्मृति में खो गयी हो?'' प्रश्न ने सुन्दरी को सचेत कर दिया। वह बोली–''पिता मुझे प्राणों से भी

अधिक चाहते रहे हैं। उनकी शिक्षा के आधार पर ही मैं जीवन बिता रही हूँ। वे आत्म-कल्याण की साधना हेतु चले गये–यह तो उनके लिए ही नहीं, हमारे लिए भी गौरव की बात है, तथापि जीवन में एक अभाव तो अनुभव होता ही है और अभाव पीड़ादायक भी होता है।" सुन्दरी के नयन फिर छलछला आये।

प्रीति के प्रभाव से नरेश का भी मन भर आया। प्रीतिपात्र की पीड़ा से द्रवित हो जाना, स्वयं को पीड़ित अनुभव करने लगना–सच्चे अनुराग भाव का परिचायक होता है। यह समानुभूति भी पारस्परिक रहती है। महाराज ने इसी अनुभूति के वशीभूत होकर कहा–"अभाव अवश्य ही कष्टकर होता है, किन्तु धर्म के मर्म की तुम तो सुविज्ञ हो। जीवन में समत्व भाव की महत्ता को भी तुमने हृदयंगम कर लिया है। ममता किसी के साथ नहीं, समता सभी के साथ–सुखी जीवन का यह स्वर्णिम सिद्धान्त है। ममत्व सभी क्लेशों की मूल होती है। पिता की स्मृति से दुःखित होने के स्थान पर उनके निर्देशों और अभिलाषाओं के अनुसार आचरण करना ही हमारा तात्कालिक धर्म है। हमें–हम दोनों को इसका अनुसरण करना चाहिए।"

"आपका कथन सत्य ही है–उपयुक्त ही है, महाराज !" सुन्दरी ने अनुमोदन किया और कहा–"नीति-संगत भी यही है कि हमारी पारस्परिक संगति परिणय के उपरान्त ही रहनी चाहिए। मैं जानती और मानती हूँ कि मेरे पिता आपके संग मेरे विवाह की अभिलाषा रखा करते थे, आपकी प्रतीक्षा के लिए उन्होंने चम्पा-उद्यान की वापी को अपना आवास बनाया था। हमें शीघ्र ही यथासम्भव आज ही वैवाहिक बंधन स्वीकार कर लेना चाहिए।" सुन्दरी ने स्पष्टता के साथ अपना मंतव्य प्रकट कर दिया। इस प्रत्यक्ष प्रस्ताव ने महाराज का कार्य सुगम और सहज कर दिया। इसी समय सुन्दरी ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा–"किन्तु पिता जी उपस्थित रहते तो उत्तम रहता उनके अभाव में कौन''''।"

कथन सम्पूर्ति के पूर्व ही महाराज ने निराकरण करते हुए कहा–"यह अनुरोध तो हमने स्वयं उनसे किया भी था, किन्तु वे तो तत्काल ही दीक्षोत्सुक हो उठे थे। वैसे विवाह की एक पद्धति के अनुसार यदि वर और वधू दोनों वयस्क हों, दोनों समगुणशील हों तो बिना किसी तृतीय पक्ष की उपस्थिति के भी वे परिणय-सूत्र में आबद्ध हो सकते हैं। किसी साक्षी या कन्या-दान के अभाव में भी वह विवाह सर्वथा मान्य ही होता है। क्या तुम ऐसे विवाह के पक्ष में हो?" महाराज ने सीधा-सपाट प्रश्न कर दिया।

सुन्दरी ने बेहिचक अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा–"यह पद्धति भी मान्य अवश्य होती है, किन्तु जगत् साक्ष्य सहित विवाह सम्पन्न होना अपेक्षाकृत अधिक उत्तम है। पितृश्री की उपस्थिति वैसे पर्याप्त रहती, किन्तु अब भी कोई साक्ष्य तो अपेक्षित ही रहेगा–चाहे वह पुरोहित ही क्यों न हों जो विवाह सम्पन्न करा दें।"

सार्वजनिक विवाह पद्धति की समर्थिका के रूप में सुन्दरी को पाकर महाराज बड़े संतुष्ट हुए। वे सोचने लगे कि एकाकी और गुह्य विवाह कभी भ्रामक भी हो जाता है, कतिपय जटिलताएँ उत्पन्न होने की आशंका रहती है। उद्दाम यौवन की स्वामिनी होते हुए भी सुन्दरी रंचमात्र भी कामातुर नहीं है, अन्यथा वह विवाह की प्रथम पद्धति के लिए ही सहमत हो जाती, जो तत्काल सम्भव था। इस निष्कर्ष ने महाराज को एक अद्‌भुत प्रसन्नता दी। उन्हें सुन्दरी की बुद्धिमत्ता और विवेकशीलता पर गर्वानुभव होने लगा। उन्होंने अपने स्वर में उसी अनुभूति को मिश्रित करते हुए कहा–"सुन्दरी ! हम तुम्हारे मत का आदर करते हैं। हाँ, किसी साक्षी का होना आवश्यक तो है और वह यदि विवाह सम्पन्न करा देने वाला पण्डित स्वयं ही हो तो इससे बढ़कर अन्य क्या बात हो सकती है ? हमें ऐसा ही करना चाहिए।"

अभी भी सन्ध्या होने में कुछ समय शेष था। नागमणि के सहारे महाराज वापी से बाहर निकल आये और अश्वारूढ़ होकर वे समीप के उसी नगर में पहुँच गये जहाँ से वे इत्रादि लाये थे। खोजने पर उन्हें एक पण्डित का पता भी मिल गया। खटखटाने पर द्वार खुला। एक सज्जन बाहर निकले। महाराजा ने प्रश्न किया–"पं. दीनाचार्य हैं ? हमें उनसे मिलना है।"

"जी···· मैं ही हूँ। कहिए क्या सेवा है ? लेकिन आप तो कोई···· क्षमा कीजिये, आप कौन हैं ?"

"हम कौन हैं–इससे कोई प्रयोजन नहीं। प्रयोजन तो इस बात का है कि हमारा कार्य हो जाना चाहिए। कहिये, पण्डित जी ! करेंगे न काम हमारा।"

"आपका कार्य···· क्षमा कीजिये···· कार्य है क्या आपका ? यह बताएँगे तभी तो मैं जान पाऊँगा कि मुझसे वह सम्भव है, अथवा नहीं।"

"काम तुम्हारे लिए सम्भव है पण्डित जी, सर्वथा सम्भव है। आप तो हाँ कीजिये और चलिये···· हमारे साथ।"

"कहाँ चलना है ? कार्य क्या है ? पहले यह तो बताइये।"

"पण्डित जी ! आपको हमारा विवाह सम्पन्न कराना है, अभी ही।"

"कन्या कौन है?"

"यह नहीं जानेंगे तब भी कोई अन्तर नहीं होने वाला है। निश्चिन्त रहें–विवाह सामान्य ही है।"

"चलना कहाँ होगा?"

"अधिक दूर नहीं, बस–चम्पा-उद्यान तक चलना होगा।"

"ना ना ना भैया ! हम नहीं चलने वाले चम्पा-उद्यान में। कौन प्राणों के संकट में पड़े ? वहाँ तो वह बड़ा भयंकर विषधर रहता है।"

"घबराइये नहीं''''पण्डित जी, घबराइये नहीं। अब वहाँ कोई नाग नहीं रहता। आप निःसंकोच चलें। हम जो हैं आपके साथ''''कोई संकट नहीं है।"

पण्डित जी अब भी आश्वस्त नहीं हो पा रहे थे। थर-थर काँपते हुए वे हाथ हिलाकर, मस्तक डोलाकर, जीभ हिलाकर मना करते रहे। कँपकँपी के मारे उनकी शिखा खुल-खुल जा रही थी। जनेऊ बार-बार काँधे से फिसलती जा रही थी। इस भयाक्रान्त दशा को देखकर महाराज को बरबस अपना हास रोकना पड़ रहा था। महाराज ने स्वर्ण-मुद्राओं से भरी थैली अपने हाथ में झुलाई कि वह खनखना उठी। इस खनक ने पण्डित जी की कँपकँपी कम कर दी। उनके नेत्र गोल-गोल घूमने लगे थे। वे बोले–"चलिये जजमान, चलिये। मुझे चलना ही चाहिए। इस परोपकार के मार्ग से पीछे हटना ठीक नहीं–यह मैं अब समझ गया हूँ। मुझे चलना ही चाहिए, आपके साथ।" पण्डित जी ने सौजन्य दिखाते हुए कहा और अपनी खड़ाऊ पहनकर आवश्यक सामग्री, पोथी आदि लेकर नरेश के साथ चल पड़े।

अश्व से उतरकर चम्पा-उद्यान में आगे बढ़ते हुए पण्डित जी फिर काँप उठे। उद्यान के अनुपम सौन्दर्य का आनन्दप्रद प्रभाव होने के स्थान पर उनका मन तो भयानक विषधर की काल्पनिक आशंका से ही मस्त रहा। सुखात्मक भाव बड़े दुर्बल और कोमल होते हैं। दुःखात्मक भावों की कठोरता और सशक्तता उन्हें कुचलकर रख देती है। दुःख प्रायः कल्पनाजन्य ही अधिक होते हैं। प्रत्यक्ष होने पर वे कदाचित् उतनी पीड़ा नहीं देते, जितनी उनकी भावी आशंका। जब नरेश उन्हें वापी की ओर ले जाने लगे तो वे काँप ही उठे। लौटकर वे तो घर को भाग जाने को तत्पर हो गये। बहुत प्रबोधन के पश्चात् ही महाराज उन्हें प्रासाद तक लेकर आ सके।

सादगी के साथ विवाह सम्पन्न हो गया। पण्डित जी की साक्षी ने इस विवाह को सार्वजनिक और सामाजिक मान्यतापूर्ण बना दिया था। महाराज

चन्द्रसेन और विश्व-सुन्दरी दोनों के ही मन में अपार संतोष था, प्रसन्नता थी, आनन्द था। पण्डित जी का मन तो आशातीत द्रव्य-प्राप्ति से अघा गया था।

महाराज ने शपथ ग्रहण की कि मेरी तेरह पत्नियाँ हैं। इन्हें छोड़कर संसार-भर की समस्त स्त्रियों को मैं माता और बहिन के रूप में ही देखूँगा। यदि मैंने दीक्षा ग्रहण कर ली तो ये भी मेरे लिए बहिनों के समान हो जाएँगी। विश्व-सुन्दरी ने भी प्रतिज्ञा ग्रहण की कि महाराज चन्द्रसेन मेरे पतिदेव हैं इनके अतिरिक्त जगत् के सभी पुरुष उसके लिए पितृ और भ्रातृ-तुल्य होंगे। पति-पत्नी दोनों में से कोई भी दीक्षा ग्रहण कर ले तो ये भी उसके लिए भ्रातृ-रूप हो जाएँगे। कहा जाता है कि बड़ी-से-बड़ी शपथ का भी ग्रहण किया जाना सुगम होता है, किन्तु छोटी-से-छोटी शपथ का भी पूर्णतः पालन दुष्कर होता है।

ऐसी प्रतिज्ञा-पालन में मूल कठिनाई यह रहती है कि दैहिक गतिविधियों को तो मनुष्य फिर भी नियंत्रित कर ले, किन्तु मन की चंचलता सुगमता के साथ वशीकृत नहीं हो पाती। यही पालन की अपूर्वता है। मनोनिग्रह की तीव्र आवश्यकता बनी रहती है। तन-मन को एक-रूप करने के लिए मन को साधना अत्यावश्यक है और यह सामायिक की अनवरत साधना से क्रमशः सम्भव होता चला जाता है। यह शुभ संयोग ही था कि यह नव-राजदम्पति इस साधना की अभ्यस्त थी। सामायिक मन को अंकुश में लाने की एक अचूक और समर्थ कला है। इस साधन में वाणी और तन तो स्थिर हो ही जाता है मन को भी स्थैर्य की प्रेरणा मिलती रहती है। वह भी धीरे-धीरे अपने इन अन्य संगियों की भाँति स्थिर होने की ओर बढ़ता चला जाता है। आवश्यकता इस साधना के प्रति दृढ़ आस्था और निरन्तर अभ्यास की ही है।

● ●

विद्याधर के वापी-स्थित वैभवयुक्त प्रासाद में राज-दम्पति का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता रहा। महाराज चन्द्रसेन विश्व-सुन्दरी जैसी धर्मपत्नी पाकर अपार प्रसन्न थे। वह स्वयं भी धार्मिक प्रवृत्तियों में रस लेती थीं और अपने स्वामी–महाराज को भी धर्माचरण में प्रबल बनाये रखती थीं। 'धर्मपत्नी' का अर्थ ही यही है कि जो पति को धर्म-मार्ग पर अग्रसर होते रहने को प्रेरित करे, इसमें सहकार करे और अपने स्वामी का जीवन धर्ममय ही बना दे। विश्व-सुन्दरी अपनी इस भूमिका के निर्वाह में निपुणता के साथ जागरूक और सक्रिय रहा करती थी। गृहस्थाश्रम में जीते हुए भी नवीन रानी विश्व-सुन्दरी और महाराज चन्द्रसेन का जीवन अद्‌भुत रूप से संयत और नियमित रहा करता था। परिणय ने उनका कायिक सम्बन्ध तो स्थापित किया ही था–इससे भी बढ़कर सुदृढ़ आत्मिक बन्धन स्थिर कर दिया था। वे 'दो काया–एक आत्मा' का रूप बन गये थे। एक-आत्मा की संज्ञा यों भी चरितार्थ होती थी कि दोनों सम-प्रवृत्ति थे, दोनों की धर्मप्रियता समस्तरीय थी। पति-पत्नी दोनों ही धर्माचरण के क्षेत्र में सहगामी थे, परस्पर पूरक और प्रेरक थे।

"धर्म का मार्ग दुर्गम तो नहीं है, किन्तु सर्व सुलभ और सहज भी नहीं है। सुगम होते हुए भी इस मार्ग का पथिक होना पूर्व-कृत कर्मों के प्रतिफल रूप में ही सम्भव हो पाता है। सत्संगति की सुलभता ही ऐसा संयोग है जिससे धर्म-भावना अंकुरित और विकसित हो पाती है।" महाराज चन्द्रसेन ने इस भूमिका के साथ अपना वृत्तान्त प्रस्तुत करना चाहा–"रानी सुन्दरी ! जन्म से कोई न तो धार्मिक होता है, न ही अधार्मिक। वह जैसे वातावरण में रहता है वैसा ही ढलता चला जाता है। धर्मप्रिय-जनों की सत्संगति की इसी कारण परम महत्ता समझी जाती है।" एक क्षण विराम लेकर लम्बी साँस छोड़ते हुए महाराज ने कहा–"प्रिये ! आज हमारी धर्म के प्रति गहन आस्था और रुचि तो है, किन्तु हम सदा से ही ऐसे न थे। धर्म-रहित जीवन भी हमने बिताया और खूब बिताया है। वह जीवन हमें कभी सुखमय भी लगा–यद्यपि वह सुख नहीं सुखाभास मात्र था। सच्चे रूप में तो दुःख का भाव ही रहा करता था। यह विराट् संत्रास भाव कभी क्रोध और ईर्ष्या के रूप में रहता, कभी

पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा के रूप में। कभी लोभ और ममता के वेश में यह होता तो कभी अभावों के आभास के रूप में। यही भाव कभी आकांक्षाओं-अभिलाषाओं का रूप भी ले लेता था। इन सभी कुत्सितों का परिणाम पीड़ा और दुःख के रूप में ही सामने आता था। किन्तु एक समय ऐसा भी आया कि हमारा समग्र कायापलट ही हो गया। इस हृदय-परिवर्तन का मूल हमारी राजरानी कल्याणवती रही हैं–इसमें रंचमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है।''

''राजरानी प्रबल धार्मिक प्रवृत्ति की महान् महिला हैं। उनकी प्रेरणा और सद्प्रयासों से ही हम ऐसे हैं। उनकी संगति से यह परिवर्तन चाहे कुछ विलम्ब से ही आया हो, किन्तु अब हमारा परिवर्तित रूप परिपक्व और प्रबल हो गया है।'' महाराज कहते जा रहे थे और रानी सुन्दरी दत्तचित्त होकर सुनती जा रही थीं। ''राजरानी ने स्वयं अपना आदर्श भी हमारे सामने रखा और सन्त-संसर्ग भी कराया। राजरानी का जीवन-दर्शन ही भिन्न प्रकार का है। वे समता-भावना की आराधिका हैं। किसी प्रकार का आग्रह-दुराग्रह नहीं, किसी से राग-विराग नहीं, किसी की ममता-द्वेष नहीं। यही कारण है कि अभावग्रस्त उन्हीं परिस्थितियों में हम कामनातुर, चिन्ताग्रस्त तथा उद्वेलित और आकुल-व्याकुल रहे और वे परम संतुष्ट, शान्तिपूर्ण और सुखमय जीवन जीती रहीं। कर्म सिद्धान्त में उनका अटूट विश्वास है। आज के सुख अथवा दुःख पूर्व-कर्मों के अधीन मानती हैं वे और इसलिए विद्यमान स्थितियों पर शोक अथवा चिन्ता को व्यर्थ समझती हैं। दुःख को शुद्ध भाव के साथ भोग लेने में ही सच्ची विवेकशीलता है। राजरानी का कहना है कि अशुद्ध भावों के साथ आचरण से नये अशुभ कर्म-बन्ध होते हैं–इनसे बचना चाहिए। सामायिक की साधना आत्म-परिष्कार और उत्कर्ष का समर्थ साधन मानने वाली राजरानी का अटूट विश्वास नवकार महामंत्र में है। यह सभी संकटों से बचाने वाला एक सुदृढ़ रक्षा कवच है। इसके प्रभाव से सभी व्यवधान समाप्त हो जाते हैं। राजरानी का प्रभाव मेरे मन पर भी हुआ और मेरा जीवन ही परिवर्तित हो गया।''–संतोष की मधुर मुस्कान के साथ महाराज ने आत्मकथ्य पूर्ण किया।

स्वामी की जीवन-गाथा का सार रानी विश्व-सुन्दरी ने सुना-गुना, उसे हृदयंगम किया। ऐसे धर्म-प्रिय पति का संग पाकर वह अपने जीवन को धन्य मानने लगी थी। वे तन से सुन्दर, वीर, बलवान और आकर्षक हैं और मन से धार्मिक, स्नेही और शीलवान हैं। यह मणिकांचन संयोग मेरे स्वामी को दिव्य-विभूति बना रहा है। ''यह मेरे शुभ कर्मों का फलोदय ही है नाथ ! कि आपने मुझ जैसी नारी को अपनाया।'' सुन्दरी ने गद्गद् स्वर में कहा–''मेरी धर्माभिरुचि आपके आचरण से प्रभावित होकर विकसित और अभिवर्धित

होती चली जाय–मेरा कर्त्तव्य इस दिशा में सचेष्ट रहने का रहेगा। आपका और मेरा सम्बन्ध तो काया और छाया जैसा है और बना रहेगा। मैं अनुगामिनी ही बनी रहूँगी आपकी। इसी में मैं अपने जीवन की सार्थकता मानती हूँ। भाव जगत् के वे ही क्षेत्र मेरे विचरण के रहेंगे जो आपके हैं।" भाव-विभोर-सी सुन्दरी अपने पति की अपार क्षमताओं में अटूट आस्था रखने लगी थी और स्वामी के संरक्षण में स्वयं को सर्वथा संतुष्ट और सुखी मानती थी। उसने कहा–"हमारे समाज में नारी का वर्चस्व कौमार्यकाल में पिता के संरक्षण में निर्मित होता है, यौवनावस्था में वह पति के संरक्षण में पुष्ट होता है और जरावस्था में वह पुत्र के सान्निध्य में पुष्पित-फलित होता है। सौभाग्य है यह मेरा कि मेरे पिता भी धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। बाल्यकाल से मुझे धर्म-स्नेह रहा। पिता जी ने संस्कार ही इसी प्रकार के दिये। उन्होंने धर्म प्रक्रियाओं का अभ्यास भी कराया और उनकी महत्ता से भी मुझे परिचित कराया। उन्हीं संस्कारों और प्रवृत्तियों के विकसित और प्रबल होने का जब उपयुक्त समय आया है तो मुझे आपका परम धार्मिक संसर्ग सुलभ हो गया है। यह मेरे लिए अपार हर्ष का आधार है।" रानी सुन्दरी का कथन पूर्ण होते-होते उसके नेत्र आर्द्र हो उठे और वह नत शिर कहती रही–"नाथ ! मेरी जीवन-नैया के आप ही खेवैया हैं। आप ही इसे जिस तट पर चाहें, पहुँचाएँगे।"

महाराज ने भाव-विभोर होकर रानी को आश्वस्त किया। कुछ पलोपरान्त उसने धीमे स्वर में कहा–"नवकार में मेरी भी अचल आस्था है, सामायिक भी नियमित आराधना की भी मैं अभ्यस्त हूँ। समता-भावना की साधना में भी कदाचित् मैं पीछे नहीं हूँ। मैं कर्म-फल के सिद्धान्तानुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करती हूँ। धर्म-भावनाओं में फिर भी अभी परिपक्वता नहीं आ पायी है। मुझे इस मार्ग में आपके उदात्त जीवन और उत्प्रेरक आचरण से स्थिरता और पुष्टता मिले, राजरानी दीदी का संसर्ग उसे और भी निखार दे– मेरी तो यही कामना है।"

महाराज ने स्निग्ध स्वर में कहा–"रानी धर्म के मार्ग में सभी पथिक एक-दूसरे के सहयोगी और सहकारी होते हैं। सहयात्री और सहकर्मी तो वे होते ही हैं, सहगामी होने के नाते परस्पर पूरक भी होते हैं। एक के अभाव की पूर्ति अन्यों से होनी ही चाहिए। हमें तुम्हारे धर्माचरण से प्रेरणा मिले, हमारी साधना से तुम्हें कोई नया मार्ग मिले–यह स्वाभाविक ही है। मेरी मनोकामना यही है कि तुम धर्म-साधनाओं में अपना एक उत्तम आदर्श स्थापित करो।"

महाराज ने एक दिवस अनुकूल मानसिक अवसर पाकर रानी से कहा– "सुन्दरी ! निश्चय ही तुम्हारे पूर्व-कृत कर्म शुभ रहे हैं और उन्हीं के परिणामस्वरूप इस भव में तुम्हें यह रूप राशि और यह अपार सुख-वैभव प्राप्त हुआ है। अब आगामी भव के सुखों के लिए तुम्हें इस जीवन में शुभ कर्म करने चाहिए। यही उपयुक्त मानवीय जीवन-शैली है।"

"वही .... वही तो सन्मार्ग आपसे सीखना है।" विश्व-सुन्दरी ने कहा और उत्सुकतापूर्वक महाराज का मुख निहारने लगी। महाराज ने भी आश्वस्त किया–"रानी ! तुम्हारे रक्त में ही धर्माणु विद्यमान हैं। केवल उन्हें विकसित होने का अनुकूल वातावरण चाहिए। वह भी तुम्हें अब सुलभ हो गया है। अस्तु, आशाजनक परिस्थितियाँ तो बनी हैं, अब तुम्हें आगे बढ़कर सायास उनसे लाभ उठाना होगा।" रानी का मन उत्साह से भर उठा।

रानी का आकर्षक रूप-सौन्दर्य, उसकी चपल चितवन, उसके मनो-मुग्धकारी हाव-भाव उसे वस्तुतः दिव्य-अलौकिक सुन्दरी का स्थान दिलाते थे। उसकी गजगामिनी गति, उसके विशालाक्ष, उसकी धनुषाकार भौंहें और नागिन-सी शिखा उसके यौवन के सहज अलंकार थे। शृंगार की प्रवृत्ति उसके रूप-वैभव को और भी अधिक समृद्ध कर देती थी और वस्त्रालंकारों की शोभा तो मानो उसका दैहिक संसर्ग पाकर स्वयं ही सुन्दरतर हो उठती थी। यह यौवन, यह रूप महाराज को किसी भी प्रकार आकृष्ट नहीं कर पाता था। वे हाव-भावों के वन में भटक जाने वाले मृग न थे। वे गृहस्थ तो थे, किन्तु संयत और स्वाधीन थे, पराधीन वे नहीं होते थे। अपने जीवन के नियामक वे स्वयं थे, अतः उन्हें अपने मन पर लगाम लगाने की भी आवश्यकता नहीं रहा करती थी। वे तो जल-मध्य कमलवत् निर्लिप्त रहने की कला के मर्मज्ञ थे। उन्हें यही अनुभव होता रहता था कि रानी सुन्दरी का जीवन अभी तक धर्मोन्मुख नहीं हो पाया था। वे यह भी मानते थे कि सुन्दरी उनकी अर्द्धांगिनी है और इस नाते उसकी हित-साधना का दायित्व भी उन पर आता है। वे इस दायित्व-पूर्ति हेतु चिन्तन भी करने लगे थे। वे यह भी मानते थे कि इसी रानी का पुत्र जब चम्पानगरी का युवराज भावी शासक होने वाला है और हम योग्य और परम्परानुकूल भव्य और दिव्य गुणों वाला ही भावी नरेश देना चाहते हैं तो रानी का आत्मिक उत्थान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। हमें यह पूर्ति करनी ही होगी–रानी का जीवन पूर्णतः धर्माचरणयुक्त हो जाना चाहिए। उन्हें अपने इस लक्ष्य में सफलता का पूरा विश्वास भी था। उन जैसा व्यक्ति भी राजरानी के प्रयत्नों से ऐसा हो गया तो सुन्दरी को धर्म-साँचे में ढालना कठिन नहीं है। फिर इसमें तो आध्यात्मिक वातावरण बना हुआ है

यह हमारे अनुकरण को भी श्रद्धापूर्वक तत्पर है–फिर इसके आन्तरिक परिवर्तन की आशा को प्रबल ही मानना चाहिये।

एक सन्ध्या को महाराज और महारानी उत्फुल्ल मन के साथ प्रासाद के अन्तरंग उद्यान में बैठे थे, अनुकूल घड़ी पाकर महाराज ने चर्चा आरम्भ की। वे बोले–"रानी विश्व-सुन्दरी, सुनो–इस जगत् में पति-पत्नी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही अर्द्धांग हैं–दोनों मिलकर ही सम्पूर्ण और समग्र बन पाते हैं–ऐसे में दोनों में वैचारिक साम्य अत्यन्त आवश्यक होता है। पति-पत्नी की एक विचारधारा हो, एक-सा दृष्टिकोण हो; दोनों का मनोजगत् एक-रूप हो– तभी दोनों के जीवन में सुखागम सम्भव हो सकता है। सुन्दर और सफल समायोजित जीवन के लिए यह अत्यावश्यक है कि पति जैसी ही पत्नी भी हो। दोनों को···· ।" "इस तथ्य को मैं हृदय से स्वीकार करती हूँ नाथ !" रानी कथन-मध्य ही बोल पड़ीं–"मैं आपके प्रति समर्पित एक पतिव्रता स्त्री हूँ। आप ही मेरे आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं। जो आपका मार्ग है–मुझे भी उसी पर गतिशील रहना होगा। आपके चरण-चिह्न ही मेरे लिए चरण-स्थल बने रहेंगे। मैं सहगामिनी नहीं अनुगामिनी बनकर ही रहना चाहती हूँ, रहूँगी। मुझमें जितनी भी बुद्धि, विवेक, ज्ञान और चैतन्य है–सभी मुझे इसी की प्रेरणा देते हैं। मेरे माता-पिता–दोनों ही धर्माचारी रहे हैं। उनकी प्रवृत्तियों का मुझ पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष प्रभाव है। मैं उस प्रभाव को जाग्रत करने की प्रबल इच्छुक भी हूँ।"–यह कहते-कहते रानी का मुख-मण्डल एक दिव्याभा से भासमान हो उठा।

धर्म-पत्नी का कथन सुनकर महाराज हर्षावेग से मुस्करा उठे। इस मुस्कान पर रानी विश्व-सुन्दरी को परम संतोष का अनुभव हुआ कि वह स्वयं को उपयुक्त रूप में महाराज के समक्ष सम्प्रेषित कर पायी हैं। महाराज ने तब शान्त भाव से प्रबोधन के स्वर में कहा–"रानी सुन्दरी ! सुनो, अभी तुम्हारे जीवन में धर्म को समीचीन महत्ता का स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। इसी कारण हमें यह सब-कुछ कहना पड़ रहा है। किन्तु धर्म-विकास की पूरी-पूरी सम्भावनाएँ हमें तुममें दृष्टिगत होने लगी हैं। इस शुभ संकेत से हम परम उत्साहित हुए हैं।" महाराज सोत्साह एक बार तो अपना कथन समाप्त कर मौन हो गये, किन्तु आगामी क्षण में ही वे पुनः मुखरित हो उठे–

"धर्माभाव में जीवन मूर्च्छित और निष्प्राण स्थिति में ही रहता है। धर्माराधना के मंगलाचरण के रूप में जो प्रक्रिया प्रतिष्ठित है वह सामायिक है। बिना चूक, नित्य ही, प्रातः-सायं सामायिक की साधना करनी चाहिए। सामायिक में अपने अहर्निश कार्यों का समीक्षण होता है। यह स्वयं द्वारा स्वयं

की आलोचना होती है, अतः सर्वथा निष्पक्ष और तटस्थ भाव से होनी चाहिए। सामायिक में सभी सावद्य योगों का परित्याग किया जाता है। अट्ठारह प्रकार के पाप भी इसमें सम्मिलित होते हैं। ऐसे पापों में पहला ही हिंसा है। हिंसा-रहित व्यवहार ही अहिंसा है।" मनुष्य को दस प्राणियों की हिंसा से स्वयं को बचाना चाहिए–इस सिद्धान्त की महत्ता समझाते हुए महाराज ने प्राणियों की दस कोटियों के स्वरूपों की व्याख्या भी की और कहा–"जितने अशुभ कर्म किये जाते हैं उनके अशुभ फल भी अवश्यंभावी होते हैं–उन्हें दुःख रूप में भोगना पड़ता है, किन्तु यह सामायिक जितने उत्कृष्ट रूप में की जाती है उतनी ही अशुभ कर्मक्षय की शक्ति उसमें आ जाती है। सामायिक इस प्रकार बिना अशुभ फल भोगे ही हमारे अनेक अशुभ कर्मों को निरस्त और निष्फल कर देती है।

"सामायिक-साधना जीवन-विकास के लिए अनमोल और अमोघ साधन है।" यह स्वीकार करते हुए रानी विश्व-सुन्दरी ने इस साधना में प्रवृत्त रहने का संकल्प लिया और इसकी विधि महाराज से सीखी भी। इस प्रकार इस राज-दम्पति का धर्माचरण अनवरत रूप से चलता रहा। दोनों ही गृहस्थाश्रम में थे–यह एक तथ्य था, किन्तु दोनों धर्म-पति और धर्म-पत्नी थे। पति-पत्नी के पूर्व भी उनमें धर्म-भाव था और वह अधिक प्रमुख था। उनका दाम्पत्य कभी भी काम-सापेक्ष्य नहीं रहा। कर्म-फलानुसार इस दम्पति को पुत्र-प्राप्ति भी होनी ही थी। जब रानी की इस स्थिति का आभास होने लगा तो महाराज चन्द्रसेन ने विवेकपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लिया। आगत सन्तति के समुचित विकास और धर्माचरण के लिए यह दम्पति पूर्णतः धर्माराधना में प्रवृत्त रहने लगी। धर्ममय जीवन का अपना ही एक अनूठा आनन्द होता है, उस रस में लीन रहने का स्वभाव जिनका हो जाता है, वे सम-भाव के साथ सर्वजन-हिताय जीवन जीने लग जाते हैं और आत्मोत्कर्ष के सोपान चढ़ते चले जाते हैं।

काल-प्रवाह सहज गति से होता रहा। महाराज चन्द्रसेन और रानी विश्व-सुन्दरी का धर्माराधनापूर्ण गृहस्थ जीवन अपने समग्र माधुर्य और आनन्द के साथ व्यतीत होता रहा। सामायिक साधना के परिणामस्वरूप दोनों ही सदा प्रसन्नचित्त रहा करते थे। महाराज तो कहते भी थे कि कोई मनोभाव आवश्यक रूप से अपने वास्तविक परिमाण में व्यक्त हो जाता है तो वह प्रसन्नचित्तता है। इससे अपने और पराये सभी क्षोभ और दुःख दूर भाग जाते हैं। एक अवसर पर, ऐसे सदा प्रसन्न दिखायी देने वाले महाराज के मुख-मण्डल

पर चिन्ता का भाव दिखायी दिया तो रानी उसका कारण पूछ बैठी। महाराज ने भी अपनी चिन्ता के विषय को गुह्य नहीं रखा, बोले–"प्रिये, अब गर्भ परिपाक की स्थिति समीप है। ऐसे में हमें एकाकी नहीं रहना चाहिए। ऐसे अवसरों पर बाह्य सहायताएँ अपेक्षित हो जाती हैं। शिशु-हित में हमें अनुकूल निर्णय ले लेना चाहिए। अब इसमें विलम्ब न करना ही उचित है। चिन्ता का विषय जान लेने पर श्रोता का भी क्षणिक रूप से चिन्ताग्रस्त हो जाना स्वाभाविक भी है, किन्तु वही समस्या-समाधान हेतु उपयुक्त सुझाव भी दे सकता है। रानी ने समस्या की गम्भीरता का अनुमोदन करते हुए कहा–"आप उचित ही कहते हैं महाराज ! हमें तत्काल यह स्थान त्याग देना चाहिए।"

महाराज के लिए स्थिति तनिक सुगम हो गयी। वे जिस प्रस्ताव के लिए हिचकिचा रहे थे वह स्वयं रानी की ओर से आ गया था। महाराज ने रानी के विचार से अपनी सहमति व्यक्त की और वातावरण में एक हल्का-फुल्कापन आ गया। नीले आकाश में फैले श्वेत मेघ सिन्दूरी हो उठे। सूर्यास्त होने को था। राज-दम्पति सामायिक-साधना के लिए तत्पर होने लगे।

● ●

चम्पानगरी वधू जैसी सज-सँवर गयी। चारों ओर आमोदपूर्ण वातावरण छा गया था। घर-घर में मंगल वाद्य निनादित होने लगे। जन-जन परस्पर बधाइयों का आदान-प्रदान करने लगे। सर्वत्र मंगलाचार होने लगा। राज्य की चिर आकांक्षा जो पूर्ण होने वाली थी। जनता को उसका युवराज प्राप्त होने वाला था। राजकुलोत्पन्न भावी नरेश सम्बन्धी आशाएँ अब पूर्ति के समीप ही थीं। विद्युत्-वेग के साथ सारे राज्य में यह शुभ समाचार फैल गया कि महाराज चन्द्रसेन ने एक विवाह और किया है और नयी रानी विश्व-सुन्दरी राजपुत्र को जन्म देने वाली हैं। सभी पथों को तोरण द्वारों से सज्जित किया गया था। रात्रि में दीपमालाओं से यह नगर जगमगा उठा। लगता था, जैसे तारों भरे आकाश का एक खण्ड धरती पर उतर आया था।

राजकुल में स्थिति बड़ी विचित्र थी। राजरानी कल्याणवती और जयावती पुत्र-लाभ की स्थिति से अवगत होकर अत्यन्त हर्षित और उल्लसित हुईं। उन्होंने नगर-बाह्य उद्यान-प्रासाद–चन्द्रालोक में प्रवासित महाराज चन्द्रसेन और रानी विश्व-सुन्दरी को बधाई सन्देश और मंगल-कामनाएँ प्रेषित कीं। राजरानी को तो प्रसन्नता इस बात की थी कि उनका प्रयत्न सफल हुआ। उन्होंने महाराज को साधना, सत्संगति और शुद्ध विचारों के साथ जीवन-यापन की शैली सिखायी थी, अब उसी का शुभ परिणाम आने वाला है। महाराज अपने शुद्धाचरण और शुभ भावनाओं के बल पर, सामायिक-साधना द्वारा अशुभ कर्मों का क्षय करने में समर्थ हुए हैं और उनके शुभ कर्मों के फलोदय का समय समीप आ रहा है। राजरानी कल्याणवती को महाराज की इस उपलब्धि पर असीम गर्व का अनुभव होने लगा था। उनकी मान्यताओं पर पुष्टि की मुद्रा अंकित हो गयी थी। जयावती को भी हार्दिक प्रसन्नता थी कि राजवंश को कुल-दीपक मिल रहा है। स्वामी की चिर अभिलाषा अब पूर्ति के समीप है। स्वामी की अपार प्रसन्नता स्वयं उनके लिए भी हर्ष का विषय बन गयी थी। पति की सुख-कामना भला कौन शीलवती नारी नहीं करती और इस कामना की पूर्ति पर जो सच्चा सुखानुभव होता है उसकी समकक्षता अन्य कोई भी सुख नहीं कर पाता।

राजभवन में भी मंगलाचार होने लगे। समारोहों के आयोजन होने लगे। नाचरंग होने लगे। गुलाल-अबीर उड़ी। मिष्टान्न-वितरण हुआ, दान-दक्षिणा के दौर चले। सर्वत्र एक नवीन सप्राणता का संचार हो गया। किन्तु महाराज चन्द्रसेन की अन्य दस रानियों की दशा भिन्न ही प्रकार की थी। उन्हें तो पुत्र-प्राप्ति की आशा का यह संदेश भयावह विषवत् लगा। ये रानियाँ तो ऐसा अनुभव करने लगीं जैसे उन्हें सजीव ही चिता में झोंक दिया गया हो। ज्वालाओं की दाहक पीड़ा उनके रोम-रोम को संत्रस्त करने लगी। उनके अन्तर में ईर्ष्याग्नि धू-धू कर धधकने लगी थी।

चन्द्रालोक में समस्त व्यवस्थाएँ समुचित रूप से कर दी गयी थीं। राज्य की सर्वाधिक कुशल और अनुभवशीला दाई सलखू नाइन को रानी विश्व-सुन्दरी की देखभाल और सेवा-टहल का कार्य-भार जब सौंप दिया गया तो महाराज कुछ निश्चिन्त हो गये। तथापि उनके मन के किसी कोने में चिन्ता का कोई बीज छिपा रहा। एकान्त क्षणों में वह अंकुरित भी हो उठता, किन्तु उस पर जागरूकता और सतर्कता की कलियाँ ही खिलतीं। महाराज सारी व्यवस्थाओं का स्वयं निरीक्षण करते और आवश्यकतानुसार उनका पुनर्संयोजन भी करते। इसी प्रकार समय व्यतीत होता रहा। आसन्न-प्रसवा रानी धर्म-साधना में लीन रहतीं। सद्विचारों का भव्य वातावरण ही उसे घेरे रहे, प्रफुल्लता ही उसके मनोजगत् में छायी रहे, उल्लास और उमंग की तरंगों में उसका हृदय दोलित रहे—महाराज का भी ऐसा सफल प्रयास बना रहता। सलखू की विवेकपूर्ण सेवाएँ उनके लिए सुरक्षा की आश्वासन थी हीं। रानी स्वयं भी संतुष्ट थी। वह तो अब शिशु के आगमन की प्रतीक्षा में थी। उसके खुले नयन अपनी गोद में चपल शिशु राजपुत्र की हलचल देखने लगे। उसके कान शिशु के रुदन और कभी-कभी किलकारियों से गूँज उठते। आहा ! कैसी कोमलता है ! आँखें तो मानो कमल-कली ही हों। कैसा गुड्डे जैसा छोटा-सा रूप है ! मैं तो अपने राजकुमार का नाम रखूँगी ·····। और तभी वे चेतना जगत् में लौट आतीं। स्वप्न-लोक का वह सुख बड़ी देर तक उसे गुदगुदाये रखता। मातृत्व का जो वरदान नारी को प्राप्त है, वही उसके जीवन-साफल्य की आधार-शिला है। यही वरदान साकार होकर वात्सल्य-भाव को पुष्ट करता है जिसमें समस्त नारीत्व निहित रहता है। यही नारीत्व अब उसके लिए सुलभ हो रहा है—यह सोच विश्व-सुन्दरी को आनन्द और उत्साह से भर देता था। उसे अपने चारों ओर शिशु-ही-शिशु दिखायी देते। वह स्वयं को किलकारी भरते शिशु, दुई दँतियों से किलकते शिशु से, हाथ-पाँव उछालते शिशु से, पैर का अँगूठा मुँह में लेते शिशु से, डिठौना लगे चन्द्रसम

सुन्दर शिशु से घिरी हुई अनुभव करती। कोई उसके आँचल में अपनी कोमल उँगलियाँ उलझाकर रुदनशील हो जाता तो कोई आहार-आतुर होकर चंचल हो उठता। कोई उसकी ओर लपककर मानो गोद में चढ़ जाने को व्याकुल दिखायी देता। उसके हाथ झटके के साथ आगे बढ़ते और तभी मानो यथार्थ के किसी पवन झकोरे से उसका मानसरोवर लहरा उठता, सारे चित्र लहरों में खो जाते और विश्व-सुन्दरी अपने सपने के साकार होने की प्रतीक्षा में खो जाती।

महाराज चन्द्रसेन तटस्थ भाव से, निर्ममत्व भाव से, निरपेक्ष भाव से भवितव्य की प्रतीक्षा में थे। बार-बार उनके कानों में देवता की यह घोषणा प्रतिध्वनित होती रहती कि पुत्र-योग अटल है। स्वर्णनगरी को उसके युवराज की प्राप्ति होकर रहेगी। और वे आश्वस्त हो जाते, निश्चिन्त हो जाते। सामायिक-साधना नरेश और रानी–दोनों की सघन हो गयी थी। नवकार मंत्र का जाप भी बढ़ गया था। धर्माचरण का सुरक्षा आच्छादन प्रगाढ़तर होता जा रहा था। सलखू दाई से वे नित्य-प्रति रानी और गर्भस्थ शिशु के विषय में जानकारी प्राप्त करते और कुशल स्थिति से अवगत कर संतुष्ट हो जाते। तब वे राजकाजार्थ राजभवन में चले जाते।

विवेकशीलजन अपने समस्त करणीय कार्यों में संतुलन और तालमेल रखते हैं और तभी वे अपने दायित्वों का निर्वाह भली-भाँति कर पाते हैं। अन्यथा वे निन्दा और अपयश के भागी भी हो जाते हैं और आत्मतोष से भी वे वंचित रहते हैं। महाराजा चन्द्रसेन में भी यह विशेषता थी। वे सामायिक के दक्ष साधक हो गये थे, फलतः जीवन का प्रत्येक कार्य वे व्यवस्थित ढंग से और कौशल के साथ सम्पन्न करने के अभ्यस्त भी हो चुके थे। समता-भावना के वे व्यावहारिक प्रयोक्ता थे। उनके कार्यों में इस कारण भी न्यायोचित्य रहा करता था। विगत दीर्घकाल से राजकाज से पृथक् रहे; अतः कार्याधिक्य भी स्वाभाविक ही था। उन्हें अपने इस परम दायित्व में पर्याप्त श्रम करना पड़ता। दैनिक प्रशासनिक चर्या के सम्पूर्ण होते-न होते उन्हें अपना अन्य दायित्व पुकारने लग जाता और वे चन्द्रालोक पहुँच जाते। उन्हें आभास था कि इस परिस्थिति में रानी सुन्दरी को स्नेह-सौजन्य भी मिलता रहना चाहिए। उसे उपेक्षा का आभास नहीं हो पाता। सन्ध्या होते-होते वे रानी के अधरों पर मादक मुस्कान देख लेने को लालायित हो जाते। मार्ग में उन्हें सुधि आती अपनी रानियों की जिनसे वे अब तक भेंट न कर पाये थे। उनका मन कहता उनसे भेंट करना भी अनिवार्य है। उनसे कोई दुर्भाव न होने की स्थिति में भी महाराज का उनसे मिलन सम्भव नहीं हो पा रहा था। विवशता की गहन

चादर तले वे स्वयं को किसी भी प्रकार की विस्मृति-निद्रा में निमग्न नहीं कर पा रहे थे। सारी व्यस्तताओं में भी वे एक पल के लिए भी तो अपनी रानियों को अपने मानस-पटल से च्युत नहीं कर पा रहे थे। भला वे राजरानी कल्याणवती को कैसे भुला देते जिन्होंने धर्म के सन्मार्ग पर उनको आरूढ़ किया। समत्व का महत्त्व राजरानी ने ही तो उन्हें सिखाया था। रानी जयावती के सदस्यतापूर्ण प्रेम-व्यवहार की मुद्रा तो उनके हृदय पर अमिट रूप में अंकित हो गयी थी। शेष दस रानियाँ भी उनकी प्रीति पात्र रहीं। हाँ, यह बात अन्य थी कि तात्कालिक परिस्थितियों के दबाव से अभी रानी विश्व-सुन्दरी ही उनके लिए प्रमुख ध्यातव्य बनी हुई थी। उसी पर तो समस्त राजकुल की, समग्र जनता की अभिलाषा-आशा अवलम्बित थी।

राजरानी और रानी जयावती तो समत्व का सुधापान किये हुई थीं। उन्हें ममत्व का बन्धन स्पर्श भी नहीं कर गया था। वे तो जो भी विद्यमान है–सुख अथवा दुःख–उसको स्वीकार्य मानकर सदा अमित तोष में निमग्न रहा करती थीं। महाराज से पुनर्मिलन का अभाव भी उनके लिए पीड़ाजनक नहीं था, विश्व-सुन्दरी का आगमन भी द्वेष योग्य नहीं। उन्हें तो आत्मिक हर्ष यह जानकर हो रहा था कि विश्व-सुन्दरी रानी की गोद हरी होने वाली है। पुण्य-कर्मों का उदय ही वे इसे मानती थीं कि इस वंश की वल्लरी के प्रसार के शुभ लक्षण दिखायी देने लगे थे। नयी रानी ने तो हम सभी को कृतार्थ कर दिया। हमें भी तो मातृपद का गौरव प्राप्त होगा ही। शिशु राजकुमार कितना सद्भाग्यशाली होगा कि उसकी जननी चाहे एक ही रहेगी, किन्तु माताएँ अनेक होंगी। हम सभी की वात्सल्य-भावना की तृप्ति करने वाली रानी विश्व-सुन्दरी बड़ी परोपकारिणी है। राजरानी कल्याणवती ने कहा–"सुना है, नयी रानी बड़ी धर्म-प्रिय है। उसमें समता का अद्भुत प्रभाव है। वह अपने शिशु को राजकुल का–समस्त राजवंश का उजाला मानेगी। ममता के वशीभूत होकर उस पर अपना एकाधिपत्य स्थिर करने वाली वह नहीं होगी। वह हम सबका बेटा···· प्यारा वत्स कहलायेगा। महाराज यदि नहीं आ पा रहे हैं तो एक प्रकार से हमारी साध को पूरा करने में ही तो व्यस्त हैं वे। कुल को अपना दीपक सकुशल प्राप्त हो जाय बस···· फिर तो महाराज जैसे उस रानी के हैं–वैसे ही हमारे भी होकर रहेंगे।" और उन्होंने संतोष की साँस ली। एक मुस्कान से उनका मुख-मण्डल दीप्त हो उठा।

रानी जयावती एकटक राजरानी का मुख निहार रही थीं। वे एक पल को तनिक चांचल्य दिखाते हुए कह उठीं–"आप ठीक ही कहती हैं मैं तो कुल-दीपक को अपने आँचल की ओट में सहेज कर रखूँगी। ठण्डी पवन का

झोंका भी उसे लगने न दूँगी। बड़ा प्यारा ··· प्यारा-सा होगा न वत्स हमारा !'' कथन पूर्ण करते-करते रानी उल्लसित हो उठीं। उनका शृंगार-विहीन, स्वाभाविक सौंदर्ययुक्त मुखड़ा आन्तरिक शुभ भावना के आलोक से दमक उठा। अपूर्व उत्साह के साथ वे कहने लगीं–''सबसे बड़ी हर्षद बात तो यह है कि महाराज ने समता-साधना और शुभ भावों से, सामायिक की आराधना एवं अन्य धर्माचरण से अपने अशुभ कर्मों के क्षय में सफलता अर्जित कर ली है। शुभ कर्मों का फलोदय ही तो राजपुत्र के आगमन की आशा के रूप में हुआ है। दीदी ! आपके पुण्य प्रयत्नों से ही यह सम्भव हो पाया है।'' और दोनों ही कुछ पलों के लिए अन्तर्धान-सी मूक-मौन अविचल बैठी रह गयीं। कक्ष में अपूर्व शान्ति छा गयी।

अन्तःपुर में एक ओर तो ऐसा शुभ्र पावन वातावरण था और दूसरी ओर दूषित ···· विषाक्त हवाएँ लहरा रही थीं। सभी दसों रानियाँ एक कक्ष में एकत्र थीं। सभी परस्पर वार्त्तालाप का कौशल दिखा रही थीं। चर्चा रानी सुन्दरी के विषय में ही थी। एक वाग्चतुरा रानी बोली–लो अब अन्तःपुर में एक रानी और आ गयी–'तेरहवीं रानी' और एक तीव्र ठहाका लगा।

''अरी ! हँसी की बात नहीं, हम पर तो अब दुर्भाग्य के मेघ छाने लगे हैं। बात सोचने-समझने की है।''

''सोचने-समझने की तो है ही। सुना है–नयी रानी का जैसा नाम है वैसी ही वह सुन्दरी है भी। कहते हैं वह तो जगद् विख्यात है, अनुपम रूपसी है। महाराज को तो वह अपनी प्रेम-डोर में कसकर रखेगी।''

''रखेगी ही ···· रूप का आकर्षण कम नहीं होता। लुब्ध भ्रमर जैसे कमल-पुष्प में बन्दी हो जाता है, हमारे स्वामी भी ····।''

''अरी ! यह लक्षण तो दिखायी भी देने लगे हैं। कितने तो दिन हो गये महाराज को प्रवास से लौटे हुए। अभी तक उन्होंने हमारी सुधि भी नहीं ली।''

''अब हम हैं ही कौन उनकी ? अब तो महाराज हैं और वह विश्व-सुन्दरी है ···· बस।''

''देखती तो जाओ, अभी क्या हुआ है ? पता तो तुम्हें तब चलेगा, जब अन्तःपुर के दूध से मक्खी की भाँति बाहर फेंक दी जाओगी।''

''बाहर न भी फेंकी जायें, दुर्दशा तो हमारी होनी ही है। भयंकर उपेक्षा होगी हमारी ···· एक तरफ पड़ी रहेंगी। नयी के होते पूछता ही कौन है पुरानियों को। वह जादूगरनी अपना जादू तो दिखायेगी ही।''

"उसका सबसे बड़ा जादू तो राजकुमार होगा–जिसे देखकर महाराज तो निहाल हो जायेंगे। नयी रानी महाराज के लिए यह मनोवांछित उपहार जो लेकर आ रही है।"

"महाराज ही क्यों···· वह तो सारी जनता की भी आराध्या बनेगी। सब कोई उसी के भक्त हो जायेंगे। जय-जयकार होगी उसकी। सभी उसे पलकों पर उठा लेंगे।"

"उठा लेंगे पलकों पर···· मेरा तो बस चले तो उस कलमुँही की शिखा पकड़कर राजभवन से बाहर कर दूँ।"

"ऐसा नहीं···· नहीं कहते ऐसा। बावली हो गयी हो क्या ? जो करना है करके दिखाओ मुँह से क्यों···· ?"

"ऐसा ही होगा। अन्तःपुर में हम रहेंगी–वह नहीं रहेगी। पर यह कार्य कोई आसान कार्य नहीं है। धैर्य और योजनापूर्वक, सोच-समझकर ही काम करना होगा। 'न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी' कुछ ऐसी युक्ति करनी होगी। नयी रानी की सारी महत्ता इसी बात की तो है कि वह राजपुत्र देने वाली है। यह महत्ता समाप्त हुई कि सारा खेल ही समाप्त !"

"तो क्या करना होगा इसके लिए। हम पुरानी रानियाँ वर्षों से बैठी हैं–मातृपद प्राप्त नहीं कर सकीं। वह नयी कैसे अपनी गोद में शिशु रखकर इतराएगी !"

"मैं सब कर लूँगी, तुम निश्चिन्त रहो। अच्छे-अच्छों को पानी पिला दिया है–यह है ही क्या? विश्व-सुन्दरी ! छठी का दूध न याद करा दिया तो मेरा भी नाम रानी तेजस्विता नहीं।" रानी के मुख पर आत्म-विश्वास की अरुणिमा छा गयी। सभी रानियों ने सँभलकर कार्य करने का परामर्श देते हुए अभियान की बागडोर उसके हाथों में सौंप दी।

× × ×

पहले तो सलखू दाई रनिवास में आने को तत्पर ही नहीं हुई, किन्तु जब रानियों ने स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली अपनी विश्वसनीय दासी के साथ भेजी तो वह 'हाँ' करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कह सकी। अर्द्ध-रात्रि को सबसे छिपते-छिपाते वह रनिवास में पहुँची तो रानी तेजस्विता अन्य रानियों के संग बैठी उसकी प्रतीक्षा ही कर रही थी। सलखू को देखकर हँसते हुए रानी ने कहा–"अरे आ···आ···· दाई माँ ! बड़ा भाव चढ़ा हुआ है तेरा तो आजकल। कबसे बुलाया है तुझे? अब जाकर···· ।"

"क्या करूँ महादेवी ! काम ही इतना है कि .... फिर नयी रानी जी को अकेली छोड़कर आना भी तो ठीक नहीं। महाराज ने तो प्रसव का सारा दायित्व मुझ पर ही छोड़ रखा है। रानी जी हैं कि एक पुकार पर न पहुँचूँ तो विकल हो जाती हैं। इधर आपका बुलावा आया। एक अनार और सौ बीमार ! मैं क्या-क्या कर लूँ। अब जाकर रानी जी की आँख लगी तो भागी हुई इधर चली आयी हूँ। बताइये, क्या सेवा करूँ?" दाई ने एक सपाटे में सारी बात कहते हुए जल्दी करने को कहा–"कहीं रानी जी की आँख न खुल जाय।"

"आँख तो अब उसकी खुलनी ही चाहिए, दाई माँ ! अब भी न खुलेगी तो फिर कब खुलेगी?"–एक रानी ने व्यंग्यपूर्वक कहा। तभी तेजस्विता रानी ने कहा–"हाँ .... अन्ततः पाला किससे पड़ा है उसका ! बस दाई माँ, तुम तनिक हमारी सहायता कर दो, फिर तो हम देख लेंगी।" दाई ने अपनी आँखें गोल-गोल घुमाते हुए पूछा–"क्यों .... क्यों, बात क्या है? करना क्या होगा मुझे?"

"जो करना है, वह तुम्हें ही करना होगा और तुम्हारे लिए वह है भी सुगम।" रानी ने समझाते हुए कहा–"यह नयी रानी हमारी सौत बनकर आयी है न ! जब से यह आयी है हमारा खाना-पीना, सोना-जागना सब कठिन हो गया है। कोई ऐसा उपाय कर दो कि यह काँटा निकल ही जाय !"

"समझी .... समझ रही हूँ कि आप क्या चाह रही हैं ! किन्तु अभी तो वो रानी जी .... अभी कुछ नहीं हो सकता। प्रसव हो जाने दें। मेरा दायित्व पूरा हो जायेगा फिर .... ।" दाई ने कहा। "फिर क्या दाई माँ .... क्या समझी तू .... कुछ भी तो नहीं समझी। सुनो, सुना है तेरी यह नयी रानी बहुत सुन्दर भी है?"

"जी ! रानी जी वे तो असीम सुन्दर हैं। ऐसी सुन्दरता मैंने तो आज तक कहीं नहीं देखी; जैसे–स्वर्ग से उतर आयी हैं। ये .... बड़े-बड़े चमकीले नेत्र, गुलाब की पंखुड़ियों जैसे होठ, मोती जैसे दाँत, शंख जैसा कंठ, हँसती हैं तो जैसे झरना .... ।"

"बस .... बस-बस। कुछ ऐसा कर कि अब वह हँसना ही भूल जाय।" विश्व-सुन्दरी की प्रशंसा से कुढ़ती हुई तेजस्विता रानी बीच ही में बोल उठी–"उसकी इसी सुरूपता ने तो हमें संकट में डाल दिया है। अब महाराज तो उसके ही होकर रह जायेंगे। हमारा अनादर होगा–उपेक्षा होगी। हम यह कैसे सहन कर पाएँगी ? तुम जानती हो महाराज उसके दास होकर इसीलिए रह

गये हैं कि वह माँ बनने वाली है। अच्छा हो तुम उसे माँ बनने ही न दो और यदि बन भी जाय तो नवजात का ऐसा हाल कर दो कि तुम यह कह सको कि मृत शिशु ने जन्म लिया है। जब वह राजकुमार दे ही नहीं सकेगी तो उसको वह मान-सम्मान भी नहीं मिलेगा। यदि संग-संग तुम यह भी कर सको कि विश्व-सुन्दरी विश्व से ही ऊपर''''।''

''ना'''' ना'''' रानी जी ! ना, मैं ऐसा अधर्म नहीं कर सकती। मैं नहीं कर सकती।'' नकारात्मक आशय के साथ हाथ और मस्तक हिलाते हुए सलखू ने कहा। किन्तु तेजस्विता ने भी पराजय मानना नहीं सीखा था। मँजी हुई खिलाड़िन थी, तुरुप चाल चलते हुए उसने कहा–''क्या धर्म और क्या अधर्म ! दाई माँ, धन ही धर्म है और धन ही कर्म है। जिसके पास धन है उसकी मुट्ठी में सारा जगत् बन्दी हो जाता है। यह धन लो और अपनी आगामी सात पीढ़ियों को सुखी बना लो।'' यह कहती हुई रानी ने लाल मखमली थैली खनखनाते हुए सलखू के समक्ष खिसका दी। सलखू ने कहा– ''धन से धर्म तो न खरीदो रानी जी ! जीव हत्या'''' हत्या मैं नहीं करूँगी''' हाय ! हाय ! हाय !!'' रानी भाँप गयी कि दाई क्या चाहती है। रानी तेजस्विता ने एक और थैली हाथ में झुलाते हुए सलखू की ओर उछाल दी। कहा–''ले दाई माँ और ले ले, पर काम हमारा हो जाना चाहिए। काम हो जाने पर इतना ही धन और मिलै जायेगा।'' यह कहते हुए रानी ने अपना जड़ाऊ स्वर्णहार भी सलखू को दे दिया–''ले यह भी ले जा, दाई माँ कहा है तो हम बेटियाँ हुई हैं तेरी। अपनी बेटियों को सुखी कर और स्वयं भी सुखी होजा।'' अन्य रानियों ने अपने-अपने हार कंठ से उतारे और अपने हाथ में झुलाते हुए कहा–''हमारा काम कर दिया तो माँ तुझे ये सब पुरस्कार में मिलेंगे।''

सलखू तो इतना सारा धन पाकर बावली ही हो गयी। ''रानी जी, आपकी आज्ञा क्या भला मैं कभी टाल सकती हूँ।'' वह बोली–''कुछ तो करना ही पड़ेगा। पर नयी रानी देवी हैं देवी। उन पर मैं हाथ नहीं डाल सकूँगी। हाँ, उसका बेटा अवश्य ही गिनती की साँसें ले सकेगा।'' वह हड़बड़ा कर उठी–''चलूँ, कहीं रानी जी की नींद खुल गयी तो''''तो ठीक नहीं होगा। धन बटोरकर वह जल्दी-जल्दी चल पड़ी। पीछे रह गया क्रूर रानियों का ठहाका। रानी तेजस्विता तो अट्टहास कर उठी। उन्हें विजय गर्व का विचित्र-सा अनुभव होने लगा।

× × ×

रानी सुन्दरी की स्थिति हर दृष्टि से संतोषजनक है–यह सूचना पाकर महाराज चन्द्रसेन प्रसन्न थे। उसी प्रसन्नता के आवेग में उन्होंने सलखू को पूर्ण सावधानी रखने को सतर्क किया। उन्होंने उसे आश्वस्त भी किया कि सब-कुछ कुशलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने पर उसे पर्याप्त से भी अधिक धन देकर पुरस्कृत किया जायेगा। किन्तु उसकी असावधानी या त्रुटि से तनिक भी कोई हानि हुई तो उसे प्राणदण्ड दे दिया जायेगा। महाराज ने कहा कि राजपुत्र सारे राज्य के लिए एक मात्र आशा है। इस महान् आशा को हम फूलते-फलते देखना चाहते हैं। सभी ऐसा ही चाहेंगे। सलखू ने हाथ जोड़कर निवेदन किया–"पृथ्वीनाथ ! सारी आयु ही मैंने इसी सेवा में निकाली है। भला राजकुल की सेवा में कोई भूल कैसे कर सकती हूँ मैं। आप निश्चिन्त रहें।"

महाराज जब रानी के कक्ष में पहुँचे तो उन्हें यह देखकर बड़े ही आनन्द की अनुभूति हुई कि रानी सामायिक की साधना में लीन शान्त भाव से बैठी है। उसके मुख पर दिव्य तेज भासमान हो उठा था। महाराज की उपस्थिति का उसे भान भी नहीं हुआ। महाराज भी नवकार मंत्र के जाप में व्यस्त हो गये।

सलखू दाई की यह संध्या बड़ी अशान्ति से बीती। उसके अन्तर में भारी द्वन्द्व मचा हुआ था। यह भीतर की उथल-पुथल उसे बाहर से भी व्यग्र किये दे रही थी। एक ओर दस-दस स्वर्णहार उसे लोभ में डाल रहे थे, दूसरी ओर फाँसी का फंदा झूल रहा था। उसका चंचल मन कुछ भी ठीक से नहीं सोच पा रहा था। वह कुशाग्रबुद्धि नारी किसी भी परिस्थिति में पराजित होने वाली नहीं थी। यह क्षणिक अस्थिरता अन्ततः दमित हो गयी और उस दुष्टा ने कोई भयावह निर्णय कर लिया। उसका प्रतिबिम्ब उसके मुख पर क्रूरता के रूप में दृष्टिगत होने लगा। तभी वह बुदबुदायी–"हो जायेगा, सब कुछ हो जायेगा। सलखू नाइन भी किसी से कम नहीं है। वह सभी कुछ वो कर दिखाती है, जो वह चाहती है।"

राजभवन में जो क्रूर स्वप्न तेजस्विता रानी और अन्य रानियों के मानस में मचल रहा था–उन्हें उसके साकार हो जाने की पूर्ण आशा हो गयी थी। उनके इस खेल की सूत्रधारिणी सलखू ही थी। सलखू उस देर रात्रि में आयी भी और चली भी गयी–किस प्रयोजन से आयी थी वह रानी जयावती के मन में जिज्ञासा कौंध उठी। उन्हें अनिष्ठ की आशंका हो उठी थी। जिज्ञासा ने उन्हें सचेष्ट किया और रानी जयावती ने जो कुछ जाना वह उस क्रूर खेल का एक अंश मात्र ही था, किन्तु वह उससे भी काँप उठीं। उन्हें भनक पड़ी कि रानी तेजस्विता और अन्य रानियाँ सलखू के माध्यम से रानी सुन्दरी का कोई

अहित कराना चाहती हैं। बाड़ को प्रेरित किया जा रहा है कि वही खेत को चर जाय। रानी जयावती इस भयंकर भनक को अपने तक सीमित नहीं रख पायीं। उन्होंने राजरानी को जताया। अमंगल को टालने का प्रयत्न करना–प्रत्येक सज्जन और धर्मीजन का नैतिक कर्त्तव्य होता है। वह निरपेक्ष भाव से, तटस्थ होकर उसे घटित होते नहीं देख सकता। राजरानी कल्याणवती का मन भी कसमसा उठा। जयावती के साथ वे रानी तेजस्विता व अन्य रानियों के पास गयीं। उन्होंने उनको प्रबोधन दिया–"बहिनो! जो कुछ मैंने सुना है वह यदि सत्य है तो तुम लोगों ने पाप-मार्ग पकड़ लिया है। यह अनीति और अधर्म तुम्हें-हमें नहीं करना है। नयी रानी सुन्दरी ने तो हमें मातृत्व का गौरव प्रदान किया है। उससे क्या शत्रुता हो सकती है हमारी? उस निरीह से····।"

"रहने भी दो अब दीदी !" तेजस्विता रानी ने रोषपूर्वक कहा–"वह कहाँ की निरीह हो गयी। उसने तो हमसे हमारे स्वामी को छीन लिया है। कितना तो समय हो गया है महाराज को राजधानी लौटे हुए–क्या एक पल के लिए भी उसने महाराज को हमारे पास आने दिया है।"

"अजी अब महाराज हमसे मिलने ही क्यों लगे ! उसके पास रूप है, उद्दाम यौवन है, शृंगार है, प्रेम है और सबसे बड़ी बात तो यह कि उसे हमसे डाह है। वह तो अपने आकर्षण का जाल बिछाकर महाराज को उसमें जकड़कर रखेगी ही।"–एक अन्य रानी ने कहा।

"यह हाल तो तब है जब वह राजपुत्र की भेंट अभी दे नहीं पायी है। जब महाराज को वह चिर आकांक्षित उपहार दे देगी, तब तो उसकी महिमा को चार चाँद ही लग जायेंगे। वह क्रीत दास की भाँति रखेगी महाराज को अपने पास।" तेजस्विता रानी ने कहा।

तभी एक अन्य रानी ने कहा–"वह चाहे ऐसा करे, न करे–महाराज स्वतः ही ऐसे हो जाने वाले हैं। फिर हमें कौन पूछने वाला है?"

राजरानी कभी इस रानी का, तो कभी उस रानी का मुख निहारती हुई सुनती रहीं। तभी उन्होंने हाथ के इंगित से सबको शान्त होने का परामर्श देते हुए कहा–"उस रानी के मन में ईर्ष्या हो, न हो–एक बात तो स्पष्ट हो गयी कि तुम रानियों के मन में अवश्य ही प्रचण्ड द्वेष उसके प्रति है। यह शुभ नहीं है, कदापि नहीं है। तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारी अपनी एक सखी, एक बहिन और आ गयी है इस राजघराने में। ममता त्याज्य है, समत्व ही अपनाने योग्य है। यही ममत्व तुम्हारे मन में अभी अपने स्वयं के प्रति जाग्रत हो गया है। यह स्वलाभ, स्वार्थ की ही प्रचण्ड प्रेरणा बन गया है। यही तुमसे

भयानक अनर्थ करा रहा है। सावधान हो जाओ ! इस कुमार्ग से तत्काल लौटकर सहिष्णु बनो। 'जीओ और जीने दो' सिद्धान्त को अपनाओ। तुम्हें अभी ज्ञात नहीं हो पा रहा है, पर तुम्हें जितनी हानि इस पाप-विचार और दुष्ट निश्चय से होगी, उसकी शतांश हानि भी नयी रानी की नहीं होगी। इन अपकर्मों से नये अशुभ कर्म-बन्ध न करो। अशुभ पूर्व-कर्मों के प्रतिफलस्वरूप ही होगी तुम्हारी दुर्दशा–यदि कुछ होने को है। रानी सुन्दरी उसका कारण भले ही तुम्हें लगे–वह है नहीं, वास्तव में नहीं है। इस कष्ट को शुभ भावना के साथ सहन कर लो। यदि ऐसा किया तो नये अशुभ कर्म नहीं बँधेंगे–पूर्व-कृत अशुभ कर्मों का भी क्षय होगा–वे निष्फल हो जायेंगे–तुम्हारे लिए दुःख के कारण वे नहीं बन पायेंगे।''

''किसने देखा है आगामी भव और कौन करे चिन्ता उस भव के सुखों की !'' रानी तेजस्विता ने कहा–''पहले हम इस भव के सुख को तो नष्ट होने से बचा लें। जो कर्म हमें सुखी बनाने में समर्थ हैं–वे भला अशुभ कैसे हो सकते हैं !''

''आप तो धर्माचारी हैं। हम सभी तो साध्वी हो नहीं सकतीं।'' एक अन्य रानी ने कहा–''क्यों व्यर्थ ही में पत्थर पर पानी डाल रही हैं आप ! हमें अपना काम करने दीजिये और आप''''।''

दीदी की प्रतिष्ठा के विपरीत वातावरण बनने लगा तो रानी जयावती को बीच ही में बोलना पड़ा–''बहिनो ! ऐसा तो न कहो। दीदी तो तुम सभी के कल्याण का ही परामर्श दे रही हैं न ! इस पर ध्यान दो और अभी भी समय है, अपने कुविचार को त्याग दो। सन्मार्ग का अनुसरण ही सुख-शान्ति का मूल है। स्वार्थांधता सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं होने देती–उसका त्याग आवश्यक है।''

''नक्कारा बोले तो बोले अब तो ढपली भी बोलने लगी।''–एक रानी ने सव्यंग्य कहा और जोर से अपमानजनक हँसी हँस दी। अन्य रानियों ने उसकी हँसी में अपनी हँसी मिलाकर परोक्ष रूप में सहकार किया। इस अमंगल वातावरण से हट जाना ही उचित मानते हुए रानी जयावती ने राजरानी की कुहनी को छूकर संकेत दिया। संकेत का आशय समझकर भी राजरानी ने अन्तिम प्रयास करना उपयुक्त माना, बोलीं–''बहिनो ! प्रत्येक युग में अधर्म धर्म की हँसी उड़ाता रहा है, पर किसी भी युग में न अधर्म बलवान सिद्ध हुआ है और न ही उसकी अन्तिम विजय हुई है। अधर्म मात्र सुखाभास करा सकता है, सच्चा सुख तो धर्माचरण का ही परिणाम होता है।'' उन्होंने कहा–''तुम पतन के कगार पर आ खड़ी हुई हो–यह मुझे दिखायी दे रहा है। इस

कारण मैं दुःखी और तुम्हारी रक्षा के लिए चिन्तित हूँ। मेरे सद्परामर्श को न अपनाना चाहो तो भी तुम्हारा यह अधिकार ही है, पर इतना अवश्य कहना चाहती हूँ कि शान्त मन से मेरी बातों पर विचार तो कर ही सकती हो। उन्हें यों हवा में न उड़ाओ। शुभ परिणाम शुभ कार्यों के ही होते आम्रफल की अभिलाषा के लिए कोई बबूल नहीं उगाता।" यह कहकर शान्त मन से राजरानी चल दीं। जाते-जाते कहती गयीं–"तुम्हारे व्यवहार का मैंने कुछ बुरा नहीं माना। मंगल हो तुम सबका !" रानी जयावती भी उनके पीछे-पीछे चल दीं।

× × ×

चन्द्रालोक का सुन्दर, सरस, धर्मपूर्ण वातावरण बनाये रखने के विशेष प्रयत्न किये जाते थे। रानी विश्व-सुन्दरी का मन भी धर्माचरण में रमा रहता। महाराज चन्द्रसेन भी उसे इसी दिशा में प्रेरित करते रहते थे। वे रानी को अपने वंश की गौरवपूर्ण कथाएँ सुनाते रहते, पराक्रमी पूर्वजों के यशोचरित का बखान करते। उनकी मान्यता थी कि गर्भ में पल रहे शिशु के व्यक्तित्व पर इनका अनुकूल प्रभाव अंकित होता है। वे स्वयं भी धार्मिक क्रियाओं को और अधिक निष्ठा एवं दत्तचित्तता के साथ सम्पन्न करने लगे थे।

प्रातःकाल का समय था। महाराज चन्द्रसेन सामायिक से निवृत्त हुए ही थे कि सलखू आ उपस्थित हुई। उसने रानी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की और रहस्योद्घाटन की मुद्रा में कहने लगी–"महाराज ! आपको मैं एक महत्त्वपूर्ण तथ्य बताना चाहती हूँ। सब-कुछ कुशल से ही सम्पन्न हो जायेगा, किन्तु रानी जी के गर्भ में एक नहीं दो-दो शिशु पल रहे हैं।"–कथन के अंतिम अंश को उसने बहुत धीमी वाणी में कहा और हाथों को नचाते हुए शान्त हो गयी।

"तुम्हें कब पता लगा? शिशु क्या दोनों ही राजकुमार होंगे?" महाराज ने जिज्ञासावश प्रश्न किया।

कल रात को ही जब मैंने ध्यान से गर्भ की स्थिति को जाँचा-परखा, तो यह पता लगा कि जुड़वाँ सन्तान होंगी, किन्तु यह अभी गोपनीय रखा जाना चाहिए, महाराज ! रानी जी के कान तक यह बात नहीं पहुँचे–यह आवश्यक है। व्यर्थ ही वे आतंकित होंगी। अब, अभी से यह तो नहीं कहा जा सकता कि दोनों कुँवर जी होंगे, या दोनों कुँवरानियाँ। हो सकता है कि कुँवर जी भी हों और उनकी बहिन कुँवरानी जी भी। कभी-कभी ऐसा भी होता है। जब ऐसा

होता है तो पुत्र अपने पिता पर जाता है और पुत्री माता जैसी होती है। इन बच्चों में गुण-शील, रूप-सौंदर्य सब-कुछ मातृ-पितृवत् होता है।"

"अच्छा अब तुम जाओ सलखू ! खूब सावधानी से काम करना। जो बात तुमने बतायी है उस स्थिति में तो दाई, तुम्हारा दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। ध्यान से काम करना आवश्यक है।" महाराज ने कहा और मन-ही-मन कुछ सोचने लगे। दाई चली गई, किन्तु महाराज का चिन्तन चलता ही रहा। दाई कह रही थी कि कुँवर मुझ पर जायेगा। अर्थात् स्वर्ण-नगरी को भावी नरेश हम जैसा ही प्राप्त होगा। वाह ! यही तो सभी की आकांक्षा है। अब मुझे वंश-परम्परा के निर्वाह के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहिए। अच्छा है, दाई की बोली फले, उसका कथन सत्य निकले। कुँवरानी भी तो अपनी माता जैसी ही होगी। उसमें रूप-शील भी बढ़ा-चढ़ा होगा और धर्म-चेतना भी उसकी विकसित होगी। महाराज को अपार संतोष हुआ। उन्होंने नवकार महामंत्र का जाप किया और राजप्रासाद की ओर चल दिये। वे सोच रहे थे आज पहले हम अन्तःपुर में जायेंगे, सभी रानियों से भेंट करेंगे। वे भी तो मिलनेच्छा से व्यग्र होंगी। उनका भी पूरा अधिकार है हमारे अनुराग पर। यह सोचते-सोचते वे रथारूढ़ हो गये। अश्व-रथ को लिए हुए राजपथ पर तीव्र गति से बढ़ने लगा। रथ-चक्र भी तेजी से घूम रहे थे और उससे भी तीव्रतर थी महाराज के मन के विचार-चक्र की गति।

● ●

कुछ दिनों से दाई सलखू का चित्त ठिकाने नहीं रहता था। उसका ध्यान बार-बार अपनी योजना की ओर आकर्षित हो जाया करता। उसने सप्रयास यह भी ज्ञात कर लेना चाहा कि उस पर चन्द्रालोक में कोई शंका तो नहीं की जाती है और यह पाकर वह अपनी चतुराई पर गर्वित होती कि उसकी स्वामिभक्ति को दृढ़तर होते समझा जा रहा है। अब भी उसे अपनी योजना में कहीं छिद्र जान पड़ता था और उसे मूँदने के किसी प्रयास की चिन्ता में ही वह अन्तर्मुखी होकर आत्मलीन-सी बैठी रह जाती थी। इसी में न जाने कितना समय व्यतीत हो जाता था, उसे कुछ ज्ञात न हो पाता था। वह इसी प्रकार अपने में ही खोयी बैठी थी कि उसका ध्यान भंग हो गया–एक लम्बी चीख से। चीख रानी के विश्राम-कक्ष से ही आई थी। वह हड़बड़ाकर उठी और भागकर रानी सुन्दरी के पास गयी। उसकी जो दशा देखी तो दाई सकते में आ गयी। आज-कल तक ही की तो कोई आशा ही नहीं थी। रानी तो प्रसव के समीप पहुँच गयी हैं। कुछ ही समय की बात और है। सलखू ने आवश्यक तैयारी की। इस दौरान भी उसका आधा मानस तो इसी ओर लगा रहा कि रानी तेजस्विता का काम किस प्रकार पूर्ण करना है।

पानी गर्म होने को चढ़ाया और तीक्ष्ण धार वाली छुरी को वह साफ करने में जुट गयी। छुरी की धार जाँचते हुए उसके मन में फिर एक बार सारी योजना दुहरा गयी। रानी सुन्दरी अब भी कराह रही थीं। सेवकगण विश्राम-कक्ष के बाहर एकत्र हो गये। स्वयं महाराज भी आ गये। आसन्न प्रसवा विश्व-सुन्दरी को बड़ी भारी पीड़ा सहन करनी पड़ रही थी। सलखू इस स्थिति में सर्वथा विवश और असहाय थी। उसने प्रसव की सारी तैयारी कर ली थी। अब तो वह सुन्दरी की शय्या के समीप बैठी, कभी उसके केशों पर उँगलियाँ घुमाती, कभी हथेलियाँ सहलाती। वाचिक रूप से वह रानी को सान्त्वना देती रही। किन्तु पीड़ा थी कि बढ़ती ही जा रही थी। अन्ततः असह्य वेदनावश वह अचेत हो गयीं। इसी समय दाई का मस्तिष्क तीव्रता के साथ सक्रिय हो उठा–यही उपयुक्त अवसर है जब मुझे अपना कार्य पूर्ण कर लेना चाहिए। प्रसव भी होने को ही था। उसने सोचा प्रसव होते ही रानी को विष दे

दिया जाय ! दोनों बातें बन जायेंगी। महाराज अपना उत्तराधिकारी पाकर प्रसन्न हो जायेंगे। नयी रानी के न रहने पर रानी तेजस्विता व अन्य नौ रानियाँ भी संतुष्ट हो जायेंगी। उसके तो दोनों हाथों में लड्डू होंगे। क्या रानी का घात करना उपयुक्त होगा? उसके अन्तरमन ने ही उससे प्रश्न किया। रानी तो विद्याधर-पुत्री हैं। अनेक कलाओं और विद्याओं की ज्ञाता होती है यह विद्याधर जाति। यदि प्रसवोपरान्त रानी जी सकुशल जीवित रहीं तो मैं उनसे कोई विद्या ले लूँगी। मेरी सेवा से वे प्रसन्न तो हैं ही। अवश्य ही वे मुझे किसी विद्या से पुरस्कृत करेंगी और उस विद्या के प्रभाव से मेरा घर तो वैसे ही स्वर्ण से भरपूर हो जायेगा। ना .... ना .... ना, मैं यह पाप क्यों करूँ। रानी जी का घात करना अच्छा न होगा। विष की बात भी छिपी नहीं रहेगी। दोष मुझ पर ही आएगा–यह भी पक्का है। और ऐसे में फिर महाराज कठोर दण्ड अवश्य देंगे। सम्भव है प्राणदण्ड ही दे दें। रानी की अचेतावस्था के उन सीमित क्षणों में भी सलखू के मानस में न जाने कितने संकल्प-विकल्प जागते रहे।

समय समीप जानकर दाई ने दरवाजा बन्द कर भीतर से कुण्डी चढ़ा ली। महाराज बाहर प्रतीक्षा कर ही रहे थे–शुभ समाचार की। रानी चेत में लौटीं और फिर कराहने लगीं। क्रमशः उनकी कराहें तीव्रतर होती रहीं। दाई ने अपना कार्य पूर्ण सावधानी से आरम्भ कर दिया। प्रसव हो गया और रानी एक चीख के साथ पुनः अचेत हो गयीं। महाराज ने बाहर से ही सलखू को पूछा और सलखू ने बन्द द्वार तक जाकर भीतर से ही महाराज को आश्वस्त किया–"सब-कुछ कुशलतापूर्वक सम्पन्न हो गया, महाराज ! प्रसूती रानी जी भी सकुशल हैं। जुड़वाँ बच्चे ही हुए हैं महाराज ! दोनों सकुशल हैं, किन्तु एक आश्चर्यजनक अजूबा हो गया है। मैंने ऐसा कभी देखा नहीं।" और वह तेजी से कक्ष के दूसरी ओर के द्वार की ओर लपककर चली गयी। जाँच करके देखा द्वार बाहर से बन्द न था। यह द्वार मुख्य भवन के पिछवाड़े खुलता था। उसने बाहर झाँककर दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाकर देख लिया। सर्वथा सूना स्थल देखकर वह आश्वस्त हो गयी। सभी लोग कक्ष के मुख्य द्वार के समीप एकत्र थे। भीतर से सलखू की बात सुनकर सभी अचम्भित रह गये थे। ऐसा क्या अजूबा हो गया?.... दाई माँ कह क्या रही थी? सभी मन में यही सोच रहे थे। महाराज तो कुछ सोच ही नहीं पा रहे थे। उन्होंने प्रधानामात्य की ओर जो प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा तो आयुवृद्ध प्रधानामात्य ने सुधीर वाणी में यही कहा कि "अब दाई भीतर के कार्यों से निवृत्त होकर बाहर आयेगी तो सब-कुछ स्पष्ट हो जायेगा, महाराज !"

दाई सलखू ने भीतर का अपना काम जब पूर्ण कर लिया तो उसको भारी आश्वस्तता अनुभव होने लगी। रानी अब भी अचेतनावस्था में थी । उसे ज्ञात नहीं कि क्या कुछ इस मध्य घटित हो गया। वह तो इस तथ्य से भी अनभिज्ञ थी कि वह किन बच्चों की जननी हो गयी है। दाई ने अब अपना चरित आरम्भ किया। उस अभिनय-कुशल नारी ने स्वयं को अत्यन्त दुःखित वेश में ढाल लिया। हाय ! बराय !! करते हुए वह कुण्डी खोलकर बाहर आयी। विलाप के स्वर में वह रो-रोकर कहने लगी–"महाराज ! गजब हो गया। सुना तो है मैंने, पर आज पहली बार ही आँखों से देखा कि कोई स्त्री श्वान-शावकों को जन्म दे। नारी के गर्भ में कुत्ते के पिल्ले विकसित हों–यह सचमुच एक अजूबा हो गया, महाराज ! महारानी ने एक नर और एक मादा पिल्ले को जना है। मेरे करम ही फूट गये कि इतनी सेवा का यह फल मिला।" यह कहते हुए उसने अपने भाल पर हाथ मारा और जोर की चीख मारकर पछाड़ खाकर भूमि पर गिर पड़ी, तत्काल ही वह अचेत हो गयी। महाराज यह दुर्भाग्यपूर्ण कटु समाचार सुनकर सहसा शोकग्रस्त हो गये। वे किसी से दृष्टि मिलाकर बात करने की स्थिति में भी नहीं रह गये थे। समता-भावना को प्रमुखता देने वाले महाराज भला इसे कर्म-फल के अतिरिक्त और क्या समझते। पुत्र के लिए जो ममता सघन होकर वर्षों तक मेरे हृदय पर छायी रही–कदाचित् यह उसी का दुष्परिणाम है। महाराज के मन में, यह सोचकर तनिक अनुत्ताप होने लगा। मन को तत्काल ही स्थिर कर वे महामंत्र नवकार का जाप करने लगे।

रानी विश्व-सुन्दरी की मूर्च्छा टूटी और अपनी संतति को देखने की अभिलाषा के साथ उसने लुब्ध दृष्टि से दाई की ओर देखा। अनुभवी दाई भी तत्काल संकेत समझ गयी। उसने फिर नाटक का दूसरा अंक आरम्भ किया। माथा पीटकर विलाप करती हुई वह बोली–"हाय ! हाय ! अब देखने को क्या रह गया है महादेवी ! सब-कुछ करा-धरा यों ही रह गया। मैं तो किसी से बतियाने योग्य भी नहीं रही। महाराज का शोक के मारे बुरा हाल हो रहा है।"

"..... तो क्या ! क्या हो गया दाई माँ ! मेरा लाल नहीं रहा क्या ?....." अतिशय चिन्तावृत्त होती हुई रानी ने पूछा।

गरम रहते ही लोहे को पीट लेने की प्रवृत्ति दाई की थी। वह अनुकूल अवसरों को मिथ्या नहीं होने देती थी। त्वरित उत्तर दिया उसने–"रहा? अजी रहे कहो। आपने जुड़वाँ संततियों को जन्म दिया है। दो भाई-बहिन की

जननी आप हो गयी हैं। किन्तु फिर भी न मैं बधाई देने योग्य मुख रखती हूँ, न आप सुनने योग्य कान। अपनी आँखों ही आप स्वयं देख लीजिये।" यह कहते हुए सलखू नाइन ने एक झटके के साथ श्वेत चादर उघाड़ दी। रानी ने जो देखा सन्न रह गयी। उसके पार्श्व में दो श्वान-शावक लेटे हुए थे।" देख लीजिये अपनी संततियों को–इन पिल्लों को जनाना ही मेरे भाग्य में लिखा था तो लिखा रहा होगा, किन्तु समझ में नहीं आता कि आपका प्रारब्ध ऐसा क्यों रहा। सच है नियति को टाला नहीं जा सकता।" दाई ने कहा और मौन होकर निहारने लगी कि उसके इस तीव्रतर प्रहार का क्या प्रभाव रहता है रानी जी पर। रानी ने नवजात शावकों को निहारा और मुख दूसरी ओर कर लिया। उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। कुछ ही क्षणों में महाराज चन्द्रसेन भी वहाँ उपस्थित हो गये। उन्होंने देखा कि आँखें बन्द किये प्यारे से दो पिल्ले निद्रा में खोये हुए हैं। उनमें से कोई कभी-कभी कूँ-कूँ ध्वनि कर उठता था। एक शावक ने अपना पंजा उठाकर मुख पर आँख के समीप घुमाया और शान्त भाव से लेट रहा। दूसरा पूँछ हिला-हिलाकर अपनी अर्द्ध-चेतना आभासित करने लगा। महाराज अधिक कुछ देख नहीं सके। रानी सुन्दरी पुनः अचेत हो गयी थीं। वे उससे बतियाने के पूर्व ही वहाँ से प्रधानामात्य के साथ लौट आये। दाई ने मूर्च्छित माँ और उसकी संततियों पर पृथक्-पृथक् चादरें खींच दीं। कक्ष में भयावह सन्नाटा छा गया।

महाराज अपने कक्ष में बैठे प्रधानामात्य के साथ विचार-विमर्श करने लगे। दोनों अतिशय गम्भीर मुद्रा में थे। असाधारण परिस्थितियाँ बुद्धि को भी निष्क्रिय कर देती हैं। मनुष्य आगा-पीछा भी भूल जाता है। वह न यह समझ पाता है कि ऐसा क्यों हुआ? और न ही आगे का अपना व्यवहार निश्चित कर पाता है।

"ऐसा क्योंकर हो गया प्रधानामात्य जी?"

"कुछ सुझाई नहीं देता महाराज ! क्या निवेदन करूँ !"

"यह तो विचित्र घटना है। ऐसा कभी सुना भी नहीं गया।"

"आप सत्य ही कहते हैं देव ! इतनी आयु इस सेवक की भी हो गयी, किन्तु कभी न तो यह सुना कि पशु गर्भ से नर संतति उत्पन्न हुई हो; और न ही यह कि किसी स्त्री ने पशु-संतान जनी हो। यह तो अनहोनी ही हो गयी है, महाराज !"

"आज उचित ही कहते हैं, किन्तु कोई भी परिणाम अकारण तो नहीं होता। हमारे साथ ऐसा क्यों घटित हुआ? इसका कारण क्या रहा होगा?"

"..... ।"

"क्षमा करें महाराज, कारण मैं बता सकती हूँ।" सहसा सलखू ने प्रवेश कर कहा–मानो अपनी बात कहने की प्रतीक्षा में ही वह कुछ समय से बाहर खड़ी थी। उसने कहा–"मुझे इस विषय में काफी ज्ञान और अनुभव है। ऐसा कभी-कभी होता अवश्य है। जब कभी किसी स्त्री का संसर्ग पशु से हो जाता है तो स्त्री के गर्भ से पशु की संतति ही जन्म लेती है।"

महाराज को तो जैसे–काटो तो रक्त नहीं। जब उन्हें अन्य कोई निष्कर्ष न मिला तो दाई की बात को भी वे अविश्वसनीय कैसे मान लेते ! लज्जावश वे कई क्षणों तक तो नतशिर बैठे रह गये। प्रधानामात्य ने संकेत कर सलखू को वहाँ से विदा किया और स्वयं भी यह कहते हुए प्रस्थान की अनुमति चाहने लगे कि अभी यह प्रकरण हमें गोपनीय ही रखना होगा। हम-ही-हम इस तथ्य से अवगत हैं। सलखू नाइन का भी मुख बन्द रखना होगा; अन्यथा राजकुल का भारी अपयश होगा। महाराज ने मौन सहमति ही व्यक्त की। प्रधानामात्य भी प्रणाम कर विदा हो गये। अब तक सूर्योदय का समय समीप आने लगा था।

महाराज ने सामायिक आराधना सम्पन्न की और स्थिर मन से चिन्तन करने लगे। यह परिणाम उनके पूर्व-कृत कर्मों का सम्भव तो है, पर देवता का कथन भी मिथ्या कैसे हो सकता है ! देवता के कथन की पुष्टि तो विद्याधर के व्यवहारों और कथनों से भी हो चुकी है। पुत्र-प्राप्ति का योग ही क्योंकर झूठा हो सकता है। पुत्र प्राप्त होने पर ही तो देवता का भविष्य कथन सत्य सिद्ध होता–उसके स्थान पर यह अनैसर्गिक, अप्रत्याशित, अघटनीय कैसे घटित हुआ ! अवश्य ही इसमें रानी सुन्दरी की ही कोई त्रुटि रही हो। फिर सलखू नाइन की बात भी कैसे अस्वीकार्य समझी जा सकती है। मिथ्या कथन करने से उसे भला क्या लाभ ! तनिक से असावधान कथन से कितना अनर्थ हो सकता है, उसे कितना कठोर दण्ड मिल सकता है–इससे वह अनभिज्ञ भी नहीं हो सकती। तो.... क्या रानी सुन्दरी.... एक भीषण तथ्य की कल्पना से महाराज भीतर-ही-भीतर काँप उठे। उन्होंने पूर्ण तटस्थ भाव के साथ निर्णय किया और रानी सुन्दरी के लिए निष्कासन निश्चित कर दिया। सुदूर आखेट-वन में, एक पर्वत-शिखर पर निर्मित एक ऐतिहासिक आखेट-गृह में उसे भेज दिया गया। रानी वन में एकाकी जीवन व्यतीत करने लगी। दो श्वान-शावकों के साथ उसने इस कष्टपूर्ण, तिरस्कृत जीवन को आरम्भ किया। उसका कोई दोष न होते हुए भी उसे जिस विपत्ति में झोंक दिया गया

था, वह उसे सहिष्णुतापूर्वक स्वीकार कर चुकी थी। अशुभ कर्म चाहे अज्ञात ही रहें–उनके अशुभ फल भोगने ही पड़ते हैं। इसमें किसी अन्य पक्ष को दोषी ठहराना अबोधता है। अन्य पक्ष उसके निमित्त अवश्य बन जाते हैं, किन्तु वह न होता तो कोई अन्य पक्ष होता–परिणाम तो यही घटित होने को होता है। अतः रानी को न कोई पीड़ा थी, न किसी से कोई दुर्भावना थी। उसे तो यदि वेदना थी तो इसी बात की कि उसका अपने प्रियतम से असमय बिछोह हो गया था। यह उसका मोह था, ममताजन्य कष्ट था। शीघ्र ही वह इससे भी मुक्त हो गयी। समत्व की साधिका रानी निर्ममत्व भाव से वन्य-जीवन के कष्टों को भोगने लगी थी। इस दुःख-भोग में भी उसने चित्त में कोई अशुभ भाव न आने दिया। नवीन अशुभ कर्म-बन्ध से बचे रहने का यही अमोघ उपाय था और रानी सुन्दरी ने इस उपाय को दृढ़तापूर्वक अपना लिया था।

रानी को धर्माचरण और साधना का अभ्यास तो हो ही गया था। दुगुने उत्साह और आस्था के साथ वह यथासमय धर्म साधना करने लगी। अन्यजन चाहे कितने ही जघन्य पाप की थोथी कल्पनाएँ कर लें, किन्तु वह अपने अन्तःकरण से स्वयं को निष्पाप और निर्दोष ही मानती रहे।

श्वान-शावक उसके जीवित सहचर थे। इनके प्रति भी रानी के मन में असीम वात्सल्य भाव रहा। वह उनके साथ रहते हुए यह कभी अनुभव ही नहीं कर सकी कि वे श्वान हैं। उन्हें पुत्रवत् स्नेह देने में उसने कभी कोई कृपणता नहीं बरती। शावक भी इस निश्छल स्नेह से सदा अघाये रहते और मातृभक्ति का परिचय देते रहते। रानी उन्हें गोद में उठाकर प्यार करती, कंधों पर चढ़ाकर वन-भ्रमण कराती। अन्य पशुओं से उनकी रक्षा करती और आहारादि की समुचित व्यवस्था करती। धीरे-धीरे इस प्रेमपूर्ण वातावरण में शावकद्वय विकसित होने लगे। उसकी धार्मिक साधना के लिए तो यह निष्कासन एक वरदान सिद्ध हो रहा था।

× × ×

उद्यान-भवन चन्द्रालोक पुनः रिक्त हो गया। महाराज का आवास पुनः राजभवन हो गया। तेजस्विता और अन्य रानियों का पुनः भाग्योदय हो गया। रानी विश्व-सुन्दरी का प्रसंग किसी दुःस्वप्न की भाँति 'आया-गया' हो गया। रानी वृन्द का जीवन पुनः उमंग और उल्लास से परिपूर्ण हो गया। मंगल-कलश और आरती के साथ उन्होंने अपने स्वामी का स्वागत किया। राजरानी कल्याणवती और रानी जयावती तो जैसी कल थीं, वैसी ही आज भी बनी रहीं। न कल उन्हें दुःख था न आज किसी प्रकार के सुखानुभव से वे

छकी हुई थीं। समता-साधिका ये राजमहिषियाँ तो तटस्थ भाव से जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का एक ही प्रकार से स्वागत करना सीख गयी थीं। उनका मन समता रस से ऐसा सिक्त हो गया था कि अब उसमें सुख-दुःखात्मक प्रतिक्रियाओं के लिए कोई अवकाश ही शेष नहीं रह गया था।

राजभवन के अन्तःपुर में तो असाधारण उत्साह का वातावरण तब और भी गहरा गया जब एक मध्य रात्रि को सलखू दाई ने जाकर रानी तेजस्विता को विस्तार से शुभ समाचार दिया। ये सभी रानियाँ परम संतुष्ट हो गयी थीं। वे दाई के प्रति अत्यन्त आभारी हो गयी थीं कि उसने हर प्रकार से उनके जीवन को सुखमय बना दिया था। महाराज ने नयी रानी विश्व-सुन्दरी का परित्याग कर दिया–यही नहीं, अब तो उसे वन-वन की ठोकरें खानी पड़ रही हैं। बड़ी चली थी हमारी सौत बनने। अरी ! राजकुमारी ही कोई हो तो वह रानी बन सकती है। यों हर कोई भी क्या ऐसी हैसियत रख सकती है। वह कुतिया भला क्या खाकर हमसे होड़ करने चली थी।

एक रानी ने कहा–"दाई माँ, क्या जादू कर दिया तुमने? तुमने तो उसके गर्भ के बच्चों को ही श्वान-शावक बना दिया। कैसे कर दिखाया तुमने यह भला !"

अरे, रानी जी ! यह तो मैंने चुटकी बजाते ही कर दिया। अब न तो वह रानी सुन्दरी राजकुल को युवराज देने का गौरव पा सकी और न ही वह आपकी सौत बनकर दुःखदायिनी हो सकी। हो सके तो अब आप सभी उसको भूल ही जाइये। इसी में आपका भला है और मेरा भला तो इसमें है कि आप अपना वचन स्मरण कर लें।" आँखें नचाते हुए उस नाइन ने अपने सूने गले की ओर संकेत किया।

"अरे हाँ, दाई माँ ! हाँ, हम भूली नहीं हैं।" दूसरी रानी ने कहा–"तुमने हमारा काम पूरा कर दिया है तो इसका पुरस्कार भी तुम्हें मिलेगा ही, अवश्य मिलेगा।" यह कहते हुए रानी अपने गले का स्वर्णहार उतारने लगीं। देखते-ही-देखते नाइन दाई माँ की झोली हारों से भारी हो गयी। उसकी आँखों में स्वर्ण की प्रतिच्छाया झलकने लगी। उसे लोभ-पूर्ति की प्रसन्नता होने लगी। तभी रानी तेजस्विता ने कहा–"चल दाई माँ, चल मेरे कक्ष में। तुझे वचन के अनुसार स्वर्ण-मुद्राओं की थैली भी तो देनी ही होगी।"

रानी तेजस्विता एकान्त में सारा रहस्य जान लेना चाहती थी। थैली के लोभ ने दाई से सारी बात उगलवा दी। जब उसने रानी को सारा यथार्थ खोलकर सुना दिया तो उसका मन भी हलका हो गया। सलखू दाई ने

सावधान करते हुए रानी तेजस्विता से कहा–"सारा रहस्य गोपनीय ही रहे– यह अत्यन्त अनिवार्य है। आपके होठ इन बातों के लिए तो सिले हुए ही रहें रानी जी ! मैं तो आपकी सेविका हूँ, दासी हूँ..... कहीं मैं मारी न जाऊँ ?"

"ना-ना दाई माँ ! तू निश्चिन्त ही रह। बात खुलने पर हम क्या सुरक्षित बच रहेंगी। प्राणों का संकट तो हम पर भी आएगा न ! पर किया तूने खूब ही। हमारे प्रति अच्छी स्वामिभक्ति दिखायी है तूने।"

"अरे रानी जी ! हम दासियों का तो कर्त्तव्य ही यही है कि अपनी स्वामिनियों की सेवा करें, उन्हें सुखी और प्रसन्न रखें।" चापलूसी के स्वर में सलखू ने एक कृत्रिम हास के साथ कहा और झोली सँभालती हुई वह कक्ष के बाहर निकल गयी। इधर-उधर ताककर उसने परीक्षा कर ली कि कोई देख तो नहीं रहा है और तब आश्वस्त होकर वह आगे बढ़ गयी। वह स्वर्णांध बड़ी कठिनाई से रथ तक पहुँच पायी। वह रथ में चढ़ी और अश्वरथ को जैसे उड़ा ही ले गये।

● ●

स्वच्छता और सुरुचिपूर्णता में स्वतः ही शान्ति का निवास हो जाता है। बाबा ब्रह्मानन्द के आश्रम की स्थिति भी ऐसी ही थी। शान्तिधाम और विद्याओं-कलाओं का केन्द्र। नगरीय क्षेत्रों से सुदूर वन-खण्ड में स्थित यह आश्रम अपने समय का यशस्वी शिक्षापीठ था। दूर-दूर के राजपुत्र बाबा से शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा ग्रहण करने को इस आश्रम में प्रवेश प्राप्त करते थे। चम्पकमाला आश्रम के उद्यान की दत्तचित्तता के साथ देखरेख करती थी। यह बाला बाबा की दत्तक पुत्री थी। यही सारे आश्रम को सुव्यवस्थित रखती और बाबा से विद्याध्ययन भी करती।

चम्पकमाला पौधों को सींच रही थी। बड़ी कोमलता के साथ वह क्यारियों में जल-पात्र से जल दे रही थी। वह बड़ी सावधानी रखती थी कि कहीं जल-धारा के वेग से किसी पल्लव को भी आघात न लगे, किसी पौधे की जड़ बाहर न झाँकने लग जाय। कभी वह खुरपी से निराई भी करती तो बड़े प्यार से हौले-हौले ही मिट्टी को यों पलटती कि किसी तने को खरौंच न लगे। आश्रम के सभी लता-गुल्म, पुष्प-फल उसे अपने पारिवारिक सदस्य लगते थे। एक लता का ऊपरी भाग जब स्तम्भ से फिसलकर नीचे को आ गया तो प्यार भरे उलाहने के स्वर में वह फुसफुसायी–"अरी ! तू बड़ी ढीठ होती जा रही है। अभी कल तुझे मैंने ऊपर चढ़ाया था, फिर नीचे उतर आयी। चल तुझे मैं अपने स्थान पर पहुँचा देती हूँ।" चम्पकमाला ने लता के तन्तुओं को ज्यों ही स्तम्भ पर ऊपर की ओर लपेटा, खुलकर लता फिर से नीचे झुककर झूलने लगी। एड़ियाँ ऊँची करके चम्पक ने उसे फिर से ठीक करते हुए कहा–"बड़ी हठी होती जा रही है री, तू तो। पर तुझे ऊपर जाना ही होगा।" वह प्रयत्न कर ही रही थी कि आश्रम की पालित हरिणी ने अपने मुँह में उसका आँचल पकड़कर खींचना आरम्भ किया। "अब तू क्या चाहती है? ठहर .... अभी आती हूँ।"–चम्पक ने कहा और उसकी ओर मुड़ी। उसकी स्निग्ध गर्दन को अपने वक्ष से लगाकर उसने उसे पुचकारा और स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फिराने लगी। "हाँ .... हाँ, समझ गयी .... मैं सब समझ गयी हूँ–तू क्या

चाहती है ! चल तेरा भी प्रबन्ध करते हैं।" यह कहकर वह एक कुटिया की ओर बढ़ी और घुँघरू खनकाती हुई हरिणी भी उसके पीछे हो ली। मिट्टी के एक छिछले पात्र में उसने कुछ अन्न रख दिया और दूसरे में स्वच्छ जल भर दिया। कृतज्ञ भाव से, शान्त मन होकर हरिणी अपना आहार लेने लगी। तभी उसके लिए उद्यान के एक कोने से चम्पक हरी-हरी दूब तोड़ने लगी।

इसी मध्य आनन्दसेन उद्यान से पुष्प चयन कर लाया था। छोटी-सी बाँसिनी रंग-बिरंगे सुवासित पुष्पों से भरी थी। खुले छप्पर के नीचे बैठकर चम्पक पुष्पहार गूँथने लगी। आनन्दसेन बाबा का दत्तक पुत्र था और चम्पक का भाई। दोनों भाई-बहिन रूप-गुण-शील में कुलीन और अत्यन्त शिष्ट थे। नम्रता, आदर-भावना तो उनके रक्त-संस्कार में ही अविचल रूप में रची-बसी थी। दोनों में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था। आश्रम की व्यवस्थाओं में दोनों ही एक-दूसरे के पूरक थे। इस किशोरावस्था में ही आनन्दसेन का व्यक्तित्व अतिभव्य और निखारोन्मुख हो गया था। उसका मुख-मण्डल दिव्य तेज से जगमगाता रहता था। आजानुबाहु आनन्दसेन चौड़े वक्ष-स्थल और प्रशस्त ललाट से, सुदृढ़ बाहुओं और आत्म-विश्वास के तेज से दमकते नेत्रों से– सचमुच होनहार पराक्रमी वीर लगता था। उसके समस्त व्यवहार में उसकी परम उदात्तता व्यक्त होती थी। आनन्दसेन का प्रभाव आश्रम के समस्त विद्यार्थियों के मन पर आदर्श रूप में अंकित रहता था।

बहिन चम्पकमाला का सहयोग करने में उसे बड़ा हर्ष अनुभव होता था। चम्पकमाला हार गूँथ रही थी, आनन्द एक-एक पुष्प उठाकर उसे थमाता जा रहा था। इसी समय भीतर से आकर काननबाला ने दोनों भाई-बहिनों को स्नेह से पुकारा। दोनों ने उनके चरण स्पर्श कर वन्दना की। काननबाला ने हाथ उठाकर आशिष दी–"आयुष्मान् भव !"

चम्पक और आनन्दसेन–दोनों बाबा के आश्रम में कब से हैं, उन्हें स्वयं भी इस विषय में कुछ ज्ञात न था। वे बड़े ही इसी आश्रम में हुए थे। उन्होंने जब से ज्ञान और चैतन्य सँभाला तब से स्वयं को उन्होंने इसी आश्रम में पाया। बाबा का स्नेह ही उनके लिए जननी का वात्सल्य भी था और पितृ-संरक्षण भी। वे ही इनके लिए माता-पिता-गुरू आदि सब-कुछ थे। पिता का दायित्व उन्होंने भली-भाँति निभाया–इसमें कोई सन्देह नहीं था। वे ही शिक्षा देते थे, विद्याएँ सिखाते थे, संस्कार पनपाते थे, धर्माचरण की प्रेरणा देते थे और वे ही मानवता के मापदण्डों की व्याख्या कर आदर्श आचरण के अभ्यासी बना रहे थे। चम्पक और आनन्द के सारे स्वरूप और व्यक्तित्व के

शिल्पी स्वयं बाबा ब्रह्मानन्द ही थे। 'आनन्दसेन' और 'चम्पकमाला' नामकरण भी बाबा का ही किया हुआ था। जन्मजात प्रतिमाओं को परखकर वे आनन्द को विशेष रूप से शस्त्र-संचालन में कुशल और दक्ष बनाते जा रहे थे और शास्त्रों में भी पारंगत कर देना चाहते थे। धर्म-सिद्धान्तों का ज्ञान भी कराते और नीति-न्याय का भी। जब से काननबाला इस आश्रम में आई हैं, तब से चम्पक के लिए तो गृह-कलाओं और स्त्रियोचित व्यवहार के प्रशिक्षण का विशिष्ट अवसर ही सुलभ हो गया था। विगत कुछ वर्षों से काननबाला भी इसी आश्रम में स्थायी रूप से रहने लगी थीं। वे इस विराट् जगत् में सर्वथा एकाकी थीं। उनके मानस में अपार वेदनाएँ थीं किन्तु समत्व-भावना के प्रभावी अभ्यास से उसने उनका शमन कर लिया था। वन-वन भटकते एक दिन जब वे आश्रम के समीप से होकर जा रही थीं इसके पावन और भव्य वातावरण से अत्यधिक प्रभावित हुईं। उन्होंने सहमते-सहमते इस आश्रम में प्रवेश किया तो गुरु-कन्या चम्पक से भेंट हो गयी। चम्पक ने देखा तो नव आगंतुका इस महिला को देखती ही रह गयी। उसे लगा जैसे स्वयं वन-देवी अपनी समस्त पावनता और शान्ति के साथ साक्षात् प्रकट हो गयी हो। उसके मन में इस नारी के प्रति अद्भुत अपनत्व जाग्रत हो गया था और भावातिरेक से लपककर आयी और काननबाला के पैरों से लिपट गयी। उसने ऊपर की ओर गर्दन कर जो मुस्कान बिखेरी तो कानन के अन्तर में अपार वात्सल्य-सरोवर लहराने लगा। घुटनों के बल बैठकर उन्होंने उसे गले लगा लिया था। बड़ी देर तक वह उसे अपने बाहुपाश में जकड़े रहीं और तब उसके फूल से गालों को सहलाते हुए सहज ही पूछ लिया–"बड़ी प्यारी बच्ची हो–यह तो बताओ तुम किसकी कन्या हो?" और बड़ी ही त्वरा के साथ बालिका ने उत्तर दे दिया था–"अपनी ही बेटी समझ लो ! वैसे मैंने माँ को देखा नहीं। तुम मेरी माँ नहीं बन सकतीं?" बालिका की सहज निरीह बातों से काननबाला के नेत्र आर्द्र हो उठे। उसके प्रति अतिशय लगाव अपने मन में पाकर वे सोचने लगीं–"अवश्य इस कन्या के साथ मेरा पूर्व-जन्म का सम्बन्ध रहा होगा।" वे प्यार भरी वाणी में बोलीं–"अरे ! तुम तो बेटी ही हो मेरी। मैं तुम्हारी माँ हूँ। आज देख लो माँ कैसी होती है।" और उन्होंने बालिका को पुनः अपने कोमल आलिंगन में आबद्ध कर लिया। चम्पक तो निहाल ही हो गयी। तभी उसने बाल्योचित चपलता के साथ कहा–"चम्पक .... चम्पकमाला नाम है मेरा।" और खनखनाती हँसी उसके मुख से निसृत होने लगी। "अरे तब तो तुम अवश्य मेरी ही बेटी हो ! मैं कानन हूँ। काननबाला।"–आगन्तुक नारी ने कहा था–"कानन और चम्पक का तो ऐसा ही नाता रहता है।"

चपल चम्पक प्रेम के साथ काननबाला को धकेलती हुई भीतर लाने लगी–"चलो माँ, चलो–तुम्हें बाबा के दर्शन करा दूँ।" पर-पुरुष की चर्चा आने पर वह शीलवती नारी किंचित् सावधान हो गयी और 'बाबा' के विषय में परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक समझकर उन्होंने पूछा–"बाबा ! ये कौन हैं? कैसे हैं तुम्हारे बाबा?"

धीमे-धीमे चरणों से आगे की ओर बढ़ती हुई चम्पक ने ऊपर देखकर, काननबाला का मुख निहारते हुए कहा–"अरे ! बाबा को नहीं जानतीं तुम ! यह आश्रम बाबा का ही तो है। वे हमसे बहुत प्यार करते हैं। चलो-चलो।"

इस संक्षिप्त से परिचय से ही कानन आश्वस्त हो गयीं; बोलीं–"अच्छा ! ऐसा है क्या? चलो भई चलो, तब तो तुम्हारे बाबा के दर्शन करने ही होंगे।" और वे बालिका के साथ आगे बढ़ गयीं।

"बाबा···· ओ बाबा ! ये मेरी माँ आ गयी हैं। आप कहते न थे कि एक दिन मुझे मेरी माँ मिल जायेगी। लो, आज आ गयी हैं मेरी माँ। अब ये भी यहीं रहेंगी, मेरे साथ। कहीं भी जायेंगी नहीं अब ये।" बहुत ही उत्साह के साथ बालिका ने कहा और बाबा ने भी उसके उत्साह को बढ़ाते हुए तब कहा था–"हाँ···· हाँ, चम्पक ! अब इन्हें जाना कहाँ है। तुम्हें खोज रही थीं तुम्हारी माँ। अब तुम मिल गयी हो तो ये यहीं रहेंगी, तुम्हारे साथ।"

"बाबा···· बाबा ! ये कौन होती हैं आपकी?" जब बाल-जिज्ञासावश चम्पक ने भोलेपन के साथ पूछा तो बाबा ब्रह्मानन्द ने भी समझाते हुए कहा–"यह जो तुम्हारी माँ हैं न, हमारी बेटी हैं। समझी? तभी तो हम तुम्हारे 'बाबा' हैं।" यह कहते हुए बाबा ने चम्पक की ओर बड़े ध्यान से देखा और कहा–"अच्छा जाओ, अपने आनन्द भैया को बुला लाओ। वह भी तो अपनी माँ से मिलेगा ना !" और अत्यन्त प्रसन्न होती हुई चम्पक तालियाँ बजाती हुई, उछलती-कूदती वहाँ से दौड़ गयी।

काननबाला से उनकी आत्मकथा सुनकर बाबा ब्रह्मानन्द ने तत्काल यही निश्चय किया कि अब वे यहीं रहेंगी। कानन की जीवन-गाथा सुनकर बाबा का मानस कुछ सक्रिय हुआ। कुछ नये-पुराने सूत्रों का ताल-मेल बैठने की सम्भावना भी सजीव होने लगी और कुछ यह जानकर कि विद्यमान परिस्थितियों में वे सर्वथा अनाश्रित हैं–बाबा ने यही निश्चय उपयुक्त समझा। कानन से जो उनका वार्त्तालाप हुआ–उससे वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि उसकी धर्म-भावना और धर्म-प्रवृत्तियाँ बड़ी उच्च श्रेणी की हैं। आश्रम के लिए इनकी सेवाएँ बड़ी उपयोगी रहेंगी। कानन के सुलझे हुए विचारों और

जीवन-दृष्टि से भी बाबा बहुत प्रभावित हुए। "बेटी ! आज से तुम मेरी धर्म-पुत्री हुईं। अब तुम्हें यहीं रहकर आश्रम-संचालन में मेरा हाथ बँटाना होगा।" बाबा ने आदेश दिया और हाथ जोड़कर प्रणाम मुद्रा में, शीष झुकाकर कानन ने आदेश-पालन हेतु अपनी तत्परता व्यक्त कर दी।

तब से काननबाला बाबा ब्रह्मानन्द के आश्रम में ही रहने लगी थीं। वे गृह कार्य करतीं, भोजनशाला सँभालतीं, गोशाला का कार्य देखतीं, अध्ययनार्थियों को ममता के साथ पोषित करतीं और उन्हें धर्म का मर्म भी समझातीं। चम्पक को नारियोचित कलाओं का प्रशिक्षण देने का दायित्व उन्होंने विशेष रूप से स्वीकार कर लिया था। आदर्शों और संस्कारों की स्थापना का उनका प्रयत्न सफल भी होता जा रहा था। उसे देखकर सहजतः काननबाला को अपना शैशव स्मरण हो उठता। वे सोचतीं–अवश्य ही बाल्यावस्था में मैं भी चम्पक जैसी रही हूँगी और वयस्क होकर वह मेरी जैसे भी हो सकती है। इन दोनों में जो अद्‌भुत साम्य था–वह दोनों के अन्तरमनों को अदृश्य तारों से जोड़ भी देता था।

× × ×

लाठी चलाने का अभ्यास समाप्त हुआ। अभ्यासार्थियों ने लाठियाँ उठायीं और एक तरफ रख दीं। अब उनके हाथों में धनुष-बाण थे। सभी बालक धनुष धारण कर पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। धनुर्धारी के रूप में किशोर आनन्द बड़ा सुन्दर लग रहा था। काननबाला ने उसे देखा तो वह देखती ही रह गईं और अतीत की छवियों में खो गयीं। उनका मन असंयत होकर भटकने लगा।

वत्स, देखो–आश्रम के बाहर दूर जो वह ऊँचा खजूर का वृक्ष खड़ा है। उस पर लाल-लाल मनोहर फल लगे हैं। तुममें से प्रत्येक को एक-एक तीर चलाना है और उनमें से केवल एक फल को बेधना है। वही फल बाण से बिंधकर धरती पर आना चाहिये। शेष फल वहीं रहने चाहिए। कौन-कौन बालक यह कर दिखा सकेगा?

चार बालक पंक्ति से बाहर, आगे बढ़ आये और गुरुदेव को झुककर प्रणाम किया। पहले बालक ने बाबा का निर्देश पाकर शर-संधान किया। बाण फलों की ऊँचाई तक तो गया, किन्तु फलों को स्पर्श किये बिना ही हवा में तैरता हुआ निकल गया। वह लजाता हुआ पीछे हट गया। अब दूसरे बालक ने प्रयत्न किया। उसका बाण फलों तक पहुँचा तो, किन्तु तने में गड़कर रह गया। कुछ फल नीचे गिरते हुए भी दिखायी दिये। तीसरे बालक के बाण में चार फल बिंधकर भूमि पर आ गये। अब क्रमानुसार आनन्द की बारी थी।

बाबा को प्रणाम कर वह दो-एक चरण आगे बढ़ आया। हाथ पीछे को घुमाकर उसने काँधे पर लगे तूणीर से एक बाण निकाला। धनुष पर रखकर उसने प्रत्यंचा खींची। एक फल को देखकर उसने लक्ष्य निर्धारित कर लिया। एक पैर को पीछे कर अगले पैर को उसने घुटने पर से कुछ झुकाया। लक्ष्य को अनन्य बनाते हुए उसने एकाग्रचित्तता के साथ, साँस रोककर हौले से प्रत्यंचा खींची और बाण छोड़ दिया। बाण इस क्षिप्र गति से चला कि कुछ ज्ञात ही नहीं हो सका, किन्तु पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ आनन्द करतल ध्वनि कर दौड़ गया और शीघ्र ही अपना बाण ले आया और गुरुदेव को प्रेषित किया। बाण में एक खजूर अटका हुआ था। बाबा अपने शिष्य की सफलता पर गर्वित हुए। कानन के मन में भी हर्षातिरेक होने लगा।

अब बाबा ने शर-संधान का दूसरा अभ्यास कराया। अपने शिष्यों को उन्होंने कहा–"उस आम्र-वृक्ष के शीर्ष पर जो लाल कोंपल सबसे ऊपर दिखायी दे रही है–अब उसे इस प्रकार लक्ष्य बनाना है कि बाण के साथ जाकर पीछे वाले बरगद के तने में चिपक जाय।" अबकी बार केवल आनन्द ने यह तत्परता दिखायी और इस शर-संधान में भी वह पूर्णतः सफल रहा। प्रत्येक सफलता पर आनन्द का आत्म-विश्वास और नम्रता दोनों ही विकसित होते जा रहे थे। उन्नयन के चरम-स्पर्श का यह एक अमोघ पूर्व संकेत था।

अबकी बार बाबा ने अपने एक मौलिक संधान का अभ्यास कराते हुए आनन्द से कहा–"वत्स ! अब सचेतक शब्द-संधान का अभ्यास करो।" आनन्दसेन ने अपने गौर मुख पर झूल आयी घुँघराली श्याम लटों को, सिर हिलाकर पीछे किया और भाल पर बरौनियों के पास छलक आये स्वेद कणों को अपनी तर्जनी उँगली से पोंछ लिया। यज्ञोपवीत को ठीक करते हुए वह बाबा के कुछ समीप आ खड़ा हुआ। अपने अन्य शिष्यों को सम्बोधित करते हुए बाबा ने कहा–"सुनो, शर-संधान की यह एक विशेष पद्धति होती है। इसमें लक्ष्य तो होता है, किन्तु न तो वह दृश्यमान होता है और न ही उसे बेधा जाता है। धनुर्धर केवल ध्वनि या आहट सुनता है। इससे वह अपने लक्ष्य-शत्रु के स्थल का मात्र अनुमान लगा पाता है कि ध्वनि का स्थान किस दिशा में है और कितना दूरस्थ है। उसी के अनुसार वह शर-संचालन करता है। इस प्रकार लक्ष्य को बेधने की कला तो कुछ सामान्य हो चली है। इस 'सचेतक शब्द-संधान' में उस लक्ष्य पर प्रहार नहीं किया जाता; अपितु बाण सनसनाता हुआ शत्रु के समीप से होकर निकल जाता है। शत्रु-संहार इसका प्रयोजन नहीं होता, शत्रु को मात्र सावधान ही कर दिया जाता है। हाँ, वत्स !

अब तैयार हो जाओ।"–बाबा का आदेश पाकर आनन्द ने बाण और धनुष हाथ में लिया और संधान हेतु तत्पर हो गया। उसका सारा ध्यान बाबा के निर्देश की प्रतीक्षा करने लगा। बाबा ने कहा–"आनन्द सुन रहे हो यह छुम ···· छुम की ध्वनि। कहीं बहुत दूरी से आ रही है। उसे लक्ष्य मानकर शर-संधान करो।"

अब तो आनन्द की समग्र चेतना जाग्रत होकर उसकी कर्णेन्द्रिय में केन्द्रित हो गयी। एकाग्र मन से वह उस ध्वनि को सुनकर उसकी दिशा का सत्य-सत्य अन्वेषण करने लगा। वह अपने स्थान पर टिका-टिका ही अपनी बायीं ओर बहुत ही धीमे-धीमे चक्रित होने लगा और एक स्थान पर रुककर बहुत ध्यान से सुनिश्चय करने लगा। उसका आत्म-बल तो बहुत उन्नत था ही, उसका मन भी दृढ़ निश्चयी था। वह कभी संशय में न पड़ता था। लक्ष्य का सुनिश्चय हो जाने पर उसने बाण साधा और छोड़ दिया। उस निर्जन वन में तीर तीव्र गति से बढ़ता चला गया। कुछ क्षणों तक तीर की सनसनाहट और प्रत्यंचा की तनतनाहट सुनायी देती रही। और फिर उत्सुकतायुक्त सन्नाटा छा गया। इसी सन्नाटे को चीरती हुई एक घोर ध्वनि आने लगी। समीप से समीपतर होती यह ध्वनि किसी कुपित व्यक्ति की है–यह भी स्पष्ट होता जा रहा था। और कुछ ही क्षणों में तब एक विकराल आकृति का भीमकाय व्यक्ति आश्रम में प्रविष्ट हुआ। सुदृढ़ श्यामवर्ती देह किसी पर्वत-शिखर सी दिखायी दे रही थी। उसके सिर पर खड़े, छोटे-छोटे बाल मानो शिखर पर उग आयी घास जैसी लग रही थी। क्रोधावेश में उसके आरक्त हुए छोटे-छोटे नेत्र दहकते हुए अंगारों जैसे प्रतीत होते थे। स्वर-भंग के कारण उसकी बात को स्पष्टतापूर्वक समझने में कुछ कठिनाई होती थी। आश्रम में वह धमधमाते हुए आया और अपना भारी चरण पटकते हुए आवेश के साथ बोला–"यह कौन अशिष्ट था? किसने बाण चलाया?"

उत्तर स्वयं बाबा ब्रह्मानन्द ने दिया–"तीर किसी ने भी चलाया हो ···· उससे तुम्हारी हानि तो नहीं हुई कुछ?"

"हानि हो ही जाती तो आपत्ति करने को शेष बचता ही कौन गुरुदेव ! तीर सनसनाता हुआ मेरे कान के पास से निकल गया। प्राण-हानि से मैं तो बस बाल-बाल ही बच गया।" उसने कहा।

"तुम ठीक कहते हो। हमारे शिष्य ने ऐसा ही शर-संधान किया था। हम प्रसन्न हैं कि इस कठिन परीक्षा में वह सफल रहा है। इस बाण-संधान में किसी व्यक्ति को लक्ष्य बनाया भी नहीं जाता। तुम्हारी ध्वनि सुनकर बाण

छोड़ा गया था, वह तुम्हें लग ही नहीं सकता था। यह तो केवल लक्ष्यित व्यक्ति को सचेत कर देता है। वही इसने किया भी है। सचेतक शब्द-संधान कहते हैं इसे।" बाबा ने मुस्कराते हुए कहा और यह सुनकर आगंतुक तो एकदम सकते में आ गया। बोला–"बाबा, इतनी कठिन शर-संधान कला में भी आपके शिष्यगण निपुण हैं। इस प्रकार का संधान तो मैंने अब से पूर्व कभी सुना भी नहीं। धन्य हैं आप, गुरुदेव !" यह कहते हुए उसने बाबा के चरणों में प्रणाम किया।

बाबा ब्रह्मानन्द ने मस्तक छूकर आशिष दी–"कल्याण हो वत्स !" प्रसन्न होते हुए उसने कहा–"गुरुदेव ! मेरा जीवन सफल हो गया। आपने मुझे वत्स कहा–मैं तो कृतार्थ ही हो गया।" वह हाँफ रहा था, अभी भी वह पूर्णतः सामान्य नहीं हो पाया था। यह भाँपकर बाबा ने पूछा–"कहो .... जल पीओगे?" "जी, जल तो अवश्य ही पीऊँगा। मैं तो जल की खोज में ही इस दिशा में चला आया था। किन्तु आपका वह शिष्य कौन है, जिसने ऐसा अद्‌भुत शर-संधान किया?"

आनन्द तब तक जल ले आया था। पीकर उसे जब कुछ तृप्ति और संतोष हुआ तो उसने आनन्द को ध्यान से देखा। इसी समय बाबा ने कहा–"हाँ, यही वह शिष्य है–आनन्द–जिसने तीर चलाया था।" "अरे वाह ! इतना छोटा-सा बालक और ऐसा चमत्कार !" उसे आश्चर्य होने लगा।

"लेकिन, वत्स तुम कौन हो, क्या नाम है तुम्हारा?" बाबा ने पूछा।

"गुरुदेव ! मैं हाथी हूँ। नाम तो मेरा यह नहीं है। किन्तु मेरे बलिष्ठ और विशाल श्याम तन के कारण लोग मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। अब तो यही मेरा नाम रह गया है। आपके आशीर्वाद से मैंने मल्ल-विद्या में कुछ यश अर्जित किया। दंगल की कला का एक-एक बिन्दु मेरे लिए हस्तामलकवत् हो गया है। मैंने अपने कुछ शिष्य भी तैयार किये हैं। उन्होंने भी अच्छा यशार्जन किया है।" हाथी की बात सुनकर बाबा प्रभावित हुए। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि पुनः हाथी ही बोल पड़ा–"गुरुदेव, आप अनुमति प्रदान करें तो एक निवेदन करूँ !"

"कहो वत्स ! क्या कहना चाहते हो?"

"गुरुदेव, आपका शिष्य यह आनन्द बड़ा पराक्रमी निकलेगा।" हाथी ने भूमिका बनायी–"अभी से इसके यशस्वी होने के लक्षण दिखायी देने लगे हैं। इसके देह गठन से लगता है कि यह मल्ल-विद्या में भी निष्णात हो सकता है।

यह दूर-दूर तक इस क्षेत्र में अपना कीर्तिमान स्थापित कर सकता है। आनन्द तो राजकुल का वंशज प्रतीत होता है। मैं इसे मल्ल-विद्या में पारंगत बना दूँगा। बस आपकी अनुमति और आशिष की कामना है।"

बाबा ब्रह्मानन्द ने हाथी के कथन पर विचार किया और पाया कि उसमें कुछ सार अवश्य है। आनन्द को इस कला से यह लाभ तो अवश्य ही होगा कि उसके शरीर-बल में विकास और उसकी यह बलिष्ठता अन्य-अन्य क्षेत्रों में भी उसे पराक्रमी सिद्ध करेगी। बाबा ने हँसते हुए, हाथी को अनुमति प्रदान कर दी। प्रसन्न-वदन हाथी ने गुरुदेव का आभार स्वीकार किया। सुयोग्य और सुपात्र शिष्य मिल जाने पर गुरु को जो हर्षानुभव होता है, वही इस समय हाथी को हो रहा था। उसे इस बात का आत्मिक विश्वास था कि वह आनन्दसेन को एक अपराजेय, विश्व-विश्रुत मल्ल के रूप में ढालने में अवश्य ही सफल हो जायेगा। आनन्द को पराक्रम का यह नवीन क्षेत्र मिल जाने पर हार्दिक प्रसन्नता हो रही थी। उसका उत्साह दीप्ति बनकर नयनों से झाँकने लगा था। काननबाला को मन-ही-मन आनन्द के भावी उत्कर्ष पर एक स्वाभाविक आह्लाद की अनुभूति होने लगी थी।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए आनन्द को मार्ग मिला ही हुआ था। पूज्य बाबा का संरक्षण तो उसे प्राप्त था ही, मातृवत् कानन का मार्गदर्शन भी सुलभ होने लगा था। समता-भावना इन दोनों भाई-बहिनों के लिए एक स्थायी मानसिक तत्त्व होता जा रहा था। जीवन और जगत् के समस्त व्यवहारों को उन्होंने समता की भावना पर ही आधारित कर दिया था। माँ ने उन्हें शिक्षा ही ऐसी दी थी। जगत् के किसी भी विषय से अनुरक्ति और ममता नहीं रखना—यह एक ऐसा मार्ग है जो सच्चे सुख-शान्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को समर्थ बना देता है। कानन आनन्द और चम्पक को समझातीं और उन्हें जीवन के सन्मार्ग पर लाती रहीं।

"यह कर्म-फल क्या होता है माँ ? क्या हमारा आज का सुख-दुःख पूर्व-कृत कर्मों पर आधारित होता है?" सहज जिज्ञासावश आनन्द ने प्रश्न किया। माँ का मन अपने धर्म-पुत्र की इस जिज्ञासा से प्रफुल्लित हो उठा। जिज्ञासा ही ज्ञान-लाभ के क्रम का प्राथमिक सोपान होता है। जानने की कामना है तो जानने का प्रयत्न भी होगा और सच्चा प्रयत्न सफल ही होता है। कानन ने आनन्द और चम्पक को समझाया कि मनुष्य जो भी कार्य करता है—अशुभ अथवा शुभ, उनसे शुभाशुभ कर्म-बन्ध होते हैं। इनके परिणाम-स्वरूप बाद में, आगामी भव में उसे सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। सम-भाव के

साथ इन सुखों अथवा दुःखों को भोगने में ही विवेक माना गया है। दुःख, चिन्ता, ईर्ष्या, क्रोधादि मनोभावों से दूर रहते हुए ही मनुष्य को विद्यमान परिस्थितियों से पार होते जाना चाहिए। शुद्ध विचारों के साथ सुख-दुःख भोगने से नये अशुभ कर्म बँधते नहीं। आगामी भव सुरक्षित हो जाता है। यही नहीं, पूर्व अशुभ कर्मों का क्षय भी होने लगता है। अस्तु अशुभ भावों से दूर रहने में ही हित है। जब, जैसी परिस्थिति आये–उसका सम-भाव से स्वागत करना चाहिए। न तो सुख में गर्वित होना ठीक है और न ही दुःख के कारण हीन भावना आनी चाहिए। सहिष्णुतापूर्वक समय व्यतीत करते जाने में ही विवेकशीलता रहती है। भले दिनों की प्रतीक्षा अकारथ नहीं जाती। शुभ कर्मों का उदय होने पर दुःख भाग जाते हैं, सुख की घड़ी छा जाती है।

माँ के उपदेशों का दोनों भाई-बहिन पर गहन और अनुकूल प्रभाव होता था। वे दोनों सामायिक भी सीख चुके थे। नित्य प्रातः-सायं उसकी आराधना करते थे। आश्रम के सभी सदस्य इसका अभ्यास करने लगे थे। नवकार महामंत्र की महिमा को हृदयंगम कर वे इसका जाप करने में भी पीछे नहीं रहते। चम्पक और आनन्द के बाह्य और आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व का इस प्रकार भली-भाँति विकास होता चला जा रहा था। काननबाला और बाबा दोनों को इससे संतोष और हर्ष था।

● ●

समय सरकता चला गया। आनन्द एक बलिष्ठ, साहसी तरुण के रूप में निखर आया। कंचन-सी उसकी पुष्ट देहयष्टि बड़ी आकर्षण, बड़ी मनोहर हो गयी थी। उसका शरीर-सौष्ठव बढ़ता चला जा रहा था। भुजाएँ कसी हुई, प्रशस्त वक्ष गठा हुआ, पिंडलियाँ ठोस और चुस्त–सभी प्रकार से वह एक सक्षम मल्ल की बाह्य आकृति का श्रेष्ठ स्वामी हो गया था और आभ्यन्तरिक साहस वृत्ति में भी वह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। प्रातः वह दण्ड पेलकर निवृत्त हुआ ही था कि माँ एक पात्र में मधुर दुग्ध ले आयीं। दूध गटककर वह विश्राम कर रहा था। इसी समय बाबा उधर पहुँच गये। त्वरा के साथ आनन्द ने उनका चरण स्पर्श किया और करबद्ध खड़ा वन्दना करने लगा। बाबा ब्रह्मानन्द ने आशिष प्रदान करते हुए हाथ ऊपर को उठा दिया। वे बोले–"आयुष्मान् आनन्द ! सदा विजयी रहो !! तुमने दत्तचित्तता के साथ मल्ल-विद्या सीखी है। संयोग से तुम्हें गुरु भी इस विद्या का निष्णात एक यशस्वी मल्ल ही मिला है। हाथी तुम्हें इस क्षेत्र में सर्वथा निपुण बना देगा– इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहा। यह बात अवश्य ध्यान में रखना कि दंगल में विजय प्राप्त करने के लिए मल्ल को बाघ-सा साहसी और चीते जैसा चुस्ती-स्फूर्ति वाला होना चाहिए। फिर बल भी सार्थक हो जाता है। तुम्हारा अभ्यास सफल हो !"–यह कहते हुए बाबा चले गये। तभी हाथी आश्रम में उपस्थित हुआ। खुले आँगन में ही उसे गुरुदेव के दर्शन हो गये। नमन-वन्दन के उपरान्त उसने कहा–"बधाई हो गुरुदेव ! आपका धर्म-पुत्र तो मल्ल-विद्या में आशातीत कुशल हो गया है। कल जब उसके दाँव-पेंचों की परीक्षा मैंने लेनी चाही तो उसने अपनी अद्‌भुत चातुरी प्रकट की। मैंने उसे दाँव-पेंच और जवाबी दाँव सिखाये। चाहता तो मैं यह था कि दाँव चलाकर उसके सीखे हुए जवाबी दाँवों की परख करूँ, किन्तु उसने नव-नवीन मौलिक दाँव ऐसे चलाये कि मैं भी चकित रह गया। अपनी सारी शक्ति और क्षमता का उपयोग करके भी मैं हावी नहीं हो सका। बल चाहे मुझमें अपेक्षाकृत अधिक ही क्यों न हो, पर वह बल अनुपयोगी ही रहा। आनन्द ने मुझे धराशायी कर दिया और

चित्त बोला दिया। अपनी पराजय स्वीकार करते हुए भी मुझे अत्यन्त हर्ष और गर्व का अनुभव होने लगा गुरुदेव !''

''तुम ठीक ही कहते हो हाथी.... ठीक ही कहते हो। सच्चे गुरु को अपने शिष्य के उत्कर्ष से निर्मल प्रसन्नता होती है। वह चाहता है कि शिष्य को उसकी अपेक्षा भी अधिक उच्चता, गौरव और कीर्ति मिले। इस हेतु वह सच्चे हृदय से कामना करता है।'' बाबा ने कहा–''उसने पर्याप्त प्रगति भले ही की हो, तथापि उसे अभी भी तुमसे बहुत-कुछ ग्रहण करना है। तुम्हें संतोष करके नहीं बैठ जाना है।''

अभ्यास पूरा कर एक दिन आनन्द ने हाथी से कहा कि स्वर्णनगरी में इस वर्ष वसन्तोत्सव पर मल्ल-युद्ध की प्रतियोगिता का आयोजन भी किया जा रहा है। अभी तो बहुत समय शेष है। उसने यह भी कहा कि यदि हाथी-गुरु की अनुमति मिल जाय तो उसे भी इस प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की कामना है। वह भी अपने कौशल और बल का प्रदर्शन करना चाहता है। गुरु ने इस समय की परिस्थिति को टालने के प्रयोजन से कहा कि वह अपना अभ्यास तो उस स्तर का पहले कर ले। उसके पश्चात् ही इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए कि उस होड़ में भाग लेना उपयुक्त है भी, अथवा नहीं। यह बात सुनकर आनन्द का उत्साह और बढ़ गया। उसे विश्वास था कि थोड़ा-सा परिश्रम करके वह अपेक्षित स्तर से भी कुछ ऊँचा ही हो जायेगा। हाँ, परिश्रम करने और कौशल को और भी बढ़ा लेने का यह अच्छा मिस मिल गया है। अब वह और अधिक रुचि के साथ अभ्यास करने लगा। हाथी-गुरु भी उसे नयी-नयी तकनीक सिखाता और आनन्द उसे तत्काल अपना लेता। ऐसी होड़ में सम्मानजनक स्थान पाना आनन्द के लिए दुष्कर न था और दिलाना तो हाथी के लिए बहुत सुगम था, किन्तु उसने आनन्द को कभी भी इन स्थितियों का आभास न होने दिया। ''प्रतिद्वन्द्वी चाहे साधारण ही प्रतीत होता हो, उससे सावधान रहना और स्पर्धा के लिए अधिकाधिक शक्ति अर्जित करना चाहिए–विजय का यही रहस्य है। संघर्ष के पूर्व स्व-शक्ति को अपरिमित मानकर, स्वयं को दुर्जेय मानकर चलना स्वयं को धोखा देना ही है, जिसके परिणाम भी निराशाजनक होते हैं।'' हाथी ने अन्त में कहा–''शत्रु को दुर्बल मानने की भूल कभी न करो। उसे शक्तिशाली समझो और विजय का लक्ष्य मानकर तैयारी करो।''

बात बड़े मर्म की थी। आनन्द ने इसे हृदयंगम कर लिया और समर्पित भाव से वह मल्ल-विद्या के नये-नये गुर सीखने लगा। शारीरिक बल के

अभिवर्धन की साधना भी संग-संग चलती रही। गुरु-शिष्य–दोनों को संतोष था। आनन्द उत्तरोत्तर प्रगति करता रहा। उसे इस तथ्य में विश्वास हो गया था कि उन्नति का कोई चरम नहीं होता, प्रगति का मार्ग अनन्त होता है। कोई उतनी ऊँचाई से ऊपर नहीं उठ पाता, जितनी वह कल्पना करता है। उच्चतम कल्पना करो और उसकी प्राप्ति का भरसक प्रयत्न करो। सफलता ऐसे साधक के चरण चूमती है।

व्यायामशाला में उस प्रातः हाथी-गुरु के सान्निध्य में आनन्द ने अपने सहचरों की साक्षी में अनेक कर्त्तव्य दिखाये। उपस्थित-जन उसके प्रदर्शन के प्रत्येक प्रशस्ति योग्य स्थल पर वाह-वाह ! कर उठे। हाथी का तो गर्व के मारे वक्ष ही उन्नत हो गया था। मुगदर एक ओर रखते हुए आनन्द ने गुरु-हाथी के चरण स्पर्श किये एवं निवेदन के स्वर में कहा–"गुरू जी ! मेरा अभ्यास अब उत्कर्ष पर है। स्वर्णनगरी के वसन्तोत्सव में भाग लेकर अपने बल का प्रदर्शन करने की अनुमति प्रदान करें। मुझे विश्वास है, मैं आपके नाम को ऊँचा रखूँगा।"

अनुरोध सुनकर हाथी के मुख-मण्डल पर भी प्रसन्नता और संतोष झलक आया। उसने आनन्द की पीठ थपथपाते हुए साधुवाद किया और कहा–"निश्चय ही आनन्द ! तुम्हारी योग्यता किसी अच्छे समारोह में प्रदर्शन के लिए उपयुक्तता प्राप्त करती चली जा रही है। मेरी आशिष तुम्हारे संग है। किन्तु इसके लिए अनुमति तो तुम्हें अपने माता-पिता से ही प्राप्त करनी चाहिये। पुत्र के मंगल के लिए माता-पिता के हृदय सदा ही कामना करते रहते हैं। उनकी आशिष में बड़ी शक्ति होती है।"

"मेरे माता-पिता कौन हैं? कहाँ हैं वे?"–आनन्द सहज ही बोल पड़ा।

हाथी का बड़ा सपाट-सा उत्तर रहा–"मैं इस विषय में अधिक ज्ञान रखता नहीं। गुरुदेव से, अपने बाबा से पूछो। मेरा तो सारा ध्यान तुम्हारे बल और चातुरी की परख पर ही लगा रहा और वहीं तक सीमित रहा। मैं तो उसे पहचान कर बाबा की अनुमति से उसे निखारने में लगा हूँ। मुझे आशा हो गयी है कि तुम्हें अच्छी सफलता मिल सकती है। खूब कीर्ति अर्जित करो।"

इस क्षण ने आनन्दसेन के मन में उथल-पुथल मचा दी। उसके मन में बार-बार यही प्रश्न गूँजने लगा–"मेरे माता-पिता कौन हैं? कहाँ हैं वे?" वह उतावला-सा आश्रम पहुँचा और बाबा के समक्ष उपस्थित होकर विनय के साथ किन्तु दृढ़तापूर्वक उनसे यह प्रश्न किया। बाबा ने शान्त मन और धीर वाणी में कहा–"वत्स ! क्या तुम्हें लगता नहीं कि मैं तुम्हारे लिए पिता-तुल्य

हूँ। मैंने ही तुम्हें पुत्र की भाँति विकसित किया है, तुम्हारी क्षमताओं को पहचाना और उन्हें अभिवर्धित किया है। और···· और मैंने ही तुम्हें भी और चम्पक को भी माता जैसा स्नेह भी दिया है। मुझे तुम दोनों ने सदा ही वैसा मान भी दिया है। मैं ही तुम्हारे लिए माता और मैं ही पिता हूँ। आश्रम के जीवन में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। समय आने पर तुम्हें स्वतः ही यह ज्ञात भी हो जायेगा कि तुम्हारे माता-पिता कौन हैं?" बाबा के प्रबोधन से आनन्द का मन शान्त होने लगा–वह दुराग्रही कभी नहीं रहा। इस अवसर पर भी उसने हठ नहीं की। बाबा ने कहा–"सुनो वत्स ! यह सत्य है कि कोई ऐसा रहस्य नहीं हो सकता कि जिसके पीछे कोई वास्तविकता नहीं छिपी हुई। किन्तु यह भी सत्य है कि अपने समय से ही रहस्य परिपक्व होकर वास्तविकता का उद्घाटन कर पाता है। हमारे उतावलेपन से वृक्ष पर लगा आम्रफल तत्काल नहीं पक जाता। और आनन्द ! तुम्हें मुझमें आज क्या कमी लगने लगी कि तुम·····।" कहते-कहते बाबा का गला भर आया और उनके नेत्र आर्द्र हो गये।

आनन्द भी अतिशय भावुक हो उठा। गद्गद् वाणी में उसने कहा–"बाबा ! आपका स्नेह प्राप्त कर हमें किसी अभाव का अनुभव नहीं होता। अभाव होने भी क्यों लगा भला ! वह तो आज हाथी-गुरु ने मुझे भावुक बना दिया। उनका कहना था कि स्वर्णनगरी के वसन्तोत्सव में भाग लेने के लिए माता-पिता की आज्ञा लो। कदाचित् उनका कथन भी सत्य ही है। अब मेरे लिए तो आप ही माता, आप ही पिता, आप ही गुरु हैं। आप से ही मेरी प्रार्थना है–अनुमति प्रदान करें। मैं किसी भी प्रदर्शन में पीछे नहीं रहूँगा। आश्रम को अपयश का पात्र नहीं बनने दूँगा–मेरा ऐसा आत्म-विश्वास है।" आनन्द नमन मुद्रा में नत शिर खड़ा रह गया।

बाबा सोच में पड़ गये। उत्तर में विलम्ब अनुपयुक्त मानकर उन्होंने तुरन्त कहा–"कल्याण हो वत्स ! मुझे तुम्हारी क्षमता पर पूरा भरोसा है। सामर्थ्य के साथ जब आत्म-विश्वास भी जुड़ जाता है तो विजय निश्चित हो जाती है। किन्तु अभी तुम्हारी आयु इस दृष्टि से बहुत कम है। इसकी तुलना में तुम्हारा पराक्रम और तुम्हारी शक्ति कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। अभी वह समय नहीं आया कि जब इन दोनों में संतुलन स्थिर हो सके। अभी तुम्हारे कौशल में भी परिपक्वता का अभाव है। उसकी पूर्ति होने दो। अभी तुम्हारी शक्ति के सार्वजनिक प्रदर्शन का भी उचित समय नहीं आया है। तुम्हें धैर्य के साथ उसकी प्रतीक्षा करनी होगी। सुफल के लिए सुसमय का सुयोग भी अपेक्षित रहता है वत्स !"

"किन्तु आप ही ने तो सिखाया है बाबा ! कि पराक्रम के लिए कोई आयु नहीं होती। आत्म-विश्वास के साथ किया गया, सक्षम प्रयत्न हर समय सफल रहता है। आप मुझे अनुमति क्यों नहीं दे रहे? आप मुझ पर ···· ।" आनन्द बार-बार आग्रह करने लगा।

वत्स मेरे ! शक्ति और गुण प्रदर्शन की वस्तुएँ नहीं होतीं। ये तो सचमुच में सार्थक उपयोग की वस्तुएँ हैं। वीतराग वाणी की भी सीख यही है कि अपने सामर्थ्य और सद्गुणों को 'गोपन' करके रखो। उनका प्रदर्शन व्यर्थ है। इनके प्रयोग का अनिवार्य अवसर आ जाने पर जनहित में इनका धर्मपूर्वक सदुपयोग करो–यह श्रेयस्कर है। विश्वास मुझे भी है कि वसन्तोत्सव के मल्ल-युद्ध में तुम सफल रहोगे, किन्तु इस प्रदर्शन की आवश्यकता ही क्या है। तुम्हें तो इस स्तर से कहीं अधिक ऊपर उठना है। तुम्हारी शक्ति का लाभ अशक्तों को मिले–वह स्थान तुम्हें प्राप्त करना है। वही तुम्हारा वास्तविक गौरव है। तुम किसी मल्ल को पछाड़कर विजयी हो जाओ–यह तो बड़ा सीमित-सा और क्षुद्र उद्देश्य है। फिर उस प्रदर्शन के लिए भी अभी योग्य समय आया नहीं है।" बाबा को भीतर-ही-भीतर यह भय था कि आनन्द के असाधारण कौशल के प्रदर्शन से वह ईर्ष्या का पात्र भी बन सकता है और कोई संकट आ सकता है। फिर यह राजकीय उत्सव है। राजघराने से भी कोई समस्या उठ खड़ी हो जाय–इसकी भी आशंका बाबा को थी। तरुण जनोचित उत्साह का वेग ऐसी गंभीरताओं को महत्त्व ही कहाँ देता है ! उसके लिए तो ये दुर्बल बनाने वाले तत्त्वों के समान होती हैं।

ऐसे ही आन्तरिक उत्साह से प्रेरित आनन्द ने पुनः आग्रह किया–"बाबा, आप मुझे एक बार अनुमति देकर देखें। आपका अनुमान स्वतः ही निरस्त हो जायेगा कि मैं दुर्बल हूँ। मुझे शक्ति का अभिमान नहीं है, किन्तु मैं उसकी वास्तविकता से अनभिज्ञ भी नहीं हूँ। आपका बेटा भला कहीं पराजय ·····।"

बाबा स्नेहातिरेक के साथ बीच में ही बोल उठे–"नहीं वत्स, मैं तुम्हें अशक्त या असमर्थ नहीं मानता; केवल धैर्य के साथ कुछ और शक्तिवर्धन और परिमार्जन की बात कहता हूँ। सुनो, तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा है तो मैं तुम्हें उत्सव में भाग लेने की अनुमति देता हूँ। किन्तु ऐसा मैं सच्चे मन से नहीं, अपितु तुम्हारा मन रखने को कर रहा हूँ। विजयी बनो !" आशिष देते हुए बाबा का वरदहस्त ऊपर उठ गया। आनन्द अपने बाबा के चरणों में झुक गया। क्षणेक के मौन के उपरान्त बाबा पुनः मुखरित हुए–"वत्स आनन्द ! तुम्हारे कौशल पर मुझे बीस बिस्वा भरोसा है फिर भी एक बात का ध्यान

रखना। जब कभी कोई कठिनाई आ ही जाय तो वीतराग देव द्वारा बतायी गयी विधि के साथ मेरा ध्यान कर लेना और नवकार महामंत्र का जाप कर लेना। विजय और कीर्ति सदा तुम्हारी संगिनी बनी रहेंगी।"

तरुण आनन्द ने हर्षित मन से कहा–"जैसी आज्ञा बाबा !"

बाबा ब्रह्मानन्द व्यावहारिक बुद्धि में बड़े कुशल थे। वे मानते थे कि तरुण-वृत्तियों का अधिक दमन भी हितकर सिद्ध नहीं होता। अतः उन्होंने ऐसा निर्णय लिया किन्तु ऐसे तरुणों को भरपूर मार्गदर्शन और सहायता की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है–इस तथ्य से भी वे अनभिज्ञ न थे। उन्होंने अपनी इस भूमिका का भी निर्वाह किया। अनुमति मिल जाने पर आनन्द दुगुने वेग से अभ्यासरत हो गया। हाथी-गुरु का भी अब अपना एक लक्ष्य बन गया था। वह भी आनन्द को प्रशिक्षित करने में अधिक रुचि लेने लगा। उसके लिए तो आनन्द की विजय ही स्वयं अपनी विजय थी। चम्पकमाला दिन-रात अपने भाई आनन्द के लिए मंगल-कामनाएँ करने लगीं। काननबाला की स्थिति बड़ी विचित्र थी। वह तो आनन्द को अपना पुत्र ही मानने लगी थी। वह अपने इस धर्म-पुत्र की विजय के स्वप्न भी देखती और चम्पानगरी के उत्सव में उस पर कोई संकट न आ जाय–इस आशंका से काँप भी उठती थी।

● ●

वसन्तोत्सव का दूसरा दिन था। सायंकाल में दंगल और शरीर सौष्ठव सम्बन्धी प्रतियोगिताएँ थीं। समारोह-स्थल उत्साहित दर्शकों से खचाखच भरा था। एक विशिष्ट भाग प्रतियोगी मल्लों के लिए निर्धारित था। समारोह-भर के लिए ये सभी सम्मान्य थे। विशेष रूप से सज्जित सुन्दर आसनों पर ये मल्लादिजन विराजित थे। सारी उपस्थिति की दृष्टि इसी ओर लगी थी। ये ही इस समय सभी के लिए चर्चा के विषय बने हुए थे। कोई किसी मल्ल के विषय में प्रशस्तिपूर्ण परिचय दे रहा था। समीप के दर्शकगण जिज्ञासा के साथ सुनते और विस्फारित नयनों से ताकते जा रहे थे। कोई किसी मल्ल के विषय में पूछता–तो कोई किसी अन्य के विषय में। और स्थिति यह थी कि किसी को किसी के विषय में अत्यल्प-सी भी जानकारी थी, वह उसे बढ़ा-चढ़ाकर यों प्रस्तुत कर देता था–जैसा उसका उस मल्ल के संग घनिष्ट सम्पर्क रहा हो। एक तरुण मल्ल अवश्य ऐसा था जिसके विषय में किसी को कोई परिचय नहीं था। आनन्दसेन अग्र पंक्ति में बीचोबीच आसीन इस समस्त मल्ल-मण्डल के लिए भूषण-सा लग रहा था। सभी की दृष्टियाँ अन्य मल्लों पर फिसलती हुई आकर इसी तरुण पर केन्द्रित हो जाती थीं। यह अपूर्व बलशाली, स्फूर्तिवान नवमल्ल कौन है···· कौन हो सकता है····! सभी के मन में यह जिज्ञासा उठती और अतृप्त ही रह जाती थी। तरुण के समीप ही अन्य आसन पर बैठा भीमकाय, महाबलिष्ठ मल्ल-हाथी बैठा था। हाथी से सभी नगरवासी भली-भाँति परिचित थे। अनेक अवसरों पर उसके दंगल वे देख चुके थे। हाथी से बतियाते देखकर उस तरुण मल्ल के विषय में यही अनुमान विकसित होता जा रहा था कि यह हाथी का ही शिष्य होना चाहिये–स्पर्धा में भाग लेने को आया है। हाथी तो अपने पराक्रम और यश में बहुत बढ़ा-चढ़ा है ही; उसका यह शिष्य भी पीछे नहीं लगता है। कैसी तो इसकी आत्म-विश्वास की दमक से भरी इसकी विशाल और सुन्दर आँखें हैं। उसके अधरों से स्मिति तो जैसे हट ही नहीं पा रही। उसका चौड़ा सुदृढ़ वक्ष और गठी हुई भुजाएँ, प्रशस्त भाल और सुदृढ़ ग्रीवा–सभी कुछ श्रेष्ठ नव-मल्ल-सा लगता है। इसी प्रकार की प्रशस्तिपूर्ण कल्पनाएँ दर्शक-वर्ग में उठ

रही थीं। मल्ल समुदाय के लिए भी वह आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। इसे तो पूर्व में कहीं देखा नहीं गया। यह भी प्रतिस्पर्धा में भाग लेगा क्या? भला इस छोटी-सी आयु के साथ, हम घुटे हुए खिलाड़ियों से यह क्या लोहा ले सकेगा। कुछ भी हो–लगता यह कहीं के राजपुत्र जैसा है। गौरवर्ण, काम-कोदण्ड-सी भौंहें, आकर्षण व्यक्तित्व और मोहक मुस्कान। संभव है यह भी दंगल कला में रुचि रखता हो और आ गया हो यह प्रतियोगिता देखने। हाथी ने एक मल्ल के प्रश्न के उत्तर में यही कहा कि "शिष्य है मेरा, अभी दंगल प्रतियोगिता में भला क्या भाग ले सकेगा यह। मन में उछाह था–अपने साथ इसे भी लिवा लाया। यों है यह बड़ा बलशाली और चतुर। चपलता में तो मानो मेघ की विद्युत् भी पीछे रह जाती है।"–यह कहते हुए हाथी ने आनन्द का कंधा थपथपा दिया। गर्व-भावना से उसका वक्ष कुछ अधिक सुडौल हो उठा। लम्बी साँस खींचते हुए आनन्द ने शीष हिलाकर आगे लटक आयी घुँघराली अलकों को पीछे की ओर किया और हाथ के कोमल स्पर्श से केश-राशि को व्यवस्थित करने लगा। उसने देखा असंख्य आबाल, वृद्ध नर-नारी एकत्र थे। सबमें उत्साह और उमंग छलकी पड़ रही थी।

यह विशाल प्रांगण चारों ओर से पुष्प पल्लवों से, वन्दन-वारों और तोरण द्वारों से सज्जित था। सरसों के फूलों की पीतिमा सर्वत्र बिखरी हुई थी। ठीक सामने उच्च मंच पर महाराज का सुसज्जित आसन था। उसके एक ओर सामन्तों के लिए और दूसरी ओर राजमहिषियों के लिए मंच थे। सभी मंच फूलों से शृंगारित-सज्जित थे। मध्य में दंगल-स्थल शोभा दे रहा था। इसे देख-देखकर आनन्द के मन में उत्साह का ज्वार उमड़ उठता था। एक मानसिक उतावलापन उसको बाहर से भी चंचल बनाये हुए था। वह बार-बार हाथी-गुरु से पूछ बैठता था कि प्रतियोगिता कब होगी आरम्भ। हाथी संकेत से उसे धीरज रखने को कहता और उसका ध्यान किसी और विषय में बँटा देता।

इसी समय तुरही का स्वर गूँज उठा। महाराज के शुभागमन का यह संकेत पाकर सभी दर्शकगण और प्रतिस्पर्धी मल्ल अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो गये। जनता ने बाँहें उठा-उठाकर महाराज चन्द्रसेन का जय-जयकार किया। गजराज पर आरूढ़ अपने प्रिय नरेश के दर्शन कर सभी के नयन तृप्ति का अनुभव करने लगे थे। महाराज का गजराज प्रांगण में प्रविष्ट हुआ तो जय-जयकार का तुमुल स्वर और भी तीव्र हो गया। गजराज ने सूँड उठाकर इस जनाभिवादन का उत्तर दिया। वह इसी मुद्रा में गोलाकार प्रांगण की परिक्रमा करने लगा। महाराज हाथ उठाकर सस्मित प्रसन्न मुद्रा में अपनी जनता के अभिवादन का उत्तर देते जा रहे थे। सामन्तगण गजराज को घेरे

चल रहे थे। सर्वाग्र थे राज्य के प्रधानामात्य जो इस शोभा यात्रा का नेतृत्व कर रहे थे। गजराज मल्लों के मंच के समीप आकर थमा ही था कि महाराज त्वरा के साथ भूमि पर उतर आये। महाराज की इस आयु में भी ऐसी चपलता देखकर जनता तो आश्चर्यचकित रह गयी। गजराज अभी बैठा भी नहीं और महाराज..... । प्रधानामात्य बारी-बारी से मल्लों का परिचय कराते जा रहे थे और महाराज उत्तरीय धारण कराकर और माल्यार्पण कर उनका इस समारोह में राजकीय स्वागत करते जा रहे थे। आनन्दसेन के समक्ष पहुँचकर प्रधानामात्य स्तब्ध-मौन हाथी की ओर निहारने लगे। हाथी ने परिस्थिति की कोमलता ताड़कर निवेदन किया–"महाराजश्री ! यह आनन्द है, मेरा शिष्य आनन्द। आयु में तो अभी छोटा है, किन्तु बल-विक्रम में अतुलनीय है। बाबा ब्रह्मानन्द का मानस-पुत्र है, श्रीमानेश्वर !"

"अच्छा.... अच्छा ! बड़ी प्रसन्नता हुई।" कहते हुए महाराज ने उत्तरीय धारण कराया तो उन्हें लगा जैसे उनका अपना ही तारुण्य उनके समक्ष आ खड़ा हुआ हो। पुष्पहार कंठ में धारण कराते हुए महाराज के मन में मंगल-कामना उठी–सर्व प्रकार से समर्थ प्रतीत होते इस तरुण मल्ल को सभी सफलताएँ प्राप्त हों ! गौरव और कीर्ति का साहचर्य इसे सुलभ हो ! महाराज को सहसा अपना बाल्यकाल स्मरण आने लगा। कुछ क्षणों के लिए तो वे आत्मलीन ही हो गये।

महाराज अपने आसन पर विराजित हुए। सामन्तगण ने भी अपने-अपने आसन ग्रहण किये। पालकियों से निकलकर राजमहिषियाँ भी अब तक यथास्थान आसीन हो गयी थीं। राजरानी कल्याणवती सर्वाग्रस्थित आसन पर शोभायमान थीं। समीप ही अन्य आसन रानी जयावती का था। पिछली पंक्ति में प्रथम आसन पर रानी तेजस्विता दिखायी दे रही थी। अनुशासित प्रजाजन से संकुल समस्त प्रांगण में ध्रुव शान्ति व्याप्त थी। महाराज का अनुमति-संकेत पाकर प्रधानामात्य ने दंगल प्रतियोगिता का समारंभ घोषित कर दिया और अपने उच्च–तीव्र स्वर में सहसा तुरही निनादित हो उठी।

चम्पानगरी की प्रजा को अनेक वर्षों के पश्चात् दंगल-कला का, मल्ल-विद्या का ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ। पल-पल में अद्‌भुत चमत्कार देखने को मिले। ऐसा हस्तलाघव और ऐसे घात-प्रतिघात, ऐसे दाँव-पेंच और ऐसी बलशीलता देखने में सर्वसाधारण को भी अद्‌भुत अनुभूति होने लगी थी–इस विद्या के ज्ञाताओं को तो और भी अधिक रस आने लगा था। प्रथम युग्म ही में चन्दू मल्ल आ गया था। चन्दू सारे राज्य में, अपनी कीर्ति के कारण लोकप्रिय हो गया था। बच्चा-बच्चा इस नाम से परिचित था। उसने अनेक

शिष्यों को भी इस कला का ज्ञान और अभ्यास कराया था। स्वाभाविक ही था कि पहली प्रतियोगिता में चन्दू विजयी होता। चन्दू की इस प्राथमिक विजय से जनसमुदाय में हर्ष की लहर दौड़ गयी। धन्य ! धन्य ! चन्दू की जय हो की ध्वनियों से सारा गगन-मण्डल गूँज उठा।

अब चन्दू मल्ल को अन्य मल्लों से भिड़ना था। निरीक्षकगण अधिक सावधान और सतर्क हो गये। चन्दू हाथ-पैर चलाता सारे दंगल क्षेत्र का चक्कर लगाने लगा था। उसे भय था कि रक्त कहीं शिथिला न जाय। मुख्य निर्णायक ने घोषणा की–"मल्ल चन्दू अब बारी-बारी से अन्य पहलवानों से लड़ेगा। जो मल्ल चन्दू को पराजित कर देगा–वह बारी-बारी से शेष मल्लों से दंगल करेगा। यही क्रम चलता रहेगा। अन्ततः जो मल्ल अविजित रहेगा–वही इस वसन्तोत्सव के श्रेष्ठतम मल्ल का सम्मान प्राप्त करेगा। उसे 'चम्पानगरी-केसरी' की उपाधि से विभूषित किया जायेगा और यह 'स्वर्ण-गदा' प्रदान की जायेगी।" यह कहते हुए मुख्य निर्णायक ने सम्मान की प्रतीक स्वर्ण-गदा ऊपर को उठा दी।

दर्शकगण चन्दू के शुभचिन्तक थे। सभी इस बार भी चन्दू को ही इस सम्मान के लिए हृदय से चाहते थे। अपने-अपने इष्ट का स्मरण करते हुए मन-ही-मन चन्दू की विजय की कामना करने लगे थे। किसी के अनिष्ट की आशंका भी और उससे रक्षा की चिन्ता भी सर्वप्रथम हितैषियों के मन में ही उठती है। अनेक दर्शकगण यही सोचने लगे कि प्रारब्ध को किसने देखा है। ऐसा न हो कि····· । किन्तु एक के पश्चात् एक सभी दंगलों में चन्दू विजयी होता रहा। किसी भी दंगल में जोड़ का अन्य मल्ल साधारण न था, किन्तु चन्दू था कि सभी को चित् बोलाता गया। उसका पराक्रम और कौशल भी उत्तरोत्तर, निरन्तर अभिवर्धित होता चला गया। वह प्रचण्ड हो गया था और अन्य मल्लों का साहस छूटता जा रहा था। मल्ल-विद्या में अत्यन्त गहन रुचिशील आनन्द को यह अत्यन्त उपयोगी अवसर प्राप्त हुआ था, जब उसे इतने मल्लों के दाँव देखने को मिले। विशेष रूप से उसने चन्दू के कौशल, उसकी युक्तियों, उसके प्रहारों और दाँवों को ध्यान से समझने का प्रयत्न किया। जोड़ के अन्य मल्ल से भी उसे सहानुभूति रहती। चन्दू के दाँवों से कैसे आत्म-रक्षा की जा सकती थी, उस पर किस प्रकार घात की जा सकती थी, अन्य मल्ल ने कहाँ क्या चूक कर दी–आनन्द मन-ही-मन यह सारी समीक्षा करता चल रहा था। वह गुण-ग्राहक भी कम नहीं था। चन्दू के आश्चर्यजनक करतब देखकर वह उछल पड़ता, वाह ! वाह ! कर उठता था। किसी के गुणों की महत्ता स्वीकार किये बिना हम उससे कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

ईर्ष्यालुजन इसी कारण पिछड़ जाते हैं। आनन्द ने अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण चन्दू के सारे गुर जान लिए, उनके उत्तर भी सोच लिये थे।

जब सभी आशार्थी मल्ल पराजित हो गये तो चन्दू को सर्वजेता घोषित किया ही जाना था कि हाथी अपने आसन से उठा, बोला–श्रीमानेश्वर ! एक निवेदन मेरा भी है। मैं स्वयं तो इस प्रतिस्पर्धा में भाग नहीं लेना चाहता, किन्तु मेरा यह शिष्य आनन्द बड़ा उत्सुक है। इसी प्रयोजन से हम कोसों दूर–बाबा ब्रह्मानन्द जी के आश्रम से चलकर यहाँ तक आये हैं। महाराजश्री ! अनुमति प्रदान करने की कृपा करें।" आनन्दसेन भी अब तक उठकर खड़ा हो गया था। उसकी भुजाएँ फड़कने लगी थीं।

महाराजश्री असमंजस की स्थिति में पड़ गये। कुछ क्षणों तक उनका मन अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो गया। क्या करें····· क्या न करें वे निर्णय नहीं कर पा रहे थे। इस छोटे से बालक को इस प्रवीण भीमकाय मल्ल से भिड़ने की अनुमति कैसे दें? किन्तु किसी की चुनौती शेष रहते हुए चन्दू को सर्वजेता भी कैसे घोषित किया जा सकता है। दर्शकों में भी त्राहि-त्राहि मच गयी। इस बालक का तो चन्दू कचूमर ही निकाल देगा। महाराज ने निर्णायक-मण्डल से भी परामर्श किया। मन्तव्य यही बना कि परिणाम चाहे जो भी रहे–किन्तु आनन्द को अवसर दिये बिना चन्दू को सर्वजेता मल्ल घोषित किया जाना न्यायोचित नहीं होगा। इस मन्तव्य को बल मिला राजरानी कल्याणवती के संदेश से जो महाराज को तत्काल ही प्राप्त हो गया था। कुछ ही पलों में रानी तेजस्विता का संदेश भी महाराज के पास आ गया। दोनों राजमहिषियों ने अनुशंसा की थी कि आनन्द को भी अवसर प्रदान किया जाय। इन दोनों का आशय तो एक ही था, किन्तु दोनों के विचारों की भूमिकाएँ भिन्न थीं। इन दोनों ने आपस में विचार तो नहीं किया था, किन्तु इनके मन में आनन्द के प्रति एक-सा विचार था–हो-न-हो आनन्द चम्पानगरी का ही युवराज है, यह हमारा राजकुमार है। महाराज और आनन्दसेन में कितना साम्य है। कल्याणवती आनन्द की हितैषिणी थीं। उन्हें यह विश्वास भी था कि आनन्द अवश्य ही विजयी होगा। रानी तेजस्विता को यह विश्वास नहीं था, तथापि उसने अनुमति की अनुशंसा इस कारण की थी कि अच्छा है यह प्रबल शक्तिशाली चन्दू इस निर्बल आनन्द को समाप्त ही कर देगा। सारा प्रसंग ही पूर्ण हो जायेगा। वह अपने ही कुकर्म से भयभीत थी। कुकर्मी अपने पाप के दुष्परिणामों से उतना नहीं डरता, जितना वह कुकर्म के प्रकट हो जाने की आशंका से डरता है।

महाराज ने अनुमति दी। नव-मल्ल आनन्द ने गुरुदेव बाबा का स्मरण कर नवकार मंत्र का जाप किया और तब सिंह गति के साथ दंगल-स्थल में वह प्रविष्ट हो गया। इस समय उत्साह और साहस की जो आभा उसके मुख-मण्डल पर अंकित हो गयी थी, उससे आनन्द अत्यन्त भव्य और दिव्य दिखायी देने लगा था। चन्दू का दर्प बोल उठा–"क्यों मेरे हाथों मरना चाहता है बालक !" रानी तेजस्विता प्रसन्न हो उठी। आनन्द ने जंघाएँ फटकारते हुए चन्दू को सचेत किया–"दंगल में वाचालता नहीं; बल-विक्रम दिखाया जाता है, चन्दू !" राजरानी कल्याणवती मुस्करा उठीं। चन्दू ने प्रचण्ड हुँकार भरी और दोनों भुजाओं को बढ़ाकर भयंकर वेग के साथ आनन्द की ओर बढ़ा कि उसे जकड़कर ऊपर उठा लेगा। आनन्द ने तनिक झुककर उसके दोनों पैर पकड़कर खींच लिये और पैरों के बीच से उस पार निकल गया। चन्दू असंतुलित होकर धड़ाम से धराशायी हो गया। मुँह के बल गिरा चन्दू वेग से उठने ही वाला था कि आनन्द ने अपने पैरों से उसके पैरों में ऐसा पाश बाँधा कि चन्दू बेचारा अविचल रह गया। घोर करतल ध्वनि हुई। "अब आया है दंगल में आनन्द ! आनन्द तो अब आया है।"–किसी ने उच्च स्वर में कहा। आनन्द ने पैरों की जकड़ को सुदृढ़ करते हुए ऐसी मरोड़ दी कि चन्दू तिलमिलाकर रह गया। भयावह चीत्कार उसके भीतर से उठी और होठों तक आकर रह गयी। वह तड़पने लगा। कुछ ही क्षणों में निरीक्षक ने आकर पकड़ को छुड़ाया। विद्युत्-वेग से आनन्द उठ खड़ा हुआ। पहले ही वार में चन्दू तो पस्त हो गया था। वह भी उठा तो त्वरा के साथ, किन्तु खड़ा हुआ तो लड़खड़ा गया। तभी आनन्द चीते की भाँति लपककर बढ़ा और अपनी दृढ़ भुजाओं का बन्ध चन्दू की कमर में कस दिया। वह उसे इसी प्रकार उलटकर गुलाँठी देना चाहता था कि चन्दू ने अपने पैर दृढ़ता से जमा लिये। उसने आनन्द की कमर को कसकर पकड़ा और उसे उलटने का प्रयत्न करने लगा। दोनों मल्ल अपनी शक्ति और चातुरी का भरपूर प्रयोग कर रहे थे। आनन्द को चन्दू अपने वक्ष से धकेल रहा था कि उसके पैर उखड़ जायें, किन्तु इसी समय नवकार जापते हुए उसने एक ठोकर पूरी शक्ति के साथ चन्दू के एक पैर को मारी। इस पदाघात ने पुनः चन्दू का संतुलन छुड़ा दिया। आनन्द ने पूरी शक्ति लगाकर उसे कमर से ही उठा लिया और गुलाँठी दे दी। चन्दू के भारी शरीर से धकियाकर उसी पर गिर पड़ा। अवसर का लाभ उठाकर चन्दू ने भी अब अपनी पुष्ट टाँगों के बीच आनन्द की गर्दन को जकड़ लिया। पकड़ को और अधिक दृढ़ करते हुए चन्दू झटके देने लगा। साहसी आनन्द विचलित नहीं हुआ। उसका मुख आरक्त हो उठा। साँस भी कुछ रुँधने लगी

थी। तभी उसने अपना दायाँ हाथ भूमि पर टिकाकर एक छलाँग ऐसी भरी कि चन्दू की पकड़ ढीली हो गयी और आनन्द मुक्त हो गया। इस अनायास प्रतिघात से चन्दू अचकचा गया। वह भूमि से उठने ही वाला था कि आनन्द ने चन्दू की इस गति से लाभ उठाते हुए अपना एक हाथ पीठ के नीचे और दूसरा टाँगों के नीचे डाला और उठने को होते हुए चन्दू को अपने हाथों पर उठाकर खड़ा हो गया। अपने सिर पर अपनी बलिष्ठ भुजा-स्तम्भों पर लिटाये चन्दू को उसने सारे दंगल-स्थल का एक चक्कर खिलाया। आधार खोकर चन्दू अब सर्वथा विवश और असहाय था। उससे अब कुछ भी करते नहीं बन रहा था। तभी आनन्द ने एक झटके के साथ उसे भूमि पर पटक दिया। एक भयानक चीत्कार उसके मुख से निकल गयी। उसकी अस्थियाँ ढीली हो गयीं। मुलायम मिट्टी पर पीठ टिकाये चन्दू चित्त पड़ा रह गया। निरीक्षक ने गिनती आरम्भ की और चन्दू निश्चल पड़ा था–निढाल और शिथिल। इसी समय उछलकर आनन्द चन्दू के वक्ष-स्थल पर चढ़ बैठा। गिनती पूरी हुई और आनन्द को विजयी–सर्वजेता घोषित कर दिया गया।

तुमुल हर्ष-ध्वनि से समग्र प्रांगण गूँज उठा। आनन्दसेन का जय-जयकार होने लगा। गुरु-हाथी का भी जयकार होने लगा। आनन्द की विजय को किसी सीमा तक हाथी अपनी विजय मानकर गर्वित भी होने लगा। लपककर वह आनन्द के समीप पहुँचा और उसे गले लगा लिया। इस पर भी संतोष नहीं हुआ तो उसने अपने पुष्ट कंधों पर आनन्द को आरूढ़ कर लिया और दौड़कर वह सारे प्रांगण की परिक्रमा करने लगा। तुमुल करतल ध्वनि से दर्शक आनन्द का अभिनन्दन करने लगे, उसका स्वागत करते जा रहे थे।

महाराजा चन्द्रसेन ने प्रतियोगिता के परिणाम पर संतोष प्रकट किया। वे स्वयं दंगल-स्थल पर पहुँचे। आनन्द को उन्होंने 'चम्पानगर-केसरी' के प्रतीक स्वरूप स्वर्ण-पट्टिका धारण करायी। एक काँधे से झूलती यह पट्टिका दूसरे हाथ के नीचे कटि पर लहराने लगी। आनन्द ने महाराज को नमनपूर्वक प्रणाम किया। तभी महाराज ने पुरस्कारस्वरूप हीरक-हार आनन्द के कंठ में धारण कराया और स्वर्ण-गदा भेंटकर उसका कंधा थपथपाया। आनन्द तो निहाल ही हो गया। आर्द्र-नयनों से वह महाराज के चरण निहारता हुआ नीचे झुका ही था कि महाराज ने उसे ऊपर उठाकर गले से लगा लिया। उन्हें ऐसा आभास होने लगा–जैसे उनका वार्धक्य अपने ही बाल्यकाल से गले मिल रहा हो। आनन्द के अधर स्मिति के उजलेपन से निखर उठे। आनन्दसेन और महाराज चन्द्रसेन की जय-जयकार के साथ उत्सव विसर्जित हुआ।

● ●

गुरुजनों का सान्निध्य बड़ा ही आनन्दप्रद होता है। इसी आनन्द की अनुभूति के साथ राजदम्पति ने सादर प्रणाम के साथ ही महाराज चन्द्रसेन के चरणों का स्पर्श किया। त्वरा के साथ उन्होंने राजा-रानी को उठाया और हाथ उठाकर आशिष दी–"जुग-जुग जीओ ! अमर रहे यह अनुपम युगल। आनन्दनगर-नरेश अक्षय कीर्ति के स्वामी बनें !" निपुणा शीलावती प्रथम दर्शन में ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी कि महाराज आनन्दसेन, इन्हीं महाराजा चन्द्रसेन के सुपुत्र हैं। इसमें कोई संदेह हो ही नहीं सकता। चम्पानगरी-नरेश ने जब यह कहा कि हमारी एक विनती है–कृपा कर इसे ठुकराइये नहीं, अवश्य स्वीकार कर लें, तो रानी ने कथन-मध्य ही तत्परतापूर्वक कहा–"विनती कैसी, महाराज ! आप पिता हैं। आज्ञा कीजिये।"

रानी शीलावती के कथन के उत्तर में, मुस्कराते हुए महाराज चन्द्रसेन ने कहा–"तुमने तो बिटिया, हमारा कार्य सुगम कर दिया है। हम स्वयं आये हैं चम्पानगरी के राजभवन का निमन्त्रण लेकर। आनन्दनगर के राज-परिवार का स्वागत-सत्कार का अवसर पाकर चम्पानगरी और वहाँ का राजकुल धन्य हो उठेगा।" महाराज स्वीकृति की अपेक्षा के साथ आनन्दसेन की ओर ताकने लगे। आनन्दसेन ने अत्यन्त विनय के साथ कहा–"कोई-कोई आमन्त्रण अनुरोध नहीं निर्देश भरा होता है, महाराज ! उसे टाला नहीं जा सकता। आपका आमन्त्रण पाकर हम कृतार्थ हुए, अभी आप विश्राम करें। बाद में इस विषय में चर्चा होगी।" इस आश्वासन से ही महाराज चन्द्रसेन का हृदय उमंगित हो उठा। वे विश्राम के लिए चल दिये।

दूरदृष्टा महारानी शीलावती ने सारे प्रसंग पर गम्भीरता के साथ विचार किया और महाराज आनन्दसेन से कहा–"आपने अच्छा ही किया, स्वामी ! कि चम्पानगरी-नरेश का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वे बड़े उत्साह के साथ आये हैं। किन्तु इस बार एकाकी आपका ही चम्पानगरी जाना उपयुक्त रहेगा। मेरा और चम्पक का साथ रहना आपके लिए अनुकूल नहीं रहेगा।" महाराज आनन्दसेन ने गम्भीरता के साथ महारानी के परामर्श पर विचार किया और मौन रह गये। वे सोचने लगे कि रानी शीलावती की दूर-दृष्टि और निर्णय-क्षमता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। उनके इस परामर्श में भी कोई सत्य और तथ्य अवश्य होगा। उन्होंने इसे स्वीकार्य और व्यवहार्य माना। चम्पानगरी में ज्ञात-अज्ञात तत्त्व उनके विरुद्ध भी हैं–इसका आभास महाराज को स्वयं भी हो चुका था और षड्यंत्र का कोई स्पष्ट कारण समक्ष न होने पर भी उसकी अशंका को नकारा नहीं जा सकता था।

आंशिक दायित्व उसका भी बन जाता है, जो उसे छिपाता है। निर्भय होकर बताओ बात क्या है?"

"दीदी ! उस विजयी आनन्द पर अवश्य ही कोई संकट आने वाला है। आपने जो अनुमान लगाया है, रानी तेजस्विता भी उसी निष्कर्ष पर पहुँची है। उसका दुर्विचार बड़ा अशुभ, बड़ा भयंकर है, दीदी। कहती थी इस आनन्द को हम देख लेंगी। जायेगा कहाँ वह !" क्षणेक विरामोपरान्त रानी जयावती ने कहा–"मुझे तो आनन्दसेन से सहानुभूति हो गयी है। मेरी शुभ-कामनाएँ हैं उसके लिए। कहीं ऐसा न हो कि रानी तेजस्विता ऐसे ही किसी कुचक्र में लिप्त हो–ये उसी की गतिविधियाँ हों।"–रानी जयावती का सारा ध्यान तेजस्विता के प्रासाद से आने वाली ध्वनियों की ओर लग गया। राजरानी ने रानी जयावती की बात को ध्यान से सुना और गंभीर हो गयीं। "हूँ··· ! तुम कदाचित् ठीक ही सोच रही हो। तेजस्विता जैसी महत्त्वाकांक्षिणी नारियाँ ऐसा सब-कुछ कर सकती हैं, किन्तु यह सब कितना असार है, जया ! कितना मिथ्या है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने पतन के लिए स्वयं ही गर्त्त बना लेता है। श्रृद्धालुजन गुणीजनों की महत्ता स्वीकार करके ही अपनी आत्मिक उन्नति का मार्ग निर्मित कर लेते हैं।" राजरानी गहन सोच में पड़ गयीं। आनन्द के प्रति उनके मन में सहज स्नेह अभिवर्धित हो गया, वे उसकी हित-कामना करने लगीं।

रानी तेजस्विता को एक पल को भी शान्ति नहीं थी। वह उद्विग्न हो उठी। यह तो उस नीच दाई ने हमारे साथ कपट किया है। छल–सरासर धोखा हुआ है हमारे साथ। तेजस्विता को अपने षड्यंत्र के असफल हो जाने का क्षोभ उतना नहीं था जितना उसके खुल जाने का भय था। यदि रहस्य प्रकट हो गया तो जो दुर्गति उसकी संभव थी–उससे वह अनभिज्ञ न थी। इसी कारण वह भीत थी और उसका भय ही इस समय रोष-रूप में व्यक्त हो रहा था। आत्म-रक्षा के प्रयत्न में दुष्कर्मी अपने पाप-जाल को और भी अधिक जटिल बनाता जाता है और नये-नये पाप जुड़ते चले जाते हैं। रानी तेजस्विता अपनी सखियों–अन्य रानियों से विचार-विमर्श कर रही थी–"अगर वह नीच नाइन हमें धोखा न देती तो आज हमें यह दिन देखने को क्यों मिलता। यह आनन्दसेन ब्रह्मानन्द का मानस-पुत्र ही तो है। बाबा इसके पिता तो नहीं हैं। यदि यह कहीं विश्व-सुन्दरी का ही पुत्र निकला तो अनर्थ ही हो जायेगा। यदि ऐसा है तो कब तक यह बात छिपी रहेगी और कब तक हमारी करनी पर आवरण पड़ा रहेगा। हम तो कहीं की नहीं रहेंगी। न्यायशील महाराज हमसे अतिशय कुपित हो जायेंगे।"

"महाराज ! उस दाई सलखू को भी तो नहीं छोड़ेंगे। सारा किया-धरा तो उसी का है।" एक रानी ने कहा–"उसे तो अवश्य ही मृत्यु-दण्ड मिलेगा।"

"दण्ड मिलने तक वह जीवित बच भी रहेगी !" प्रश्न मुद्रा में रानी तेजस्विता ने कहा। वह हमारे हाथों बच रहेगी तभी तो फाँसी पर चढ़ेगी। तेजस्विता इतनी अबोध भी नहीं है कि अपनी करनी के प्रमाण-साक्ष्य बच रहने दे। बहिनो ! सुनो–"जब प्राणों का संकट उस पर आ ही जायेगा तो क्या वह हमारी सारी करतूतों को अनावृत न कर देगी, वह भला ऐसा करने से चूकेगी?" रानी तेजस्विता ने अपनी नीतिज्ञता प्रकाशित करते हुए कहा– "न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी।"

"तुमने ठीक ही सोचा है, तेजस्विता ! हमें उस डाइन नाइन की अच्छी तरह खबर लेनी चाहिये।"–अन्य रानी ने उत्साह के साथ कहा। इसी समय रनिवास की दासियों से घिरी दाई सलखू आ पहुँची। मारे भय के वह पीपल के पत्ते की भाँति थर-थर काँप रही थी। आकर वह रानी तेजस्विता के चरणों में लोटने लगी। हा-हा खाती हुई अत्यन्त दीन वाणी में कहा–"क्षमा चाहती हूँ रानी जी, मैं बड़ी लज्जित हूँ। मैं अपराधिन हूँ आपकी–आप सभी की अपराधिन हूँ। मुझे आप··· ।"

अधीर और कुपित रानी तेजस्विता ने घृणापूर्वक पदाघात करते हुए कहा–"अब अधिक न बन, नाइन ! तूने जो किया है वह कदापि क्षम्य नहीं है। अब तेरा एक क्षण को भी कोई अभिनय नहीं चलेगा। तेरी बोटी-बोटी करके चील-कौओं को नहीं खिला दिया तो हमारा नाम रानी तेजस्विता नहीं। समझ क्या रखा है··· ।" रानी का रोष उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा था। गिड़गिड़ाते हुए सलखू ने करबद्ध निवेदन किया–"आप महान् हैं रानी जी, हम तो आपके तुच्छ दास-दासी हैं। हम पर आप दया न करें तो और कौन करेगा। हम तो आपके चरणों की रज हैं। अब आप··· ।" कहती हुई दाई रुदन करने लगी। रानी तेजस्विता को विश्व-सुन्दरी का सारा भय, सारा त्रास पुनः स्मरण हो आया। अपने भावी अनिष्ट की कल्पना मात्र से वह भयभीत हो गयी। अपने भय को प्रचण्ड क्रोध का रूप देती हुई रानी ने तमककर कहा–"तुझसे कहा न, नाटक-वाटक सब बन्द कर। सत्य-सत्य बता–यह छोकरा आनन्द कौन है···· कौन है यह?"

"यह तो मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकती कि आनन्द कौन है। हाँ··· हाँ महारानी जी, मुझे इस सारे प्रसंग में अब सन्देह हो चला है। महाराजश्री जब मुस्कराते हैं तो उनके दाँयें गाल में एक भँवरी पड़ जाती है। ठीक वैसा ही

आनन्द के साथ देखकर मैं भी एक बार को तो आश्चर्य में पड़ गयी थी। यह आनन्द ..... ।"

"अब लम्बी-लम्बी बातें तो न हाँक, कपटी नाइन।"–डपटते हुए तेजस्विता ने कहा। उसकी गोल-गोल आँखों से जैसे अंगारे बरसने लगे। कड़कते स्वर में उसने पूछा–"स्पष्ट बता, तूने उस रात क्या किया जो विश्व-सुन्दरी की प्रसव की रात्रि थी? क्या तूने .... ।"

"बताती हूँ महारानी जी, सब-कुछ सच-सच ही कहे देती हूँ। अब आपसे कुछ छिपाकर मुझे मरना थोड़े ही है। आपने मुझे सेवा सौंपी थी कि मैं नयी महारानी की सन्तान को ठिकाने लगा दूँ। मेरी आँखों पर भी सोने की पट्टी चढ़ी हुई थी। मैंने भी आपकी आज्ञा को पूरा करने का निश्चय कर लिया था। रानी जब प्रसव-पीड़ा से छटपटाने लगी तो मेरे मन की राक्षसी जाग उठी। संसार-भर की कठोरता और निर्दयता को मुझे अपने में बसा लेना पड़ा, किन्तु अन्ततः मेरा यह राक्षस मेरे नारीत्व के सामने हार गया।" सलखू ने एक लम्बी साँस भरी और कहने लगी–"मेरी यही करुणा आज मेरे लिए संकट हो गयी है रानी जी।"

"किया क्या तूने दुष्टे ! क्या तूने .... !"

तेजस्विता ने अपना कथन पूर्ण भी नहीं किया था कि सलखू बीच में ही बोल पड़ी–"वही ....वही तो बताने जा रही हूँ रानी जी ! मैंने विश्व-सुन्दरी रानी की अपने पुत्र का मुख देखने की आतुरता भी देखी थी। प्रसव के पूर्व कुछ दिनों में तो वे राजकुमार की मनोहर कल्पना में ही डूबी रहती थीं। उनके नेत्र बन्द रहते और होठों पर मधुर मुस्कान बिखर जाती थी। प्रसन्न होकर कहतीं–दाई माँ ! हम अपने कुमार का नाम वही रखेंगी जो तुम बताओगी .... कुमार पर जितना अधिकार हमारा होगा–उतना ही तुम्हारा होगा। रानी जी, ऐसे अगाध विश्वास को भला मैं कैसे नकारती, कैसे रानी को छलती। किन्तु मुझे आपकी सेवा भी तो करनी थी। मैं क्या यह जान नहीं सकती थी कि यदि विश्व-सुन्दरी को राजकुमार के मातृत्व का गौरव मिला तो आप सभी महारानियों की दशा इस राज्य में क्या होने वाली थी। दूध की मक्खी की भाँति आप सभी को निकालकर बाहर फेंक दिया जाता। इस दासी ने तो आपका नमक खाया है, आपकी शुभ चिन्ता न रखूँ–ऐसा भी कैसे सम्भव था। मेरे भीतर यही अन्तर्द्वन्द्व मचा हुआ था कि निर्णय की घड़ी सामने आ ही खड़ी हुई।" सलखू नाइन बड़े कौशल के साथ अपनी बात को जमाते हुए आगे कुछ कहने के पूर्व रानियों की मुख-मुद्रा को भाँपने लगी। सभी

कुतूहलपूर्वक उसकी बात सुनने लगीं। सलखू के विराम ने उनमें उत्तेजक औत्सुक्य को जाग्रत कर दिया था।

"रानी विश्व-सुन्दरी ने दो सन्तानों को जन्म दिया। मेरी समस्या दुहरी हो गयी। एक 'कुँअरजी' थे, एक 'कुँअरानी'। मुझे अपना कर्त्तव्य स्मरण हो आया। फूल से कोमल और चाँद से सुन्दर इन नवजात शिशुओं को मुझे तुरन्त ठिकाने लगाना था। सोचा कि कह दूँगी—मृत शिशु उत्पन्न हुए। सन्ततियों को जन्म देकर माता तो अचेत हो गयी थी। मेरा कार्य सरल हो गया था। आपने भी यही सुना था कि विश्व-सुन्दरी रानी ने श्वान-शावकों को जन्म दिया। हुआ यों कि जब मेरे घातक पंजे दोनों शिशुओं के कण्ठों को दबोचना ही चाहते थे कि मेरे भीतर ही वात्सल्य की एक लहर उठी। दोनों शिशुओं के 'ऊआँ ···· ऊआँ' रुदन ने मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। मैं, रानी जी ! वह नहीं कर सकी ··· जिसका मैंने आपको वचन दिया था।" सलखू के मुख पर सहसा एक विवश दीनता उतर आयी। वह कहने लगी—"तभी मेरे भीतर से किसी ने जैसे पुकार कर कहा—तेरी पालतू कुतिया के पिल्ले फिर किस दिन काम आवेंगे। उठ ··· ऐसा ही कर। अब विलम्ब के लिए समय नहीं है। मैं ऊपर के कक्ष में दौड़कर गयी। मेरी कुतिया सो रही थी। चारों ओर रात्रि का घोर सन्नाटा था। मैं नवजात पिल्ले उठा लायी और अचेत रानी के पास उन्हें लिटा दिया। तत्काल मैं दोनों शिशुओं को उठाकर पीछे के द्वार से बाहर निकल गयी। प्रसव-कक्ष के बाहर महाराज और अन्य जन प्रतीक्षा कर रहे थे। इस कारण भी मेरे पास समय अधिक न था। मैं लपककर उद्यान के पीछे वाले वन में चली गयी। कुछ ही दूरी पर एक सूखा कुआँ था। मैंने दोनों शिशुओं को उस कूप में फेंक दिया। तुरन्त ही सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट भी सुनायी दे गयी। सोचती थी, ये अभागे यहाँ अपनी ही मौत मर जायेंगे। मुझे अपने हाथों यह न करना पड़ा—यही अच्छा हुआ। लौटने लगी तो शिशुओं का घुटा-घुटा-सा रुदन का स्वर मेरे कानों में पड़ने लगा। मैं त्वरा के साथ उद्यान-प्रासाद की ओर लपक आयी। मार्ग में मुझे ब्रह्मानन्द बाबा अवश्य मिल गये थे। मैं उनकी दृष्टि में नहीं पड़ी—यही अच्छा हुआ।" सलखू ने आँखें मींचकर संतोष की साँस ली।

"फिर ····· फिर क्या हुआ री।"—किसी रानी ने उत्सुकतावश पूछ लिया।

"फिर होना ही क्या था? प्रसव-कक्ष में आकर मैंने पिछला द्वार भीतर से बन्द कर लिया। अब भी रानी अचेत थी। श्वान-शावक भी नींद में थे। मैंने निश्चिन्त मन से मुख्य द्वार खोला और महाराज को उनके दुर्भाग्य की सूचना दी ··· रानी विश्व-सुन्दरी ने दो पिल्ले जने हैं।"

"हूँ···· तो इतना सोना लेकर तूने यह किया ···· तू नाइन नहीं ···· डाइन है डाइन।" क्रोध के साथ दाँत पीसते हुए रानी तेजस्विता ने कहा–"तो आनन्दसेन के विषय में तेरा क्या अनुमान है दाई?"

"अनुमान क्या होना है रानी जी ! अब क्षमा की जाऊँ, किन्तु मुझे लगता है आनन्दसेन विश्व-सुन्दरी का ही पुत्र है। सना है बाबा ब्रह्मानन्द के आश्रम में ही उसकी कोई बहिन भी है। हो-न-हो ये दोनों राजकुमार-राजकुमारी ही हैं। बाबा जब कूप के निकट से होकर निकले होंगे तो उन्होंने शिशुओं का रुदन सुना होगा। बाबा तो करुणा के अवतार ही हैं, उन्होंने शिशुओं को निकाल लिया और पाल-पोसकर बड़ा कर लिया।" सलखू नाइन इतना कहकर चुप हो गयी किन्तु रानी तेजस्विता का मन भाँति-भाँति की दुश्चिन्ताओं से घिर गया। भीतर की आशंका जब बाहर कहीं से पुष्ट होने लगती है तो भय साकार होकर छा जाता है। भीत मृगी-सी तेजस्विता आत्म-रक्षा का मार्ग खोजने लगी। वह पल-मात्र में ही उद्विग्न हो उठी। उसका सारा तेज तिरोहित हो गया, उसका साहस सहसा लुप्त हो गया। ओज का स्थान अब शैथिल्य ले चुका था और उसका मुख भी विवर्ण हो गया था। तभी किसी रानी ने उलाहना दिया–"हम भी बड़ी भोली हैं रानी जी ! तुम्हारे बहकावे में आकर हमने न जाने क्या-क्या पाप-कर्म कर लिए। अब तो गेहूँ के साथ घुन को भी पिसना ही पड़ेगा।"

"न गेहूँ पिसेगा न घुन ही पिसेगा ··· क्यों चिन्ता करती हो ! हमने भी कच्ची गोलियाँ तो नहीं खेली हैं। क्या हुआ जो एक बाण लक्ष्य पर नहीं पहुँचा ! अभी हमारा तरकस खाली तो नहीं हो गया !" अपने आत्म-विश्वास को दृढ़तापूर्वक थामते हुए तेजस्विता रानी ने प्रबल स्वर में कहा। उसने अपने साहस को पुनः बटोर लिया। एक नया कुचक्र उसके दुष्ट मन को अब नचाने लगा था। उसके नयनों में एक नवीन दमक लौट आयी। उसने फुसफुसाते हुए धीमे स्वर में अपनी बात आरम्भ की। उसके स्वर से ही नवीन रहस्यमयता झलकने लगी। सलखू अपने दोनों हाथों का सहारा कानों को देते हुए एक-एक शब्द को सुन लेने की सतर्कता बरतने लगी। अन्य रानियाँ भी सावधान हो गयीं, तनिक आगे खिसककर वे तेजस्विता के समीपतर होने का प्रयत्न करने लगीं। रानी ने कहा–"ध्यान से सुनो, हमने अपने तरकस से नया, अचूक तीर निकाल लिया है।" तेजस्विता ने अपने हाथ से ही अपने वक्ष-स्थल की ओर संकेत करते हुए कहा–"यह गेहूँ पिसने के लिए नहीं बना है। अब घुन को बचना हो तो गेहूँ का अनुसरण उसे करना ही होगा। वैसा ही करो जैसा हम करें।" यह कहकर तेजस्विता अपने स्थान पर खड़ी हो गयी। अपनी शिखा

खोलकर उसने अपनी केश-राशि को छितरा दिया। अपने हाथों ही अपने वस्त्र उसने फाड़ दिये। शृंगार-प्रसाधनों को अस्त-व्यस्त कर दिया। अपने पैने नखों से अपने कपोल नोचते हुए उसने अन्य रानियों को भी ऐसा ही करने को कहा। कुछ ने तो ऐसा करना आरम्भ भी कर दिया। उसने देखा कुछ रानियाँ अब भी आगा-पीछा कर रही हैं।

सलखू इस नाटक के इस रहस्यपूर्ण दृश्य को कुछ समझ नहीं पा रही थी। उसकी जिज्ञासा चरम को स्पर्श करने लगी थी। अरे ! यह क्या हो रहा है– राजरानी ने इस कक्ष के बाहर से ही जालियों में झाँककर देखा और आश्चर्यचकित रह गयीं। उन्होंने देखा कि संकोच कर रही अन्य रानियों की ओर तेजस्विता सिंहनी की भाँति लपकी और नोच-नोचकर उनके वस्त्र फाड़ने लगी। सभी रानियों ने अपने आभूषणों को भी तोड़-तोड़कर इधर-उधर फेंक दिया। किसी के तन पर कोई आभूषण नहीं रहा। सभी रानियों ने अपने-अपने कक्ष भी अस्त-व्यस्त कर दिये। समस्त सज्जाएँ चौपट कर दी गयीं। मूल्यवान वस्तुएँ और अलंकरण तोड़-फोड़ दिये गये। सर्वत्र महाविनाश की लीला दृष्टिगत होने लगी। भारी उत्पात के परवर्ती दृश्य की रचना बड़े कौशल के साथ कर दी गयी।

राजरानी कल्याणवती और रानी जयावती साँस रोके, बाहर से ही यह वीभत्स लीला देखती रहीं। उन्होंने देखा कि आज तो जैसे तेजस्विता अपने नाम को चरितार्थ करने पर तुली हुई है। उसने स्तब्ध-सी, कोने में खड़ी सलखू को खींचा और कक्ष के मध्य ले आयी। डपटते हुए रानी ने दाई से पूछा–"बोल नाइन ! तूने क्या देखा ?"

इस प्रश्न से बेचारी सलखू तो हक्की-बक्की ही रह गयी। किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी वह मूक खड़ी रह गयी। तभी तेजस्विता ने गर्जना की–"बोलती क्यों नहीं डाइन ! तेरी तो गज-भर की जीभ है न ! अब चुप क्यों हो गयी ! बोल ! क्या देखा है तूने ?" तेजस्विता ने दाँत भींचते हुए सकोप कहा। थर-थर काँपती दाई ने अपने कान पकड़ लिये–विकल स्वर में बोली–"मैंने .... मैंने कुछ नहीं देखा रानी जी, मैंने कुछ नहीं देखा। किसी से मैं कुछ न कहूँगी रानी जी .... कुछ न कहूँगी।" दाई बेचारी असहाय-सी खड़ी रह गयी।

"नहीं .... तूने देखा है–देखा है तूने और तुझे यह सब-कुछ अपने मुख से सभी को बताना भी होगा, समझी !" झिड़कते हुए रानी ने जो कहा तो दाई भीतर तक काँप उठी। त्वरा के साथ रानी तेजस्विता ने अपनी बात को आगे बढ़ाया–"हम बताती हैं–तूने क्या देखा है ! तूने देखा है कि वह धूर्त्त

आनन्द यहाँ आया और उसी ने.... ।" अति उत्साह से उमगती हुई सलखू ने बात पूरी भी नहीं होने दी, बीच ही में बोल उठी। अपने नयन नचाते हुए उसने कहा–"समझ गयी रानी जी ! सब-कुछ समझ गयी। अजी, बुद्धिमानों के लिए तो संकेत मात्र ही पर्याप्त होता है न ! अब तो मैं उस अधम आनन्द की इस करतूत को उजागर करके रहूँगी। चिल्ला-चिल्लाकर सारे नगर को बता दूँगी कि वह भोला-भाला लगने वाला युवा मल्ल कैसा निकला। रानी जी, मुझे तो आपकी सेवा ही करनी है, जैसे भी हो.... ।"

"बस-बस अब चुप कर" रानी तेजस्विता ने जैसे वाचाल सलखू के मुख पर वाल्गा लगाते हुए कहा–"पहले तो तूने बारे-न्यारे ही कर दिये हैं न ! जा, अब रानी केतकी तुझे बताएँगी–तुझे क्या करना है, जा यहाँ से।" रानी केतकी उठी और उसके साथ-साथ दाई इस कक्ष से बाहर हो गयी।

रानी जयावती के साथ राजरानी कल्याणवती ने इस कक्ष में प्रवेश करते हुए पूछा–"अरे बहिन तेजस्विता रानी ! यह क्या दुर्दशा कर ली है तुम लोगों ने अपनी, हाँ ?"

रोते-बिलखते हुए तेजस्विता ने साभिनय कहा–"देखो न दीदी ! क्या दशा कर दी है उस नीच मल्ल आनन्द ने। हमारा सारा प्रासाद.... ।"

"ज्ञात है बहिन ! मुझे सब ज्ञात है। तुम्हें अपनी ओर से कुछ जताना न होगा। मैं तो यही कहती हूँ तनिक सोच-समझकर काम करो। इतनी उत्तेजना उचित नहीं। समता की भावना को अपनाओ।"

"दीदी ! आप तो हमारी संरक्षिका हैं। हमारी सहायता करें। महाराज को आप भी निवेदन करें। उस दस्यु आनन्द को उसकी धृष्टता का दण्ड मिलना ही चाहिए।" अनुनयपूर्वक तेजस्विता ने कहा।

"यह भी भला कोई कहने की बात है, बहिन !" रानी जयावती ने प्रबोधन के स्वर में कहा–"दीदी, अपनी बात कहने में कोई संकोच कभी नहीं करतीं। किन्तु तुम भी जरा अपने मन में अपने विचारों और कर्मों को तोल तो लो... कहीं कोई...।"

"क्या अर्थ है तुम्हारा? क्या हम कोई ढोंग कर रही हैं? जाने क्या समझती हैं अपने आपको ये महारानी जी। हुँअ....।" उपेक्षा के स्वर में तेजस्विता ने कहा।

हस्तक्षेप करते हुए राजरानी कल्याणवती ने कहा–"रानी जयावती बहिन भी उचित ही कह रही हैं तेजस्विता बहिन। सभी को यही चाहिए, तुम्हें भी

चाहिए कि अपने किये का निरीक्षण करो। आत्मालोचना में संशोधन की अद्‌भुत क्षमता सन्निहित रहती है। स्वयं को कुमार्ग से बचाना तो प्रत्येक विवेकशील की चेतना का आग्रह रहता है। अपने पाप को पहचान लेने के अनन्तर भी यदि कोई उसे विकसित ही करता चले तो यह आचरण उसे बुद्धिमान नहीं आत्मघाती ही घोषित करेगा। जो कर्म हम कर चुके हैं उनका बंध तो हो ही गया। यदि वे अशुभ थे तो अवश्यमेव उसके दुष्परिणाम भोगने ही होंगे। किन्तु आत्मालोचना के पश्चात् भी अशुभ कर्मों में लगा रहना अशुभ भविष्य को ही प्रबल बनाना होगा। यह ठीक नहीं है बहिन। होना यह चाहिए कि अशुभ कर्मों को स्वीकार कर लो, प्रायश्चित्त करो। यही मंगलमय भवितव्य का मार्ग है। इसे अपनाओ पाप-पंक में अधिक से अधिक''''।''

''ठीक है–ठीक है दीदी। कोरे उपदेशों से किसी का भला नहीं होता ! चाहिये तो यह था कि आप हमारी सहायता करतीं, हमसे सहानुभूति रखतीं। आप तो हमीं पर आरोप लगाने लगीं।'' तेजस्विता ने सरोष कहा।

प्रबोधन के स्वर में राजरानी ने सस्नेह कहा–''रानी मेरी अन्यथा भाव ग्रहण न करो। मैं तो एक उचित परामर्श दे रही हूँ। लगता है विगत में तुम लोगों से कुछ अनीति हो गयी है। अब उस पर आवरण डालने की कुचेष्टा न करो। इस प्रयास में अनीति का और भी भयंकर रूप होने की आशंका है। अनीति को त्यागा न जाय तो उसका प्रबलतर रूप ही अपनाने की विवशता हो जाती है। मंगल इसी में है कि पूर्व-कर्मों का प्रायश्चित्त कर लिया जाय और भावी शुभ कर्मों का संकल्प धारण किया जाय। तुम तो विवेकशील हो, तुम्हें''''।''

''रहने दो दीदी ! अब रहने भी दो।'' तमककर तेजस्विता ने सरोष कहा–''नहीं अपेक्षा हमे, तुम्हारे इन सिद्धान्तों की। कोरे सिद्धान्तों से जीवन का निर्वाह होता नहीं है।'' इतना कहकर रानी सहसा ही जैसे अन्तर्मुखी हो गयी। उसकी पलकें झुक गयीं। सोचने लगी कि राजरानी के कथन में बल तो है, किन्तु क्या उनके कहे गये को हम कार्यान्वित कर सकेंगी। उनका मार्ग हमारे मार्ग से सर्वथा भिन्न है। दोनों की दिशाएँ ही विपरीत हैं। हम हमारे मार्ग पर इतनी आगे बढ़ आयी हैं कि अब लौटना असम्भव'''' सर्वथा असम्भव है। अब तो इसी मार्ग पर चलकर हमें हमारा गन्तव्य प्राप्त करना होगा। नीतिज्ञा तेजस्विता के मन में यह विचार भी आया कि दीदी की बात मान लेने का प्रदर्शन तो किया ही जा सकता है। इसी से हम हमारी योजना को सुरक्षित भी रख सकेंगी और अनायास ही रानी ने कहा–''कदाचित् आप ठीक ही

कहती हैं दीदी !'''' ठीक कह रही हैं आप।'' तेजस्विता ने देखा राजरानी अब तक तो लौटने को हो गयी हैं। उन्हें जाती हुई कल्याणवती एवं जयावती की पीठ दिखायी दी। कुशलजन अवसर का लाभ उठाने में रंच मात्र भी नहीं चूकते। जाते-जाते अवसर का भी उपयोग कर लेते हैं, निराश होकर निष्क्रिय नहीं हो जाते। अपने स्वर में सप्रयास प्रबलता लाते हुए तेजस्विता ने कहा– ''मैं प्रयत्न करूँगी दीदी ! प्रयत्न करूँगी कि आपके कथन का अनुसरण करूँ।'' राजरानी ने भी हाथ उठाकर आशिष दी और लौट गयीं। मन-ही-मन उन्होंने कामना की कि इन दिग्भ्रमित अभागिनों को सद्बुद्धि प्राप्त हो। रानी तेजस्विता ने कुछ पल मौन रहकर चिन्तन किया और सहसा उसका क्रूर अट्टहास सारे कक्ष में गूँज उठा। उसने अन्य रानियों से कहा–''बहिनो मेरी, हमें जीना है, और सुख से जीना है। कल्याणवती के मार्ग पर चलकर आत्मघात नहीं करना है। अन्तिम विजय हमारी होगी।''

''रानी तेजस्विता की जय !'' वह विशाल कक्ष इस जय-जयकार से प्रतिध्वनित हो उठा। रानी का उत्साह उत्कर्षित हो गया। नयी उमंग से उसके नेत्र दमक उठे।

● ●

पिछली रजनी के शान्त वातावरण को विदीर्ण करती हुई सहसा अन्तःपुर में चीखें–कराहें उठीं। महाराज चन्द्रसेन के आगमन की सूचना पाकर रानियाँ रुदन-विलाप करने लगीं। अस्त-व्यस्त और दुर्गति-ग्रस्त इन रानियों को तेजस्विता ढाढ़स बँधाने लगी–"अब धीरज धरो, बहिनो ! महाराजश्री स्वयं पधार गये हैं। अब हमें कोई चिन्ता नहीं। महाराज उस दुष्ट को अवश्य ही मृत्यु-दण्ड देंगे। समर्थ, पराक्रमी, न्यायशील पतिदेव के रहते हमारे लिए क्या भय हो सकता है।" इसी समय महाराज चन्द्रसेन ने सलखू के साथ तीव्रता से प्रवेश किया। यहाँ के वीभत्स दृश्य को देखकर वे भी हतप्रभ रह गये। महाराज ने सरोष पूछा–"क्या है यह सब–किसने उत्पात मचाया है यह। तुम किसी दुष्ट की चर्चा कर रही थीं रानी तेजस्विता–कौन है वह?"

"महाराज !" अपने स्वर में विनय लाते हुए तेजस्विता ने प्रणाम-पूर्वक कहा–"वह दुष्ट ही नहीं दस्यु भी है, चरित्रहीन और कुकर्मी भी है। वह·····।"

"किन्तु हम उसका नाम जानना चाहते हैं। किसने हमारे अन्तःपुर में यह दुस्साहस किया है?"

"किन्तु महाराज···· ।"

"उत्तर दो, मूक क्यों हो गयीं?" महाराज ने कड़कते हुए पूछा।

"श्रीमानेश्वर की जय हो, उसका नाम भी आपके समक्ष प्रकट करते हुए संकोच होता है महाराज ! आपको वह प्रिय जो है !" तेजस्विता ने अपने कथन पर रहस्य का रंग चढ़ाते हुए कहा।

"अब पहेलियाँ न बुझाओ, नाम बताओ हमें उसका।" महाराज ने झुँझलाते हुए कहा–"न्याय के मार्ग में हमारे लिए कोई प्रिय-अप्रिय नहीं। कौन है वह? निर्भीक होकर बताओ।"

"वही महाराज ! वही जिसने आपके हाथों गत सन्ध्या को दंगल में सर्वजेता का पुरस्कार प्राप्त किया, वही···· ।" रानी ने स्वेच्छा से ही अपना कथन अपूर्ण छोड़ दिया।

"अच्छा तो वह आनन्द–उसने दिया है आमन्त्रण, स्वयं अपनी मृत्यु को ! आश्चर्य है !" महाराज चन्द्रसेन ने कहा।

आश्चर्य इसमें क्या है महाराज ! शक्ति पाकर किसी में मद का आ जाना स्वाभाविक ही है। उन्माद क्या-क्या अनर्थ नहीं करवा देता महाराज ! उस नीच आनन्द ने प्रासाद का सारा वैभव लूट लिया, हमारे आभूषण भी ले गया और सब-कुछ तहस-नहस कर गया।" रानी के मुख-मण्डल पर सहसा दीनता का भाव व्याप्त हो गया।

"उस दुष्ट का इतना साहस!"–महाराज चन्द्रसेन ने गर्जना की। लोहा जब तक तप्त हो, तभी तक उसको मनचाहा रूप दे दो। ठण्डा हो जाने पर उस पर हमारा वश नहीं रह जाता। अवसर का सदुपयोग करना ऐसा ही है। अवसर बीत जाने पर असफलता और पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है। रानी तेजस्विता इस मर्म से न अपरिचित थी और न ही वह शिथिल थी। अपने मुख पर दीनता का लेप और भी प्रगाढ़ करते हुए वह बोली–"यही नहीं, महाराज ! वह लम्पट हमारी भी यह दुर्गति कर गया।" रानी ने अपने उन्मुक्त केश की लटों को हाथ में लेकर आगे किया और कहा–"यह दशा देख रहे हैं महाराज आप, अपनी इन रानियों की। उसने किसी को नहीं छोड़ा–नीच, कापुरुष···· । देखिये महाराज, भली प्रकार से देख लीजिये।"–यह कहते हुए उसने एक अन्य रानी के फटे वस्त्रों की ओर संकेत किया। "भला आप जैसे समर्थ और पराक्रमी शूरवीर की रानियों के साथ···· ।"

"बस करो रानी, बस करो।"–महाराज आहत हृदय और भग्न-गरिमा के साथ बोले।

"यह तो भला हो दाई माँ सलखू का।"–तेजस्विता ने सिर नवाए खड़ी दाई की ओर संकेत कर कहा–"इसने कहीं से लाकर एक कृपाण मुझे थमा दी। मुझे सशस्त्र देखा तो वह भीरु भाग खड़ा हुआ।"

"भागना तो था ही उसे।"–सलखू ने भी अवसर पाकर बात जड़ दी– "आपका स्वरूप भी तो उस समय उग्र चण्डिका जैसा था। मैं तो उस नीच को पकड़कर बाँध देना चाहती थी, किन्तु अब मुझमें वैसी शक्ति कहाँ, महाराज ! मेरी पकड़ से फिसल ही गया वह। किन्तु उस उद्दण्ड को दण्ड तो मिलना ही चाहिए, महाराज !"

"कठोर दण्ड मिलेगा–अवश्य मिलेगा।" महाराज चन्द्रसेन ने सशक्त वाणी में कहा–"सलखू ! तुमने उस नीच आनन्द की यह सारी करतूत स्वयं देखी है?"

"जी महाराज ! इस अभागिन ने अपनी इन असहाय आँखों से देखा है। बड़ी निर्दयता के साथ उसने राज-महिषियों के आभूषण छीने और मैं कुछ नहीं कर सकी। उसने इनके साथ दुर्व्यवहार किया और मैं देखती रह गयी। जिनका नमक खाया है उनकी कोई सेवा–सहायता कर ही नहीं सकी। जब तक उस दुर्जन को दण्ड नहीं मिल जाता, मेरे मन का यह संताप शान्त नहीं होगा महाराज ! मैं पछतावे की अग्नि से घिरी तड़पती रहूँगी।"

"शान्त हो जाओ दाई माँ ! अब शान्त हो जाओ। मेरा न्याय तुम्हारी कामना को पूर्ण करके ही रहेगा। महाराज चन्द्रसेन ने आश्वासन दिया। उन्होंने रानियों को सम्बोधित करते हुए कहा–"मैं बड़ा दुःखी हूँ तुम्हारी इस अवस्था से किन्तु अब तुम सभी अभय हो जाओ। मैं नहीं जानता वह दुष्ट यहाँ तक पहुँचा कैसे? हमारे सुरक्षक क्या करते रह गये ! राज्य की सुरक्षा व्यवस्था को हम सुदृढ़ मानते चले आये हैं, पर राजप्रासाद में ही···· आश्चर्य है! " धीर-वीर महाराज ने इस असाधारण परिस्थिति में भी स्वयं को सामान्य बनाये रखा। उन्होंने अपने रोष और उत्तेजना को सायास गूढ़ और गुह्य कर लिया। कुछ क्षणों तक वे मौन-मूक खड़े ही रह गये और तब वे त्वरा के साथ वहाँ से प्रस्थान कर गये। चलते-चलते भी उनकी गर्दन झुकी ही रही। वे सोचते रहे–इस सारे प्रकरण पर भला अविश्वास कैसे किया जा सकता है। रानियाँ भला उस आनन्द पर मिथ्या आरोप क्यों लगाने लगीं। उसका तो यहाँ किसी के साथ कोई पूर्व-परिचय भी नहीं। और···· और यह दाई···· दाई ने भी तो पुष्टि की है। उसकी साक्ष्य को अविश्वसनीय नहीं समझा जा सकता। वह तो राज-परिवार के प्रति दृढ़ निष्ठा रखती है। हो-न-हो आनन्द को अपनी शक्ति का गर्व हो गया है। अनियंत्रित और असंरक्षित शक्ति उत्पात होकर रह जाती है। ऐसे शक्तिशाली का अनैतिक और दुराचारी हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं। उस अशिष्ट को····· । महाराज चन्द्रसेन यही सब-कुछ चिन्तन करते-करते अपने प्रासाद की ओर बढ़ते चले गये। उषा काल की मन्द-मन्द बयार चलने लगी थी। प्राची में मनोहर अरुणिमा छाने लगी। पंछी चहचाने लगे थे।

× × ×

बाबा ब्रह्मानन्द का शान्त आश्रम उन्मुक्त प्रकृति माँ की गोद में सोये निश्चल शिशु-सा लग रहा था–वैसा ही आश्वस्त, वैसा ही निरीह। प्रभात-वेला ने जैसे सारे आश्रम में एक नव-स्फूर्ति भर दी थी। गायें रँभाने लगी थीं, वत्स अपने समग्र चांचल्य के साथ उछल-कूद करने लगे थे। तरु-राजि पर खग-वृन्द

अपनी मधुर वाणी में सूर्यदेव के आगमन पर जैसे स्वागत-गान करने लगे थे। दूर-दूर तक व्याप्त घने वनों की हरीतिमा अद्‌भुत शोभा बिखरा रही थी। सर्वत्र नीरवता का साम्राज्य था।

सहसा यह शान्त वन-प्रान्तर अश्वों की टापों से आक्रान्त हो उठा। अनेक अश्वारोही सैनिकों ने प्रवेश कर कानन में हलचल मचा दी। आश्रम के मृग-छौने अपनी कुलाँचें भूलकर अपलक नयनों और स्थिर देह सहित जहाँ के तहाँ मूर्तिवत् खड़े रह गये, मानो टोह लेने में लगे हों। पंछियों का स्वर एक बारगी ही पंचम को पहुँच गया। काननबाला ने इस अद्‌भुत परिवर्तन को देखा, तो कुछ अनुमान ही नहीं लगा पायी, किन्तु भीतर-ही-भीतर वह किसी अज्ञात अनिष्ट की कल्पना से सिहर उठी। त्वरा के साथ वह बाबा की पर्णकुटिया की ओर चल दी। कुटिया के द्वार पर पहुँचकर उसने पीछे की ओर मुड़कर जो देखा तो उसे अनेकानेक अश्वारोही दिखायी दे गये। काननबाला काँप उठी।

सूचना पाकर बाबा जो कुटिया के बाहर निकले तो पाया कि सैनिकों ने उनके समग्र आश्रम को घेर लिया है। उन्होंने अपनी दृष्टि सभी ओर घुमायी और तब गंभीरतापूर्वक मन्थर गति से आश्रम द्वार की ओर बढ़ गये। द्वार पर नायक पहले से ही प्रतीक्षा कर रहा था। नायक ने श्रद्धापूर्वक बाबा को नमन किया। "क्या बात है नायक ! आज विद्या और भक्ति के केन्द्र पर राज-शक्ति का प्रदर्शन कैसा ! आपके आगमन का प्रयोजन ?"

"क्षमा किया जाऊँ प्रभो ! राजाज्ञा से सैन्य-दल को आश्रम पर आना पड़ा। आपकी अनुमति के बिना आश्रम में प्रवेश करना अनुचित था, अतः हम यहीं प्रतीक्षा करने लगे थे।" नायक ने सविनय निवेदन किया। बाबा ने अपने सहज गंभीर स्वर में कहा–"हमारा आश्रम सभी के लिए खुला है। स्वागत है नायक इस आश्रम में तुम्हारा और तुम्हारे दल का। ज्ञात नहीं तुम्हारा प्रयोजन क्या है–किन्तु हम अतिथि के शुभाशुभ मन्तव्य की ओर ध्यान न देकर उसे देव-तुल्य मानकर उसका स्वागत-सत्कार ही प्रथमतः करते हैं। आओ, भीतर आ जाओ।" बाबा यह कहकर भीतर की ओर मुड़े और नायक ने अपने एक छोटे-से सैन्य-गुल्म के साथ अनुसरण किया। खुले आँगन में एक आम्रवृक्ष-तले प्रस्तर चौकी पर बाबा आसीन हो गये और समक्ष ही नायक अधीनस्थ सैनिकों के साथ खड़ा हो गया।

"हाँ, अब बताओ ····· ।" बाबा ने अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ पूछा–"आज हमारे नरेश ने आश्रम पर सेना कैसे भेज दी? पूर्व में तो कभी ऐसा हुआ नहीं।"

"स्वामिन, इसे अशिष्टता न समझें–हमें राजाज्ञा का पालन करना ही पड़ता है–यही हमारा धर्म है। हमें इस आदेश के साथ यहाँ भेजा गया है कि''''''।" नायक संकोचवश अवाक् रह गया।

"कहो''''' कहो''''' संकोच न करो।" बाबा ने नायक को उत्साहित करते हुए कहा–"क्या आदेश दिया गया है तुम्हें?"

"मान्यवर ! हमें आदेश है कि हम आपके पुत्र को बन्दी बनाकर यहाँ से ले जाएँ और महाराज के समक्ष प्रस्तुत करें। उसने घोर और जघन्य अपराध किया है।" दृढ़ता के साथ नायक ने कथन किया।

"पुत्र''''' ! क्या कहते हो तुम ! हमारा कोई पुत्र नहीं। हम तो तपस्वी हैं'''' साधक ! हम बालब्रह्मचारी हैं–क्या तुम्हारा नरेश यह नहीं जानता ! आश्चर्य है !" बाबा ने उत्तर में कहा "किन्तु कौन अपराधी है, जिसकी खोज में तुम्हें यहाँ भेजा गया?"

"मल्ल आनन्द–यही नाम बताया गया है प्रभो ! उसने कल''''।"

"अरे आनन्द की बात कहते हो ! वह–वह तो कल वसन्तोत्सव में सम्मिलित होने को राजधानी गया हुआ है। अब तक लौटा नहीं है। किन्तु'''' वह–वह तो कोई अपराध कर ही नहीं सकता। वह भला''''।" बाबा ने दृढ़तापूर्वक कहा। नायक–"किन्तु हमें हमारा कर्त्तव्य पूर्ण करना ही होगा प्रभो ! हमें आश्रम में उसकी खोज करनी होगी। अनुमति प्रदान करें, स्वामी !"

बाबा–"वैसे तो तुम्हें हमारे कथन को विश्वसनीय समझना चाहिये, किन्तु हम तुम्हें संकट में भी नहीं डालना चाहते। जाओ राजाज्ञा पूरी करो। आश्रम में खोज करो–कोई बाधा नहीं होगी तुम्हारे कार्य में।"

नायक–"आपके कथन में विश्वास न करना तो असंभव है स्वामिन ! यह तो ऐसा पाप होगा जिसका कदाचित् कोई प्रायश्चित्त भी न हो। किन्तु कोई भ्रान्ति भी रह सकती है। रात्रि में वह विलम्ब से आया हो और आपको उसने सूचना ही न दी हो–ऐसा भी संभव हो सकता है।"

बाबा ने अब मौन रह जाना ही समीचीन समझा। नायक भी कोई अपेक्षा नहीं रखता था। प्रांगण के समस्त सैनिक तत्परतापूर्वक शीघ्र ही सारे आश्रम में फैल गये। चप्पा-चप्पा छान लिया गया, सभी कुटियाओं में खोज कर ली गयी। आनन्द का कहीं पता न चला। अब भी सारा आश्रम सैनिकों से घिरा हुआ था। उसके पलायन की भी कोई आशंका न थी। आश्वस्त होकर नायक

ने बाबा के समक्ष उपस्थिति दी। करबद्ध निवेदन किया–"क्षमा करें स्वामिन, हमने व्यर्थ-ही में आपके नित्य-कर्म में बाधा पहुँचाई। आनन्द लौटा ही नहीं है। महाराज को सूचना दे दी जायेगी। क्षमा-याचना के साथ प्रणाम निवेदन करता हूँ।" बाबा ब्रह्मानन्द ने भी हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया–"कल्याण हो !"

सैन्य-दल तुरन्त लौट गया। वन-कान्तार कुछ क्षणों तक अश्वों की टापों से गूँजता रहा और तब पुनः पूर्ववत् निविड़ नीरवता छा गयी। बाबा अभी प्रांगण में ही थे कि चिन्तित-उद्विग्न काननबाला वहाँ पहुँची। "क्या हुआ बाबा? कौन थे ये लोग? आनन्द को क्यों खोज रहे थे?"

"चिन्ता न करो बेटी, आश्वस्त हो जाओ। आनन्द के लिए कोई संकट नहीं है। वह सकुशल और सुरक्षित है। ये सैनिक राजा चन्द्रसेन द्वारा भेजे गये थे। उसे बन्दी बनाकर ले जाने को आये थे।" बाबा के इस कथन से कानन और अधिक संतप्त हो उठी–"किन्तु क्यों बाबा? क्यों ले जाना चाहते थे? किया क्या है उसने? मुझे तो भारी चिन्ता लग रही है।" कानन ने कहा और बाबा के मुख की ओर ताकने लगी। "व्याकुल ना हो बेटी ! चिन्ता न कर !"–प्रबोधन देते हुए बाबा ने कहा–"मुझे तो विदित ही था कि कोई षड्यंत्र किया जा सकता है, उसके विरुद्ध। अभी आनन्दसेन की प्रतिभा का खुला प्रदर्शन होने योग्य समय नहीं आया है। इसी कारण मैं इस पक्ष में भी न था कि वह वसंतोत्सव में भाग लेने को राजधानी जाय, किन्तु उसके उत्साह के सामने मैं भी कुछ कर न सका।"

"किन्तु बाबा वह तो सरल बालक है। उससे भला कोई अपराध संभव भी है?" कानन ने सहजतः कह दिया।

"वही–वही तो कहता हूँ, कानन ! उसने मल्ल-विद्या का सुन्दर प्रदर्शन किया और सभी प्रतियोगियों को परास्त कर वह सर्वजेता घोषित हुआ, उसे पुरस्कृत किया गया, उसका मान-सम्मान किया गया।" बाबा के इस कथन से कानन का मुख-मण्डल प्रसन्नता से खिल उठा। बाबा ने कहा–"ऐसा ही प्रसन्न था। स्वयं आनन्द भी, जब रात को वह यहाँ लौटा। हाथी भी फूला न समाता था।"

"अच्छा वह लौट भी आया–है कहाँ आनन्द !" कानन ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"वही तो कहता हूँ, धीरज धरो, बेटी।" बाबा ने शान्ति के साथ कहा–"उसकी इस अभूतपूर्व विजय से प्रसन्नता मुझे भी हुई। साथ ही मैं जान गया

कि उसकी इस सफलता से लोगों में ईर्ष्या जागेगी, अन्य कारण भी हो सकते हैं। मुझे विदित हो गया कि आनन्द को प्रताड़ित करने को कुचक्र किया जा सकता है। अतः मैंने चम्पकमाला के साथ उसे रातों-रात ही आश्रम त्यागकर कहीं दूर निकल जाने को कह दिया था। वे दोनों कुछ समय के लिए चले गये हैं। हुआ भी यही उस पर झूठ-मूठ का अभियोग लगा दिया गया है। अभी भी उसके प्रकटीकरण का उचित अवसर बना नहीं है। इसी कारण मैंने उसे गुप्त वास के लिए भेजा है। तू कोई चिन्ता न कर, कानन ! वे दोनों जहाँ भी हैं, वहाँ प्रसन्न हैं, सुरक्षित हैं।''

बाबा की पूरी बात सुनकर कानन को आन्तरिक तोष हुआ। वह सोचने लगी–इसीलिए आज चम्पक भी दिखायी नहीं दे रही। बाबा ने अच्छा ही किया कि उन्हें कहीं भेज दिया, अन्यथा आनन्द के लिए आज संकट ही उठ खड़ा हो गया होता। कानन ने एक क्षण के लिए नेत्र मूँदकर उनके लिए कुशल-मंगल की कामना की और अपने नित्य-कर्म में लग गयी।

× × ×

नरेश ने सेनानायक से समाचार पाया कि बाबा ब्रह्मानन्द के आश्रम में आनन्द का पता नहीं लगा तो वे कुछ बुझ से गये। इस समाचार ने अन्तःपुर को कुछ आश्वस्त अवश्य किया। रानी तेजस्विता सोचने लगी थी कि यह भी अच्छा ही हुआ। सैनिक उसे पकड़ ही लाते तो रहस्य खुल जाने की आशंका भी तो थी। इतनी उपलब्धि ही पर्याप्त है कि महाराज के मन में आनन्द के प्रति घृणा और विकर्षण उत्पन्न हो गया। उनका मानस उसके विपरीत हो चला है। भयाक्रान्त तो आनन्द भी हो ही गया है, अन्यथा वह इस प्रकार लुप्त नहीं हुआ होता।

नृपति चन्द्रसेन महाराज का मन इस घटना को साधारण नहीं मान पा रहा है। आनन्दसेन का इस प्रकार तिरोहित हो जाना उसके अपराध की पुष्टि ही करता है, यह मानते हुए महाराज तो उसे दण्डित करने को कटिबद्ध ही हो गये थे। उन्होंने आज्ञा दी कि सारे राज्य में आनन्द की खोज की जाय। जो कोई राज्य कर्मचारी अथवा नागरिक उसे पकड़ लायेगा उसे पुरस्कृत भी किया जायेगा–यह व्यवस्था भी महाराज ने दी। उनका मन सहज और सामान्य नहीं हो पा रहा था।

न्यायोचित दण्ड और अहिंसा में क्या कोई विरोध है–महाराज चिन्तनलीन हो गये। यह सत्य है कि मैं महावीर प्रभु का सच्चा अनुयायी हूँ।

इस नाते मैं अहिंसा का आराधक हूँ। गृहस्थ अवश्य हूँ, तथापि मैंने बारह अणुव्रतों के पालन का संकल्प धारण किया है। पहला ही अणुव्रत अहिंसा का है–यह भी सत्य है, किन्तु मुझे राजा का दायित्व निभाना ही है। शासक को न्याय करना होता है और न्याय के मार्ग में दण्ड की व्यवस्थाएँ भी अपरिहार्य होती हैं। मैं भला अपने इस दायित्व की उपेक्षा भी कैसे कर सकता हूँ। हाँ, दण्ड अपराधियों को ही दिया जाता है और इसमें अहिंसा का उल्लंघन नहीं समझा जा सकता। अहिंसा भीरुता नहीं शौर्य का ही एक रूप है। व्यापक जनहित को अहिंसा की आड़ में उपेक्षित रख देना तो एक बड़ी हिंसा होगी। अपराधी को दण्ड देना अहिंसाव्रतधारी के लिए भी धर्म है। महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे और उनका मन स्वस्थ एवं स्फूर्त हो उठा। वैचारिक चक्र से मुक्त होकर उन्होंने आनन्द को दण्डित करने का निश्चय कर लिया। सभी दिशाओं में आनन्द की खोज आरम्भ हो गयी।

● ●

श्वेत और श्याम अश्व अहर्निश तीव्र गति से दौड़ते चले गये। श्याम अश्व को उसका आरोही आनन्द उत्साहित करता, आगे बढ़ाता जा रहा था और उसे देख श्वेत अश्व स्वतः ही चम्पकमाला को लिये आगे बढ़ता चला जा रहा था। सघन वन-प्रान्तर की अटल शान्ति भी अश्वों की हिनहिनाहट से जैसे काँप उठती थी। आनन्द के लिए प्रश्न और तर्क तो जैसे बने ही नहीं थे। उसने बाबा का आदेश शिरोधार्य माना और उस घोर अंधेरी रात्रि में चम्पक के साथ आश्रम त्यागकर अनिश्चित गंतव्य की ओर चल पड़ा था। बाबा का आदेश था कि वे अविलम्ब ही यह राज्य छोड़ दें। जब तक वे अन्य राज्य में प्रवेश न कर लें, क्षण मात्र के लिए भी विश्राम न करें। यह राज्य उनके अनुकूल नहीं है।

आनन्द के मन में यह विचार दृढ़ता के साथ घर कर गया था। वह अत्यन्त वेग से इसी कारण विजन वनों को पार कर आगे-से-आगे बढ़ता जा रहा था। कोमलांगी चम्पकमाला के श्रम-शिथिल हो जाने के तथ्य से अनभिज्ञ भी नहीं था, किन्तु वह बहिन को दिलासा देता और प्रेरित करता जा रहा था। चम्पकमाला भी अपना साहस थामे हुए थी। अपने हाथों से वह उसे निकलने नहीं दे रही थी। पिछली अर्द्ध-रात्रि से आरम्भ हुई इनकी यह यात्रा अविरल-अजस्र रूप से चली जा रही थी। सूर्योदय भी हुआ और अब वह गगन में ऊँचा उठ आया था। एक स्वच्छ स्थल देखकर आनन्द ने विराम का निश्चय किया। अश्व थमे, आनन्द भूतल पर उतरा और सहारा देकर उसने चम्पकमाला को भी नीचे उतारा। वह तो अब जैसे थकान से चूर हो गयी थी। एक सघन वृक्ष के तले उन्होंने आश्रय लिया। अश्वों को उन्होंने चरने के लिए उन्मुक्त छोड़ दिया। वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर चम्पक विश्राम करने लगी। आनन्द ने देखा–यह स्थल वास्तव में बड़ा उपयुक्त था। समीप ही एक जल-स्रोत प्रवाहित था। कुछ वन्य फलों से लदे वृक्ष भी चारों ओर दिखायी दिये।

कुछ क्षणोपरान्त आनन्द उठा और एक स्थल को विशेष रूप से स्वच्छ किया। दोनों ने स्रोत के निर्मल जल से मुँह-हाथ धोये और स्वच्छ किये गये

स्थल पर उन्होंने सामायिक की, नवकार महामंत्र का जाप किया। थकित चम्पक में पुनः नवस्फूर्ति व्याप्त हो गयी। उसके मुख-मण्डल पर आगामी यात्राचरण के लिए अपूर्व उत्साह झलक आया। आनन्द ने फल एकत्र किये और दोनों ने फलाहार किया। शीतल जल का पान किया और शीघ्रतापूर्वक अश्वारूढ़ हो गये। नवीन उत्साह के साथ उन्होंने अगले चरण की यात्रा आरम्भ की। इसी प्रकार यात्रा चलती रही । कभी सुहावने सुन्दर वनों को पार करते, तो कभी भयावह, साँय-साँय करते सघन वनों से गुजरते। कई बार तो नाग, मृग, शृगाल, भैंसे आदि अनेक वन्य जीव-जन्तु उनके अश्वों के सामने से रास्ता काटते निकल जाते। कभी दूर से भालू-बाघ आदि हिंस्र पशु दिखायी दे जाते। कहीं सर्प-नेवले का संघर्ष दिखायी दे गया, तो कहीं नृत्य-मग्न मयूर की छटा मन मोह लेती; किन्तु ये यात्री तटस्थ भाव से आगे बढ़ते चले गये। न भय और न मोह–कोई भी भाव उन्हें बाँध नहीं पाता था।

चलते-चलते अश्व एक स्थल पर जैसे वन से बाहर निकल आये। सपाट–सूनी धरती पर स्वाधीन पवन से अठखेलियाँ करते अश्व अब भी अग्रसर होते चले गये। आनन्द ने देखा–दूर कोई तोरण द्वार था, तनिक एक ओर हटकर। मन में जिज्ञासा जाग्रत हुई। उसने अपना अश्व तनिक उसी दिशा में मोड़ दिया। चम्पक ने भी अनुसरण किया। समीप पहुँचा तो ज्ञात हुआ इसी स्थल पर चम्पानगरी राज्य की सीमा है। द्वार के उस पार से अन्य राज्य का क्षेत्र आरम्भ होता है।

प्रसन्नतापूर्वक भाई ने बहिन से कहा–"अब आनन्द-ही-आनन्द है, चम्पक ! अब किसी प्रकार का भय–चिन्ता नहीं।" चम्पाकली कुछ समझ न पाकर प्रश्नवाचक मुद्रा में अवाक्-सी, भैया का मुख देखती रह गयी। "नहीं समझी, चम्पक? अरे यहाँ चम्पा राज्य समाप्त हो जाता है। गुरुदेव–पूज्य बाबा का एक आदेश तो पूर्ण हुआ; अब हम तनाव-मुक्त हुए। वह शासन अब हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता, समझी न?"

"अच्छा–अच्छा ! ऐसा क्या?" चम्पकमाला चहकी।

"और क्या ! इसी से तो कहता हूँ अब आनन्द-ही-आनन्द है।"–यह कहते हुए भैया को मुस्कराते देखा तो चम्पक बोली–"अर्थात् अब तुम-ही-तुम हो, भैया मेरे ! यही न?"

"तुम चाहो तो यह भी समझ सकती हो। वैसे यह पड़ोसी राज्य–'आनन्दनगर' है। देखो न; तोरण द्वार पर लिखा तो है–'आनन्दनगर राज्य अपने अतिथियों का स्वागत करता है।' अब चम्पा गयी और आनन्द का

राज्य है।" आनन्द ने तनिक परिहास किया और गूढ़ मुस्कान के साथ तनिक उच्छृंखल दृष्टि से निहारने लगा। कथन का मर्म समझकर चम्पक ने मधुर खीजपूर्वक आनन्द के कंधे पर हौले से प्रहार करते हुए कहा–"धत्त भैया ! तुम भी बड़े वो हो। उपहास करना तो कोई तुमसे सीखे।" यह कहकर वह एक क्षण को मौन ही रह गयी; फिर कथनारम्भ करती हुई वह बोली–"भैया, राज्यों के नामकरण वहाँ के नरेशों के नामों पर आधारित तो देखे गये हैं। लगता है इस राज्य को तो अपने नाम के अनुरूप राजा अब मिलने वाला है– क्यों, आनन्द भैया !"

"कदाचित् बहिन, तुम ठीक ही कहती हो।"–गर्वानुभव का अभिनय-सा करते हुए आनन्द ने कहा–"सामान्य चर्चा तो यही है कि हम राज करने को जन्मे हैं।"

"अच्छा जी ! तो आप राजा बनेंगे? वाह जी ' ' ' ' वाह ! मुँह धोकर आओ जी।" चुहल करते हुए चम्पकमाला ने मुख एक ओर कर अपनी हँसी को दबा लिया।

"अच्छा चम्पक चलो, अब इस राज्य में प्रवेश करें।"–कहते हुए आनन्द ने अश्व बढ़ा दिया। "चलें राजधानी की ओर चलते हैं।"

"हाँ, हाँ–राजधानी तो चलना ही होगा। तभी तो तुमको राज्यासन मिल सकेगा न !"–चम्पकमाला ने फिर परिहास किया और दोनों के चित्त उत्फुल्ल हो उठे। नवीन उत्साह के साथ वे राजधानी पहुँचने की आशा में तीव्र गति से अग्रसर होने लगे।

× × ×

पूज्य गुरुदेव का स्मरण कर दोनों भाई-बहिन ने नवकार महामंत्र का जाप किया और महाशून्य में लिपटे आनन्दनगर के मुख्य द्वार में प्रवेश किया। नगर के बाहर का वातावरण तो उन्हें सूना-सूना और निःशब्द लगा ही था– नगर भी सूना पड़ा था। नगर-द्वार भी चौपट पड़ा था; कोई प्रहरी नहीं। मार्ग-वीथियाँ निर्जन थीं। इस उजड़े नगर के पथ पर मात्र दो अश्वारोही गतिशील थे–आनन्द और चम्पकमाला। इन्हें लगता था जैसे यह नगर अभिशप्त हो। कहीं कोई सजीवता का लक्षण दृष्टिगत नहीं होता था। उच्च अट्टालिकाएँ थीं, किन्तु निर्जन; व्यवसाय-स्थल थे, किन्तु बन्द पड़े थे। वैभव का ध्वस्त अवशेष ही दृष्टिगत होता था। पौधे सूखे और वृक्ष उदास खड़े थे। पवन भी जैसे यहाँ आना भूल गयी थी। सब-कुछ धूल-धूसरित था। लगता था जैसे इस नगर में पतझर ही डेरा डाले है–वसंतागमन यहाँ कभी हुआ ही न हो।

इस घोर अभिशाप की छाया में दोनों यात्री आश्चर्यचकित से आगे बढ़ते जा रहे थे। वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि यह नीरवता और शून्य क्यों है? चम्पक का हृदय तो जोर-जोर से धड़कने लगा था। कोई पशु-पक्षी भी दृष्टिगत नहीं होता था। इस अभागी राजधानी के सभी भागों का भ्रमण कर चुकने पर भी इन दोनों को कहीं कुछ भी आशाजनक दिखायी नहीं दिया। कोई सूत्र भी नहीं मिला, जिससे इस दुर्दशा के कारण का संकेत प्राप्त हो। चलते-चलते ये राजप्रासाद के समक्ष पहुँच गये। यहाँ उन्हें कुछ आशा बँधी। बाहर से तो यहाँ भी वैसी ही वीरानगी दिखायी दी, किन्तु उन्हें अनुमान होने लगा कि भीतर कदाचित् कोई मिल ही जाय, जिससे कुछ ज्ञात हो सके। इस उत्साह से वे प्रासाद के भीतर प्रविष्ट हो गये। यहाँ भी शेष नगर जैसी ही स्थिति देखने को मिली। वे राजभवन के भीतर एक-एक भाग में चक्कर लगाने लगे। सारा राजभवन खुला पड़ा था। समस्त वैभव ज्यों-का-त्यों था। कहीं कोई अस्त-व्यस्तता नहीं थी। हाँ, साज-सँभाल नहीं हो पायी थी। वे सिंहासन कक्ष में पहुँचे तो पाया कि राज्यासन भी रिक्त पड़ा था। अश्वशाला और गजशाला भी भरी पड़ी थी, किन्तु ये पशु बेचारे भूखे-प्यासे खड़े थे। विचरण करते हुए वे भीतरी प्रांगण में पहुँचे। सुनसान तो यह स्थल भी था, किन्तु यहाँ आते ही चम्पकमाला सहसा भयत्रस्त होकर चीख उठी–"भैया यह क्या !"–कहते हुए उसने आनन्द को काँधे से पकड़कर पीछे की ओर खींच लिया। आनन्द इस व्यवहार से हड़बड़ा गया। चम्पक के इंगित पर उसने जो देखा वह भी सन्न रह गया।

प्रांगण के मध्य स्फटिक-निर्मित पीठिका पर एक भीमकाय व्यक्ति बैठा था। सुदृढ़ और बलिष्ठ देह दूर से भी बड़ी विकराल लगती थी। जटा-जूट-सी केशराशि, अव्यवस्थित दाढ़ी, बड़े-बड़े अंगारों से रक्तिम नेत्र, बड़े-बड़े ऊबड़-खाबड़ दाँत, भारी-सा चोला पहने यह किसी राक्षस जैसा लगता था। "कौन है आनन्द भैया–यह है कौन ? मुझे तो भय लगता है।"

आतंकित तो किसी सीमा तक आनन्द भी था, किन्तु अपनी यह दशा सप्रयास गोपनीय रखते हुए उसने चम्पक को अभय और आश्वस्त किया– विचलित न हो, बहिन ! क्यों भयभीत होती हो? धैर्य रखो। हम जैसा ही हाड़-माँस का यह व्यक्ति भी है।"

"तुम भैया इसे व्यक्ति कहते हो? मुझे तो यह साक्षात् राक्षस लग रहा है।"–कहते हुए चम्पकमाला ने उधर से अपनी दृष्टि ही घुमा ली।

"कोई राक्षस-वाक्षस नहीं, कुछ अधिक बलवान और विशाल देह का है, बस। है तो मनुष्य ही।" आनन्द ने विचारशील मुद्रा में कहा–"प्रतीत ऐसा

होता है कि इस नगर की दुर्दशा का जो भी कारण रहा हो–यह उससे जुड़ा हुआ रहा है। तभी तो एकाकी यही बच रहा है।"

"कदाचित् तुम ठीक ही कहते हो, आनन्द ! पर क्या फिर भी तुम्हें भय नहीं लगता इससे?" चम्पकमाला ने पूछ लिया।

"बाबा ने भय तो मेरा सारा ही भगा दिया है चम्पक ! उनके आश्रय ने अमोघ शक्ति प्रदान कर दी है। बाबा का आशीर्वाद हमारी रक्षा करेगा। फिर हाथी-गुरु की भी उदार कृपा का पात्र रहा हूँ मैं। भय किस बात का।" –आनन्दसेन ने निश्चिन्तता प्रकट की और आत्म-विश्वास के साथ वह उस भयावह आकृति की ओर बढ़ा। त्रस्त चम्पक ने वर्जना की किन्तु उसने पलटकर देखा भी नहीं। केवल हाथ उठाकर उसे आश्वस्त कर दिया। समीप पहुँचकर आनन्द ने उस भीमकाय से पूछा–"आप बताएँगे–आनन्दपुर वीरान क्यों हो गया?" उत्तर में वह कुछ बोला नहीं, किन्तु उसे जैसे इसी क्षण में पहली बार यह ज्ञात हुआ कि उसके अतिरिक्त कोई अन्य जीवित प्राणी भी आनन्दनगर में है। उसने पलकें उठाकर आनन्द को देखा। क्रोध के मारे उसके नेत्र और भी अधिक रतनारे हो उठे। उसके प्रचण्ड अट्टहास किया और दिशाएँ ही मानो काँप उठीं। उसके उठने के उपक्रम से ही ऐसा दिखायी दिया–मानो कोई पर्वत-शृंग ही हिल उठा हो। घोर रव करते हुए उसने कहा– तो तू अभी जीवित है···· एं····· ! और अपने कोरे हाथ का प्रचण्ड प्रहार किया। इस अनायास प्रहार के लिए आनन्द तत्पर न था। इस आघात से वह भूमि पर गिर पड़ा और अचेत हो गया। दूर खड़ी चम्पकमाला सहसा विकल हो उठी। उसने देखा वह क्रूरता की प्रतिमूर्ति-सा अपने स्थान से हटकर धीरे-धीरे, सधे चरणों से एक ओर को जा रहा है। अवसर की अनुकूलता ने उसे प्रेरित किया। चम्पकमाला निःशब्द आगे बढ़ी। आनन्द के अचेत तन को उसने अपने हाथ का कोमल स्पर्श देते हुए पूज्य बाबा का स्मरण किया और नवकार महामंत्र का जाप किया। कुछ ही पलों में आनन्द सचेत होकर उठ बैठा। आँखें मलते हुए उसने कहा–"बहुत शक्तिशाली आघात था, यह दुष्ट वास्तव में बड़ा क्रूर है। गया कहाँ वह?" उत्तर में चम्पकमाला ने एक ओर इंगित कर दिया। उधर ही दूर वह दुष्ट, इस ओर पीठ किये खड़ा था। चम्पक और आनन्द ने पूज्य गुरुदेव बाबा का स्मरण कर वन्दना की और नवकार महामंत्र का जाप किया।

अब वे दोनों ही उस ओर चल पड़े, जिस ओर वह विकराल देहधारी खड़ा था। पीछे से ही कुछ दूरी से आनन्द ने स्नेह और आदरयुक्त वाणी में

पुकारा–"मामा ! ओ मामा मेरे !! यह तुमने क्या परिणाम दिया है मुझे। मैं तो तुमको अपना मामा कहता और मानता हूँ और तुमने प्रेम के स्थान पर ऐसा व्यवहार किया, मेरे साथ !"

"लोग मुझे खेचर कहते हैं–यही नाम बच रह गया है मेरा अब।" इस ओर मुड़ते हुए उसने प्रसन्नता के साथ कहा–"तुमने मुझे मामा कहा, हें, मामा कहा। तुमने कहा तो मैं तुम्हारा मामा हो गया, हो गया मामा तुम्हारा ! मुझे ग्लानि हो रही है कि मैंने तुम पर प्रहार कर दिया। सच मुझे बड़ा दुःख है, बेटे ! यदि कर सको तो मुझे क्षमा कर दो।" खेचर ने अनुनयपूर्वक कहा। आनन्द को बाबा का कथन सत्य लगने लगा कि क्रोध के उत्तर में क्रोध नहीं करो। क्रोधानुक्रोध का अनन्त क्रम सर्वनाशी ही होगा। विनयपूर्ण व्यवहार और प्रेम से मूल क्रोध को ही उन्मूलित किया जा सकता है। यही विवेकीजन का मार्ग है। सिद्धान्त को उसने व्यवहार की कसौटी पर खरा पाया।

"वत्स मेरे, आज मुझे प्रथम बार ही इतना स्नेह मिला है। सभी ने मुझसे घृणा की है।" खेचर ने पुनः कथन आरम्भ किया–किसी ने मुझसे प्रेम नहीं किया। इसी व्यवहार ने मुझे क्रूर बना दिया। मैंने उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। मेरी निन्दा और अपमान किया जाता और मेरा उत्पात बढ़ता गया। इतना आतंक हो गया मेरा कि सभी नागरिक नगर छोड़कर भाग गये। राजा ने मेरी भर्त्सना की उसे भी मैंने ऊपर भेज दिया। अब इस सारे आनन्दनगर का स्वामी मैं ही हूँ। अब मैं वचन देता हूँ वत्स, मैं सदा शान्त रहूँगा। तुमने अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से मेरा कायाकल्प ही कर दिया है। नाम क्या है तुम्हारा, वत्स? और तुम्हारे साथ यह–यह कौन है?

"मामा ! मेरा नाम आनन्द है–आनन्दसेन। और यह मेरी बहिन है–चम्पक–चम्पकमाला।"–शिष्टता और विनयपूर्वक आनन्द ने उत्तर दिया और कहा–"मामा ! तुम्हारी कहानी बड़ी करुणाजनक है। सच है व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्ति तो प्रतिक्रिया मात्र है। जैसा उसको व्यवहार मिलेगा–वह वैसा ही बन जायेगा। इन दोनों व्यवहारों के मध्य ध्वनि-प्रतिध्वनि जैसा सम्बन्ध होता है। तुम्हारा व्यवहार वास्तव में चाहे क्रूरतापूर्ण ही क्यों न रहा हो–उसका कारण अन्यजन हैं, यह समाज है।"

"जीते रहो, वत्स ! दोनों चिरंजीवी हो। आनन्द बेटे ! तुमने मेरा उद्धार कर दिया, मैं देवत्व चाहे ग्रहण न भी कर सकूँ पर मेरा असुरत्व तो तुमने छुड़ा ही दिया है। तुम्हारा यह उपकार मैं कभी भूल न सकूँगा।" खेचर ने संतोष के साथ कहा।

"मामा ! मैं तो मानता हूँ–प्रेम में बड़ी शक्ति है। यह प्रेम हृदय-परिवर्तन कर दुर्जन को साधु बना सकता है। अन्यजनों से सद्व्यवहार प्राप्त करने को इससे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं।" आनन्द ने कहा–"यह कोरा सिद्धान्त नहीं, आज तो मैंने इसे घटित होते भी देख लिया है।"

"मैं तो सदा प्रेम का प्यासा रहा हूँ, आनन्द ! आज तुमने मुझे तृप्त किया है।" खेचर ने कहा–"आनन्दपुर का राज्यासन रिक्त पड़ा है। अभी मैं ही सारे राज्य का स्वामी हूँ। मेरी कामना है तुम आनन्दपुर के शासक बनो। फिर तो प्रजा प्रेम और मानवता का पाठ भली प्रकार से सीख लेगी। तुम राजा होकर सबका हित साध सकोगे–मुझे विश्वास है।"

"किन्तु, मामा ! आनन्द भैया शासन करेंगे किस पर? नगर तो सूना पड़ा है।"

"यह चिन्ता न करो तुम लोग।"–खेचर ने कहा। "मेरे भय से ही नगर उजड़ा था, मेरा प्रेम ही इसे फिर से बसा देगा। चलो आनन्द, तुम मेरे साथ चलो।" खेचर आग्रहपूर्वक आनन्द और चम्पकमाला को सिंहासन कक्ष में ले आया। आनन्द को उसने सिंहासनारूढ़ किया और राजमुकुट धारण करा दिया तथा उल्लास के साथ जय-जयकार की–"आनन्दपुर-नरेश–आनन्दसेन की जय !" चम्पकमाला ने जय-जयकार में सहयोग किया। शून्य कक्ष में जय-ध्वनि प्रतिध्वनित होती रही।

खेचर स्वयं उन सभी स्थानों पर गया जहाँ आनन्दनगर के निवासी जाकर आश्रय ले चुके थे। जनसाधारण के पास गया, राज्य कर्मचारियों के पास गया, राज-सभासदों के पास गया, मंत्रियों के पास गया। सभी से उसने प्रार्थना की कि वे सब नगर में लौट आएँ। उसने कहा–

"मेरा विश्वास करो भाइयो-बहिनो ! मैं अब परिवर्तित हो गया हूँ। अब मैं सच्ची मनुष्यता से परिपूर्ण हो गया हूँ। मेरा उत्पात, मेरी हिंसा–सब-कुछ छूट गया है। मेरा काया पलट करने वाला एक सज्जन नवयुवक आनन्द है। उसने मेरा राक्षसत्व अपने प्रेम-मंत्र से छुड़ा दिया। वह स्वयं तो प्रेम का देवता ही है, भाइयो ! वही अब आनन्दपुर का नया शासक हो गया है। उसके शासन में तुम सभी सुखी रहोगे। लौट आओ भाइयो, अब मेरे अपराधों को भूल जाओ। क्षमा कर दो मुझे और अपने आवासों को पुनः आबाद करो। नगर को उसकी सजीवता लौटा दो मेरे भाइयो। उसको वैसा ही शोभाशाली बना दो, वैसा ही सक्रिय कर दो। महाराज आनन्दसेन के राज्य में तुम्हें कोई कष्ट न होगा।"

खेचर के हृदय से निकली पुकार का लोगों पर प्रभाव हुआ। उन्हें आश्चर्य हो रहा था–खेचर क्या था और क्या हो गया। वास्तव में वह तो राक्षस से मनुष्य हो गया। ऐसा अद्‌भुत परिवर्तन करने में जो सफल हुए हैं; ऐसे आनन्दसेन हमारे नरेश हों–यह तो सौभाग्य की ही बात है। समूह-के-समूह प्रजाजन नगर में लौटने लगे। क्रमशः समस्त नगर पुनः बस गया। हाट-व्यवसाय आरम्भ हो गया। सभासद-सामन्तों से राजसभा पुनः सज्जित हो गयी, मंत्री-आमात्यगण ने अपने-अपने दायित्व ग्रहण कर लिए; सैनिक-कर्मचारी और अधिकारीगण पुनः पद-स्थापित हुए। महाराज आनन्दसेन का शासन कार्य सुचारू रूप से चल निकला। आनन्दनगर राज्य कुछ ही समय में अपने पूर्व रूप में आ गया।

विवेक और न्यायपूर्वक नरेश आनन्दसेन राज-काज करने लगे। चम्पक और आनन्दसेन का जीवन सुखमय हो गया। यह सब कर्म-लीला ही है। आनन्दसेन के अशुभ कर्मों का दुष्प्रभाव भी बड़ा प्रबल रहा। राजकुल में जन्म लेकर भी शैशव से ही जीवन कष्टित रहा। अंधकूप में गिरा, माता के स्नेह से वंचित रहा। शुभ कर्मों की प्रबलता बनी तो बाबा ब्रह्मानन्द का वात्सल्यपूर्ण आश्रय मिला; किन्तु वह भी नाटकीय ढंग से छिन गया और आज कर्मों के प्रतिफलस्वरूप आनन्दसेन नरेश रूप में प्रतिष्ठित हुए। कर्म-फल तो अवश्यंभावी हैं। विवेकशील जन शुद्ध भावना से उन फलों को भोगते हैं। इससे नवीन अशुभ कर्म-बंध नहीं बनते, अपितु पूर्व-कृत अशुभ कर्मों का भी क्षय संभव हो जाता है। सुख अथवा दुःख को सहज भाव से सहन करना ही जीवन का सन्मार्ग है–आनन्दसेन इस रहस्य को हृदयंगम कर चुके थे। वर्तमान सत्ताभोग भी वे ऐसी ही सहज और शुद्ध भावना के साथ करने लगे थे।

आनन्दनगर को पुनः बसाने के प्रयोजन से जिस दिन खेचर नगर से गया था, उसके पश्चात् लौटकर वह नगर में नहीं आया। उसे फिर किसी ने देखा भी नहीं। सामान्य चर्चा यही रही कि वह आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गया है। एकान्तसेवी होकर खेचर घने वनों में कहीं लुप्त हो गया।

● ●

"जय हो देव ! आज्ञा का दृढ़तापूर्वक पालन किया और कराया जा रहा है। आनन्दनगर में आखेट पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा हुआ है।" प्रधानामात्य ने करबद्ध निवेदन किया।

"हूँ···· हमें प्रसन्नता है प्रधान जी ! हमारा राज्य आदर्श मार्ग पर बढ़ता जा रहा है, किन्तु···· फिर यह सूचना कैसी?" महाराज आनन्दसेन ने जिज्ञासा के साथ पूछा।

"क्या हुआ, महाराज ! कैसी सूचना?" प्रधानामात्य ने तनिक चिन्तित होकर जानना चाहा।

"यही कि सीमावर्ती वन में कहीं किसी पशु का रक्त फैला हुआ मिला और····।" महाराज आनन्दसेन तनिक चिन्तित-से, मौन हो गये।

"और?···· और क्या महाराज ! आप मौन क्यों हो गये? क्या कोई विशेष चिन्ता का प्रसंग है?" प्रधानामात्य ने स्वयं भी चिन्तित मुद्रा में पूछा।

"चिन्ता का प्रसंग तो है ही।"–नरेश ने अपने कथन पर बल देते हुए बात को आगे बढ़ाया–"सुना है वहाँ आस-पास ही मानव-पदचिन्ह भी दिखाई दिये हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? यह तो स्पष्ट ही है कि यह किसी हिंसक पशु का कार्य नहीं हो सकता।" महाराज दृष्टि गड़ाकर प्रधानामात्य की ओर देखने लगे।

"आश्चर्य है महाराज !" प्रधानामात्य के नेत्र तनिक विस्फारित हो गये। वे कुछ सोचकर कहने लगे–"राजन्, आपकी धारणा सर्वथा उचित है कि अवश्य ही यह किसी मनुष्य का ही दुष्कृत्य है···· किन्तु···· मुझे अब भी पूर्ण विश्वास है–इसमें हमारे किसी नागरिक के लिप्त होने की आशंका नहीं की जा सकती। हाँ, एक सम्भावना अवश्य है, महाराज !"

"वह क्या?" महाराज आनन्दसेन सहसा उत्सुक हो उठे।

"वह यह कि हमारे पड़ोसी राज्य चम्पानगरी में भी वहाँ की राजाज्ञा से आखेट पर प्रतिबन्ध है। वहाँ के नागरिक लुक-छिपकर हमारी सीमा में घुस

आते हैं, यहाँ वे आखेट करते हैं और लपककर अपनी सीमा में भाग जाते हैं। उन पर नियंत्रण कठिन होता जा रहा है।''–प्रधानामात्य ने रहस्योद्घाटन-सा किया।

''प्रधानामात्य जी ! यदि ऐसा है, तो यह एक गम्भीर समस्या है।'' नरेन्द्र आनन्दसेन ने निर्णायक मुद्रा में कहा–''इसकी पूर्ण व्यवस्था ही करनी होगी। सीमाओं पर सतर्कता तीव्र कर दी जाय। आखेटक चाहे आनन्दनगर का हो, अथवा विदेशी हो–हिंसा तो हमारे राज्य में होती है। क्या इससे हमारी अहिंसा नीति की हानि नहीं होती?''

''होती है महाराज ! अवश्य होती है।'' अनुमोदन के स्वर में प्रधानामात्य ने कहा–''और हमारा प्रशासन-तंत्र इस ओर से अनभिज्ञ भी नहीं है। हमने चौकसी बढ़ा दी है। स्वयं वन-मंत्री भी वनों की देखरेख के लिए जाते हैं···।''

''नहीं···· नहीं···· इतना ही पर्याप्त नहीं होगा।'' अधीर से महाराज कथन-मध्य ही बोल पड़े।–''आदेश प्रसारित कर दिया जाय कि यदि कोई विदेशी आखेटक इस प्रकार पकड़ा जाय तो उसे हमारे समक्ष उपस्थित किया जाय। हम उसकी हिंसा-प्रवृत्ति छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे।''

''जैसी आज्ञा श्रीमानेश्वर !''–कहते हुए प्रधानामात्य ने नमनपूर्वक प्रणाम किया और तीन चरण पीछे की ओर हटकर द्वार की ओर मुड़ गये।

प्रधानामात्य तो चले गये, एक अन्य सामन्त ने नम्रतापूर्वक कहा–''मान्यवर की यह नीति तो अनूठी ही है। आज से पूर्व किसी भी नरेश ने इस प्रकार अपराध-निग्रह नहीं किया होगा। अपराधी के लिए दण्ड का विधान तो प्रत्येक राज्य में होता है, किन्तु उसकी अपराध-वृत्ति को छुड़ाने का आपका प्रयास मौलिक ही है, राजन् !''

''सत्य ही कहा गया है श्रीमानेश्वर !'' न्याय-मंत्री ने टिप्पणी की–''आपश्री के इन्हीं प्रयत्नों का सुपरिणाम यह भी रहा है कि उन नागरिकों को भी अपराध की अमानवीयता की समझ हो जाती है, जो स्वयं अपराधी नहीं हैं। अपराधियों का हृदय-परिवर्तन तो हो ही जाता है, समाज में व्यापक स्तर पर अपराध के प्रति निन्दा और त्याग का भाव जाग्रत हो जाता है। सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, श्रीमन् !''

''सत्युत् है ! न्याय-मंत्री जी, किन्तु इसका प्रभाव अभी पूर्ण रूप में हो नहीं पा रहा है।'' महाराज आनन्दसेन ने विचारशीलता के साथ कहा।

उत्तर में न्याय-मंत्री ने निवेदन किया–"आज नहीं तो कल–प्रभाव भी होगा ही श्रीमन् ! अपराध को अमानवीय मानते हुए जनसामान्य उसके निन्दक होते जा रहे हैं, मनुष्यता का धर्म अपनाते हुए आन्तरिक प्रेरणा से वे स्वतः ही अपराध से दूर होते चले जा रहे हैं। राज्य में इतनी न्यून अपराध संख्या पूर्व में कभी नहीं रही, महाराज ! नये-नये अपराधियों की बढ़ोत्तरी तो अत्यल्प हो गयी है।

"कदाचित् आप सत्य ही कहते हैं, न्यायामात्य जी ! किन्तु अभी राज्य को इस ओर ध्यान देते ही रहना चाहिए। आदर्श राज्य में न्यायालय सूने रहते हैं, कारागार लगभग रिक्त रहते हैं। नियमों का पालन करवाना नहीं पड़ता, वह तो जन-जीवन का अभिन्न अंग हो जाता है। हमारा राज्य जब तक यह स्वरूप ग्रहण नहीं कर लेता–हमें सजग और सक्रिय रहना होगा।" महाराज आनन्दसेन ने अपना स्वप्न शब्दों में चित्रित कर दिया।

महाराज आनन्दसेन शासक-पद को वैभव-विलास के उपभोग का अवसर अथवा स्वेच्छाचारिता, सर्वोच्चता का गौरव मात्र नहीं मानते थे। उनके मत में शासक तो सर्वसाधारण की सुख-शान्ति और विकास के महायज्ञ का एक पुरोधा मात्र है। वह जनता के सेवकों का नेतृत्व करने वाला एक सजग प्रहरी है जो जनाधिकारों की रक्षा करता है। राजा के लिए यदि कोई ऐसा है जिसकी उसे चिन्ता नहीं करनी होती, तो वह–वह स्वयं है। आनन्दनगर-नरेश जनहित के लिए तो बहुत-कुछ करने को तत्पर रहते ही थे, व्यक्ति और समाज के आदर्श रूप के लिए सब-कुछ करने को उत्सुक रहते थे। वे चाहते थे कि उनके राज्य का प्रत्येक नागरिक सच्चा, आदर्श मनुष्य हो। अन्य स्वरूप तो इससे स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे।

आनन्दनगर की जनता अनुभव करती कि महाराज ने तो राज्य की काया ही पलट दी है। जनवत्सल राजा शासन-व्यवस्थाओं के सुचारु संचालन में तनिक भी शिथिलता नहीं आने देते। वस्तुतः आनन्दसेन पर बाबा ब्रह्मानन्द और काननबाला का प्रभाव था। वे स्वयं तो धर्माचारी थे ही, अपनी प्रजा को भी धर्माचरण की प्रबल प्रेरणा देते थे। अपनी न्यायशीलता के लिए तो वे असीम लोकप्रिय हो गये थे। उनकी मान्यता थी कि किसी भी प्रसंग में अन्याय होना–जनता में पारस्परिक वैमनस्य और कटुता का मूल होता है। यह असन्तोष जनता को अशान्त बनाता है और अशान्त समाज किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं कर सकता, जन-जीवन नरक बनकर रह जाता है। महाराज ने न्याय में न कभी अपना-पराया देखा, न कभी शिथिलता बरती। उनकी

जनता सदा संतुष्ट रहती, परस्पर क्लेश से मुक्त रहती। सर्वत्र मातृत्व-भाव और सौहार्द्र व्याप्त था।

× × ×

चम्पानगरी-अधिपति महाराज चन्द्रसेन समता-भावना की आराधना से चिन्ता-मुक्त तो हो गये थे, किन्तु चिन्तन मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है—इससे मुक्त वह कभी रह नहीं सकता। यही चिन्तन उसका मानस बनाता है और भावी आचरण का मार्ग भी निर्मित करता है। महाराज भी कभी-कभी सोचते-सोचते बहुत गहरे उतर जाते और अविचल-से बैठे रह जाते।

महाराज सोचते कर्मों की प्रधानता से ही मानव-जीवन नियंत्रित रहता है। हमारा आज का जीवन अतीत के कर्मों का ही परिणाम है। कल के कर्म कारण-स्वरूप हैं तो आज की सुखद-दुःखद परिस्थितियाँ उनकी कार्य-स्वरूप हैं। आज की इन परिस्थितियों में पड़कर हम जो कर्म करते हैं वे पुनः भावी जीवन के लिए कारण बनते हैं। भाग्य यदि कुछ है तो यह कर्म-शृंखला ही है। अपने भाग्य का निर्माता स्वयं मनुष्य ही है। वे अपने जीवन की परिस्थितियों का ही विवेचन करते तो पाते कि उनके पूर्व-कर्मों की अशुभता अभी समाप्त नहीं हुई। निःसन्तानता भी उसी का दुष्परिणाम है। अन्यथा तेला की तपस्या भी सफल हुई, देवता की आशिष पाकर भी असफल रह जाना साधारण बात नहीं थी। उन्होंने तो तप भी किया, प्रसन्नदेव की आशिष भी उन्हें मिली, पराक्रम और उद्यम में भी वे पीछे नहीं रहे। विद्याधर-कन्या विश्व-सुन्दरी जैसी सर्वगुण-सम्पन्ना रानी उनके जीवन में आयी, उसे मातृत्व का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ, उसने सन्ततियों को जन्म दिया—किन्तु कैसी सन्ततियाँ। यह आश्चर्यजनक घटना ही है कि कोई मानवी श्वान-शावकों की जननी बने। यह कर्मों का फल नहीं, तो और क्या कहा जाय इसे ! देवाशिष भी अकारथ हो गयी? कर्म-प्रबलता को क्या कहा जाय। अब आवश्यकता है कि इस भव के कर्मों में अशुद्धता न लाई जाय। इस भव के शुभ कर्मों का फल भी तो कभी-कभी इस रूप में घटित हो जाता है कि पूर्व अशुभ कर्मों का उनसे परिष्कार होने लगे और उनके दुःखात्मक परिणामों की कठोरता कम हो जाय, अथवा वे सर्वथा स्थगित ही हो जायें।

महाराज चिन्तन की ऐसी घड़ियों में शुभ कर्मों का संकल्प करते और अपनी समग्र चेतना और क्षमता से उसके निर्वाह की चेष्टा भी करते। इन्हीं संकल्पों के परिणामस्वरूप महाराज का आचरण अकलुष, निर्मल, उज्ज्वल होता जा रहा था। उन्होंने अपनी शासन-नीति में भी परिष्कार किया। उनका

राज्य पूर्णतः अहिंसक नीति के अधीन हो गया। इस नीति ने स्वतः ही अपराध-वृत्ति का निग्रह पर्याप्त सीमा तक किया। 'यथा राजा तथा प्रजा'– जनता अपने नरेश की अनुसारिणी हो गयी। राजा चन्द्रसेन ने प्राणातिपात का विधिसम्मत निषेध कर दिया था। आखेट कर्म को प्रतिबंधित और विधि-विरुद्ध घोषित कर दिया गया था। राजा स्वयं आखेट नहीं करते थे– परिणामतः जनसामान्य भी इसी आचरण में ढलने लगे। हाँ, सभी का मानस एक जैसा उन्नत नहीं होता। सभी को सन्मार्ग अपनाने की प्रेरणा भी समान रूप से प्रभावित नहीं कर पाती। इक्की-दुक्की घटनाएँ ऐसी, सामने आ जाती थीं कि अमुक स्थल पर आखेट हुआ। कभी अपराधी आखेटक पकड़ लिया जाता और नरेश उसके हृदय को हिंसा की प्रवृत्ति से मोड़ने का प्रयास करते। कभी आखेटक का अता-पता ही नहीं लग पाता। दोनों ही स्थितियों में महाराज को आन्तरिक वेदना होती। उनका अहिंसक मन तड़प उठता। उन्हें लगता जैसे बाण किसी निरीह पशु के तन के साथ-साथ उनके मन में भी आ लगा हो। वे पीड़ा से कराह उठते। किन्तु यह परिताप उन्हें निष्क्रिय नहीं बना पाता था। वे दुगुने वेग से हिंसा-निरोध के पावन कर्म में जुट जाते थे। उनके कार्य की पद्धति ही अनूठी थी। वे केवल आज्ञा देकर कर्मचारियों से उनका पालन करवाने तक ही सीमित नहीं रखते थे स्वयं को। उन कर्मचारियों का मार्गदर्शन भी करते, स्वयं भी इस उद्यम में प्रवृत्त हो जाया करते थे। वे अपने विश्वस्त अधिकारियों के साथ वनों का भ्रमण करते, हिंसक आखेटकों को पकड़ते और उनका मानसिक सुधार करते, उन्हें अहिंसा-मार्ग पर आरूढ़ करते। इन अवसरों पर भूपति चन्द्रसेन महाराज अपने राजसी स्वरूप में नहीं रहा करते थे। वे स्वयं भी आखेटक वेश ही धारण करके जाया करते थे। तभी अन्य आखेटक उन्हें अपने ही वर्ग का समझकर उन्हें विश्वसनीय मानता, आत्म-रक्षा के प्रयत्न में भागने अथवा लुप्त होने की आवश्यकता ही नहीं लगती थी उसे।

समाचार आया कि कोई आखेटक-दल उनके राज्य में उत्पात मचा रहा है। अनेक पशुओं का संहार वह कर चुका है और कल तो वह राज्य की गायों का एक दल अन्य राज्य में हाँक ले गया। महाराज चन्द्रसेन त्वरा के साथ उठ खड़े हुए और आखेटक वेश धारण कर वे निर्दिष्ट दिशा में वन की ओर चल पड़े। उनके साथ आखेटक वेश में ही दो अधिकारी भी चल पड़े। घोर वनों को पार करते महाराज निर्भीकता के साथ अग्रसर होते जा रहे थे। अश्वारूढ़ महाराज में इस समय जो साहस और पराक्रम की आभा दिखायी दे रही थी, वस्तुतः वह अहिंसा की ही कान्ति थी। अहिंसा अपने सच्चे अर्थों में

शौर्य की ही पर्याय है, हिंसा के विरुद्ध यह सशक्त जनों का एक समर्थ अभियान है। महाराज के नयनों में तो इस समय बस वही दस्युदल समाया था। उनके चित्त में एक ही लगन थी कि उन भटके हुए जनों को किसी प्रकार अहिंसा के सन्मार्ग पर लगा दिया जाय। महाराज इसी धुन में घने वन-प्रान्तर के बीहड़ में अपना रास्ता बनाते हुए बढ़े चले जा रहे थे। पीछे मुड़कर देख लेने का भी अवकाश उनके पास न था। उन्हें ज्ञात ही नहीं हो पाया कि उनके अनुयायी अधिकारी पीछे दूर कहीं छूट गये हैं और अब वे निपट एकाकी ही बढ़े जा रहे हैं। आखेटक वेश में इस वन्य वातावरण में वे वास्तव में एक आखेटक ही प्रतीत हो रहे थे। उन्हें दूर कहीं कुछ अश्वों की टापें सुनायी देने लगीं। महाराज ने एक क्षण थमकर टोह ली और स्वर की दिशा में अश्व को कुछ मोड़कर जो एड़ लगायी, तो अश्व हवा से बातें करने लगा। वह अपने स्वामी के संग पसीने से लथपथ हो रहा था, पर रुकने का नाम न लेता था। सहसा टापों की ध्वनि लुप्त हो गयी, किन्तु महाराज बढ़ते चले गये। सोचा, सम्भवतः वे लोग थम गये हैं, ऐसे में उन्हें पकड़ पाना सुगम हो जायेगा। उनके इस मनोभाव ने उनको उत्साह से भर दिया। स्वामिभक्त अश्व भी स्थिति को ताड़कर दुगुने वेग से बढ़ने लगा। उन्हें तो एक ही लगन थी कि आखेटक दस्युओं को पकड़ लेना है।

तभी तीन अश्वारोही वन-प्रहरी सामने से आते हुए दिखायी दिये। आजू-बाजू से भी दो-दो प्रहरी उनकी ओर बढ़े चले आये। वेश-भूषा से उन्हें आभास हो गया कि ये उनके राज्य के प्रहरी तो नहीं हैं और क्षण मात्र में ही उन्हें अपनी इस भूल का आभास हो गया कि वे अपनी सीमा पार कर आनन्द-नगर राज्य में अनधिकारपूर्वक प्रवेश कर गये हैं। मुड़कर देखा तो पीछे उन्हें अपने अधिकारी भी नहीं दिखायी दिये। तभी उनके कानों से एक कर्कश स्वर टकराया—"रुक जाओ, आखेटक ! रुक जाओ ! भागने का प्रयत्न नहीं करो। तुम सभी ओर से घिर गये हो।" देखा तो दायीं ओर का प्रहरी हाथ उठाकर उन्हें रोक रहा था। परिस्थितियों के आग्रह से नरेन्द्र चन्द्रसेन ने थम जाने में ही औचित्य का अनुभव किया। महाराज ने वाल्गा खींची और संकेत समझकर अश्व क्षण मात्र में थम गया। स्तम्भित अश्व अब हाँफने लगा, उसके मुख से श्वेत फेन झरने लगे। तत्काल अश्वरोही प्रहरियों ने समीप आकर महाराज चन्द्रसेन को घेर लिया। महाराज भी अविचलित बने रहे।

"आज पकड़ में आये हो तुम ···· " वरिष्ठ प्रहरी ने कहा। "कब से तुम इस निषिद्ध क्षेत्र में उत्पात मचाते रहे हो, निरीह पशुओं का रक्त बहाते रहे हो।"

"हम आखेटक नहीं हैं प्रहरी ···· हम निरीह पशुओं का आखेट नहीं करते ···· ।" महाराज का कथन भी पूर्ण न हो पाया था कि सभी प्रहरियों ने एक साथ ही अट्टहास किया–"यह महापुरुष कहता है–यह आखेटक नहीं है ···· ह: ह: ह:।" वरिष्ठ प्रहरी ने कहा–"कहता है कि यह आखेटक नहीं है तो यह वेश क्या नौटंकी के लिए धार रखा है।" फिर एक ठहाका गूँजा–"तो क्या तू अहिंसाव्रतधारी है?"

"हाँ, ···· जी ···· हाँ।" महाराज ने कहा–"तुमने सच ही समझा है प्रहरी प्रवर। हम वास्तव में अहिंसक हैं। हमने हमारे राज्य में भी ···· ।" सहसा एक सत्य उनके अधरों तक आते-आते रह गया। अभी वास्तविक परिचय देना उपयुक्त नहीं था–ऐसा उन्होंने तत्काल समझ लिया और कथन-मध्य ही वे मौन हो गये।

"हाँ, जी हाँ, अहिंसा का अवतार ही है तू तो।"–प्रहरी ने सव्यंग्य कहा। "ये तेरे हाथ में तीर-कमान भी क्या क्रीड़ा मात्र के लिए हैं रे, हैं? किन्तु तू कहते-कहते थम क्यों गया? क्या कहना चाहता था?"

"यही कि हमने हमारे राज्य में भी अहिंसक व्यवहार का ही अभ्यास किया है।" महाराज ने बड़े कौशल के साथ अपूर्व कथन की पूर्ति कर दी।

"अच्छा ! किस राज्य का नागरिक है रे, तू?" वरिष्ठ प्रहरी के प्रश्न के उत्तर में महाराज चन्द्रसेन ने कहा–"जी, हम चम्पानगरी के नागरिक हैं।" हाथ जोड़कर प्रणाम-मुद्रा में उन्होंने आगे कहा–"चम्पानगरी-नरेश महाराज चन्द्रसेन स्वयं अहिंसाव्रतधारी हैं। उन्होंने भी अपने राज्य में अहिंसक नीति का प्रचलन कर रखा है। वहाँ भी उन्होंने आखेट पर प्रतिबन्ध लगा रखा है, श्रीमान् !"

"हम जानते हैं ···· जानते हैं हम यह।" प्रहरी ने कहा–"और इसी कारण तो तुम आखेट-लोलुप लोग आनन्दनगर राज्य की सीमा में आकर आखेट-उत्पात मचाया करते हो। आज पकड़ में आया है तू।"

"बता तेरे अन्य साथी कौन-कौन हैं?" एक अन्य प्रहरी ने कड़कते हुए प्रश्न किया। आखेटक-वेशधारी महाराज चन्द्रसेन ने मौन साध लिया।

"यह यों उगलने वाला नहीं, चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता है। इसकी छाया को भी ····।" एक प्रहरी आक्रामक मुद्रा में आगे बढ़ा ही था कि विवेकशील वरिष्ठ प्रहरी ने निषेध किया–"रुक जाओ प्रहरी ! रुक जाओ। हमें आदेश है कि ऐसे आखेटक को सीधा महाराज के समक्ष प्रस्तुत कर दिया

जाय। हमें कोई कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है। इस धृष्ट का अपराध है भी इतना गम्भीर कि इसका प्रस्तुतीकरण हमें महाराज के समक्ष करना ही चाहिए।''

''सत्युत् है श्रीमन् !'' कहते हुए आगे बढ़ता प्रहरी वहीं थम गया। तभी वरिष्ठ प्रहरी ने पुनः प्रश्न किया–''अपने अपराध की गम्भीरता की बात सुनकर तू तिलमिला क्यों गया अपराधी?''

महाराज चन्द्रसेन अपने लिए व्यवहृत 'धृष्ट' शब्द को सहजतः सहन नहीं कर पाये थे। वह तिलमिलाहट थी ही इस कारण, किन्तु उसे गुह्य रखना अनिवार्य मानते हुए अपनी प्रतिक्रिया को सकारणता का बाना पहनाते हुए कहा–''हर निरपराध को तब तिलमिलाहट होती ही है, जब उस पर मिथ्या आरोप मढ़ा जाता है। मैंने कोई अपराध नहीं किया है।'' महाराज के स्वर में दृढ़ता आ गयी थी।

''प्रत्येक अपराधी ऐसा ही कहा करता है, वाचाल ! बढ़-बढ़कर बातें क्या बनाता है?'' वरिष्ठ प्रहरी ने कड़कते हुए कहा–''कोई अपना अपराध सहज ही में स्वीकार करता भी है कभी !''

''नहीं···· श्रीमन्, यह तो यहाँ चौकसी करने आया था कि कोई आखेट नहीं करे।'' एक प्रहरी ने व्यंग्य किया। मर्म को समझकर अन्य सभी प्रहरी खिलखिलाकर हँस पड़े। वरिष्ठ प्रहरी के अधरों पर भी एक क्षीण हास फैल गया। विचित्र स्थिति थी। जो सत्य था उसे मिथ्या मानकर परिहास किया जा रहा था और जो असत्य, सर्वथा असत्य था–उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा था।

वरिष्ठ प्रहरी का संकेत पाकर एक प्रहरी अपने अश्व से उतरा और आखेटक-वेशधारी महाराज चन्द्रसेन को झटके के साथ निरादरपूर्वक नीचे खींच लिया। फिर उसने उन्हें अपने अश्व पर चढ़ाकर उनके दोनों पैरों को आपस में एक रज्जू से कसकर बाँध दिया। दोनों हाथों को भी इसी प्रकार बाँधा गया तो महाराज ने दीनता के साथ निवेदन किया–''नायक जी ! यदि आप मुझे अपराधी मानते ही हैं तो मुझे आप जो दण्ड देंगे–मुझे स्वीकार है। आप ही मेरा निर्णय कर दीजिये, किन्तु मुझे अपने महाराज के समक्ष मत ले जाइये। यही मेरी भूल हो गयी कि मैं आपके राज्य में प्रविष्ट हो गया।''

''क्यों···· ? अब विचलित क्यों होता है? अपराध जब तूने किया ही नहीं तो महाराज के समक्ष चलने से कतराता क्यों है? वहीं दूध का दूध और

पानी का पानी हो जायेगा।" त्योरियाँ चढ़ाते हुए महाराज से वरिष्ठ प्रहरी ने कहा और अपना अश्व मोड़कर चल दिया। अन्य प्रहरी महाराज के अश्व को घेरकर पीछे-पीछे चल दिये। मिथ्या अपराध-बोध से भी महाराज को एक अद्‌भुत संकोच और लज्जा का अनुभव होने लगा। उनका मस्तक झुक गया था।

× × ×

आनन्दनगर की राजसभा में उस समय क्षणिक कोलाहल मच गया, जब शृंखलाओं में जकड़ा हुआ बन्दी अपराधी उपस्थित किया गया। आखेट प्रतिबन्ध को भंग करने वाले इस अपराधी की एक झलक पा लेने को उत्सुक सभासद तात्कालिक रूप से सारी मर्यादा और अनुशासन को विस्मृत कर चुके थे। अस्पष्ट कथनों का मिश्रण एक आशयहीन रव बनकर रह गया था। इसी समय राज्यासन के समीप के विशेष द्वार से महाराज आनन्दसेन ने सभा-भवन में प्रवेश किया। प्रतिहारी की प्रशंसायुक्त घोषणा सुनकर ही सभी, मूक-मौन हो गये। राजन् किसी भी क्षण राज्यसभा में प्रवेश कर सकते हैं–यह विदित हो जाने पर सभी अपने-अपने स्थानों पर मूक-मौन खड़े रह गये। महाराज ने हाथ उठाकर अपने सभासदों का अभिवादन स्वीकार किया जो उनकी जय-जयकार कर रहे थे। आनन्दसेन का ध्यान बन्दी अपराधी पर जमा हुआ था जो नतमस्तक, अचंचल खड़ा था। दो प्रहरी लोह शृंखलाओं को थामे खड़े थे। कुछ दूर, अलग उनका नायक खड़ा था। महाराज आनन्दसेन कुछ अनुमान न लगा पाए, पूछा–"कौन हैं ये? इन्हें यहाँ क्यों लाया गया है?"

"महाराज की जय हो !"–नायक ने उत्तर में कहा–"यह घोर अपराधी है, इसने आनन्दनगर राज्य की विधि और नीति को तोड़ा है। इसे कठोरतम दण्ड मिलना ही चाहिये। इसने···· ।"

"सावधान ! नायक" महाराज ने उत्तेजित होते हुए कहा, "तुम्हें इनके लिए सम्मानजनक भाषा का प्रयोग करना चाहिए।"

"किन्तु महाराज यह अपराधी है। अपराधी के लिए इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त होती आ रही है। यही राजनियम है। यह सम्मान का पात्र नहीं···· ।" नायक का कथन पूर्ण भी नहीं हो पाया था कि महाराज ने हस्तक्षेप करते हुए कहा–"सम्मान का सबसे पहला आधार आयु होती है नायक। ये, जिन्हें तुम पकड़कर लाए हो मेरे लिए भी पिता के समान हैं। फिर इनके विरुद्ध अभी कोई अपराध सिद्ध भी नहीं हुआ, तुम इन्हें अपराधी क्यों कहते हो, कैसे कह सकते हो, हाँ?"

नायक लज्जित होकर आगे की ओर हाथ बाँधे, सिर झुकाए मौन खड़ा रह गया। एक क्षण के विराम के पश्चात् स्वयं महाराज ने ही प्रश्न किया–"क्या अपराध है इनका? हमारे सामने क्यों प्रेषित किया गया है इन्हें?"

गला साफ करते और थूक गटकते हुए नायक ने अब अतिशय नम्रता के साथ निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर का ही आदेश था कि आखेट के अपराध में पकड़ा गया आरोपी स्वयं आपके समक्ष प्रस्तुत किया जाय। आदेश की अनुपालना में···· ।"

"अच्छा-अच्छा, नायक ! तो तुम्हें इन पर आखेटक होने का सन्देह है?" महाराज ने अपने प्रश्न पर बल देते हुए पूछा और अपलक दृष्टि से वे तथाकथित अपराधी की ओर ताकते रह गये।

अबकी बार सतेज स्वर में नायक ने अपने पक्ष को सबल बनाया। बोला–"जी, श्रीमान् ! इनकी वेश-भूषा से ही ज्ञात होता है कि ये आखेटक हैं। विशेष बात यह है कि ये परदेसी हैं। चम्पानगरी के निवासी हैं ये, और वहाँ आखेट पर प्रतिबन्ध होने से···· ।" नायक का तथ्य-प्रेषण फिर अपूर्ण रह गया। महाराज ने कहा–"ठीक किया, नायक ! तुमने ठीक ही किया कि इन्हें हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया। अब तुम जा सकते हो।" यह कहकर महाराज ने संकेत किया और बन्दी को राजसभा में मुक्त छोड़कर नायक व अन्य प्रहरीजन नतमस्तक हो, प्रणाम कर चले गये। महाराज ने तब बिना किसी सम्बोधन के कहा–"आखेट चाहे परदेसी द्वारा ही क्यों न किया जाय; यदि वह हमारी धरती पर होता है तो हमारा राज्य–यह आनन्दनगर अहिंसक राज्य कैसे कहा जा सकेगा।" महाराज ने यह कहते हुए कुछेक पल चिन्तन की मुद्रा में मौन रहकर कहा–"हम शारीरिक दण्ड के पक्ष में नहीं हैं। हम इनका हृदय ही हिंसा से मोड़ देने का प्रयास करेंगे। एकान्तवार्ता अपेक्षित है। सभा स्थगित की जाती है।" तत्काल प्रणामपूर्वक समस्त सभासद विदा हो गये। विशाल सभाकक्ष रिक्त, शान्त और गम्भीर हो उठा। महाराज के मन में रह-रहकर एक ही विचार आने लगा–इन सज्जन से पूर्व में भी कहीं भेंट हुई है। उन्होंने अपनी मेधा को केन्द्रित कर अपनी स्मृति को प्रबल बनाया, कुछ ही पलों में उन्हें कुछ ऐसा आभास हुआ, जैसे दस-बारह वर्ष पूर्व चम्पानगरी के वसन्तोत्सव में श्रेष्ठ मल्ल के रूप में उन्हें सम्मानित करने वाले महाराज चन्द्रसेन और इन तथाकथित आखेटक में कहीं कोई गहरा साम्य है। आरोपी रूप में ये अवश्य ही इस समय हमारे समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु इनके हाव-भावों से, मुख-मुद्रा से ये आखेटक प्रतीत नहीं होते। कैसी सौम्य और

उदात्ततापूर्ण तो मुखाकृति है। ये तो कोई कुलीन, उच्चवंशोत्पन्न क्षत्रिय लगते हैं। अधिक समय तक मौन रहना उपयुक्त न मानते हुए उन्होंने तत्परता के साथ प्रश्न किया–"महाभाग, आप वास्तव में कौन हैं?" अपनी बात को स्पष्ट करते हुए नृपति कहने लगे–"यह सत्य है कि मेरे राज्य कर्मचारियों ने आपको आरोपित व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु मुझे लगता है आपका यह आखेटक रूप भी एक छद्मवेश है। हिंसा आपसे सम्भव ही नहीं, आप तो करुणावतार हैं। अपना परिचय दीजिये !" महाराज की मुखाकृति पर कोमलता प्रसारित हो गयी।

अब आखेटक-वेशधारी चम्पानगरी-नरेश महाराज चन्द्रसेन में आत्मभाव जाग्रत हो गया। काल के इस क्रूर कुचक्र का हताशजनक प्रभाव भी कम होने लगा था कि वे अनायास ही कैसी मिथ्या परिस्थितियों के जाल में ग्रस्त हो गये हैं। शासक का ऐसा सद्व्यवहार पाकर उनके मन में एक उत्साह जाग्रत हो गया। वे बोले–"राजन् ! आपके कर्मचारियों ने तो हमें हिंसक आखेटक मान लिया है, किन्तु ···· ।" सहसा कथन मध्य ही उनके अधरों पर एक मधुर स्मिति छा गयी, कहने लगे–"किन्तु आपने हमें अपने पिता के तुल्य बताकर हमारा मान ही बढ़ा दिया है। आपकी सदाशयता और उच्चाशयता से हम तो गद्गद् हो गये। काश ! हमें भी आप जैसा ही पुत्र प्राप्त होता–यह भव तो सफल हो जाता।"

वार्त्ता-शैली से अत्यन्त प्रभावित आनन्दसेन महाराज अपने आसन पर स्थिर नहीं रह सके। उनके मन की उद्विग्नता ने तन को भी चंचल बना दिया। वे उठे और भव्यता के साथ, धीमे-धीमे चरणों से आगे बढ़ते हुए नृपति चन्द्रसेन के समक्ष आ खड़े हुए। उन्हें अब यह समझ लेने में कोई विलम्ब नहीं हुआ कि ये सज्जन निश्चय ही साधारण व्यक्ति तो नहीं हैं। उन्होंने सौजन्यपूर्वक कहा–"महाभाग ! आप कौन हैं–इस विषय में मेरी जिज्ञासा बड़ी तीव्र है, किन्तु पहले आप हमारे समीप का आसन ग्रहण कीजिये, चलिये ···· अब संकोच न कीजिये।"

महाराज चन्द्रसेन ने यह औदार्यपूर्ण मनुहार पाकर कहा–"राजन् ! आप नरेश हैं, इस राज्य के अधिपति हैं। मैं, एक आरोपित ···· भला आपके समीप ···· ।"

"अब आइये भी ···· ।" महाराज आनन्दसेन ने अनुरोध किया और उनकी कटि को स्पर्श करते हुए आग्रहपूर्ण मुद्रा में ताकने लगे। अब महाराजा चन्द्रसेन भला क्या कहते। स्वीकृतिसूचक मस्तक हिलाते हुए वे आनन्द-

विभोर हो आगे बढ़े। दोनों ने आसन ग्रहण किया। महाराज चन्द्रसेन ने कहा–"नरेश ! आप शासक होकर भी सबसे पहले तो सच्चे मनुष्य हैं–इस अनुभूति से ही मेरा मन भाव-विभोर हो उठा है। आपसे मान पाकर तो हम .... ।"

"अब हमें लज्जित न करें, श्रीमान् !" महाराज ने ससंकोच कहा–"यदि आप अनुमति प्रदान करें तो हम तुम्हारे मन की भावना प्रकट करें।" यह कहते हुए महाराज आनन्दसेन ने बिना उत्तर की अपेक्षा किये ही बात को अग्रसर किया–"हम यह नहीं जानते कि आप हैं कौन, किन्तु हमारा मन कहता है कि आपका व्यवहार, आपका व्यक्तित्व, आपकी महाशयता–सर्व सामान्यजनोचित तो नहीं है। आप तो राजकुल से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। आप कहीं चम्पानगरी-नरेश तो नहीं हैं? आपने यह वेश क्यों धारण कर लिया है?"

"यथार्थ है वत्स", महाराज चन्द्रसेन ने हाथ उठाकर प्रसन्नतापूर्वक कहा–"आपका अनुमान सत्य ही है। हम चन्द्रसेन हैं–चम्पानगरी के स्वामी। आपको आश्चर्य होता होगा कि हमने यह वेश क्यों धारण कर लिया। वास्तव में हमने भी अपने राज्य में आखेट का निषेध कर रखा है। आश्चर्य है कि आपके-हमारे विचारों और दृष्टिकोणों में कितनी प्रगाढ़ समानता है। हमारी ही भाँति आप भी अहिंसा नीति के हैं, आप भी अपराधी में हृदय-परिवर्तन द्वारा सुधार करना चाहते हैं। इस भव का नहीं तो किसी भव में हम दोनों का एक ही वंश अवश्य रहा होगा।" कुछ विराम लेकर उन्होंने कहा–"राजन् ! आप इसी आश्चर्य में हैं न कि फिर हम आखेटक से क्यों प्रतीत हो रहे हैं।"

"जी हाँ, यही जिज्ञासा बड़ी प्रबल हो गयी है, महाराज !" आनन्दसेन महाराज ने कहा–"कृपया इसके रहस्य को तो प्रकट कीजिये।" नरेश चन्द्रसेन ने तब सारा वृत्तान्त प्रस्तुत कर दिया। अन्त में उन्होंने कहा–"इसी कारण हमारे मन में यह कामना जागी थी कि आप इतने उदार, करुणाशील, ऐसे अहिंसाव्रतधारी हैं, क्या ही अच्छा होता कि हमें आप जैसा पुत्र प्राप्त होता। किन्तु यह भी एक कर्म-फल का योग ही है कि हम निःसन्तान हैं। होने को हमें भी दो-दो सन्ततियों का .... ।" महाराज ने शीतल स्वाँस छोड़कर मौन रह जाना ही उपयुक्त समझा।

संवेदनशील महाराज आनन्दसेन का भी हृदय भर आया। उनका मनोभाव भी इस समय महाराज चन्द्रसेन के मनोभाव के साथ एकाकार होने लगा था। "आप महाराज ! हमें अपना पुत्र ही मानिये .... आप हमारे लिए पिता-तुल्य ही हैं।"–यह कहते हुए आनन्दनगर-नरेश महाराज चन्द्रसेन के चरण स्पर्श

करने को झुके ही थे कि नृपति चन्द्रेसन ने उन्हें कंधों से थामकर ऊपर उठाया और वक्ष से लगा लिया। कुछ क्षणों तक दोनों ऐसे भावमग्न रह गये मानो दो वियुक्त हो गये स्वजनों का पुनर्मिलन हुआ हो। प्रणाम मुद्रा में तब महाराज आनन्दसेन ने नम्रता के साथ निवेदन किया–"तात, अब मेरी एक विनती स्वीकार कर लीजिये। कुछ दिनों हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये। यहीं विश्राम कीजिये और अपने प्रेरक सान्निध्य से हमें सन्मार्ग पर आगे बढ़ाइये। पिता-पुत्र के मिलन-सुख को कुछ तो स्थिरता रखनी ही चाहिए।" आनन्दसेन की मुखाकृति पर सहसा एक मौन दीनता का भाव व्याप्त हो गया। महाराज चन्द्रसेन इस आत्मीयतापूर्ण आग्रह को भला कैसे टाल पाते। वे मात्र यही कह सके–"जैसी आपकी इच्छा, राजन् !" और वे मौन हो गये। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा था, जैसे आनन्दनगर-नरेश का आग्रह स्वयं उन्हीं के हृदय की किसी गहरी कामना की पूर्ति करने को हुआ था।

महाराज चन्द्रसेन को आनन्दनगर के राजभवन में ऐसा सुख-तोष अनुभव होने लगा मानो वे अपने आत्मीयजनों के मध्य ही रह रहे हों। अपने साथ आनन्दसेन महाराज के स्वभाव, विचारों और प्रवृत्तियों का अद्‌भुत साम्य उन्हें और भी अधिक गहनता के साथ अनुभव होने लगा। वे चम्पकमाला के शील और संस्कारशीलता से भी अत्यन्त प्रभावित हुए। उसमें उन्हें रानी विश्व-सुन्दरी के व्यक्तित्व की झलक मिलने लगी। सहसा उन्हें सुन्दरी रानी की स्मृति हो आयी। उनके मन के भीतर कहीं यह आशंका भी अँगड़ाइयाँ लेने लगी कि कहीं सुन्दरी रानी के प्रति उनकी निष्ठुरता अकारण और अनीतियुक्त नहीं रही हो। यह विचार आकर उन्हें बार-बार विचलित कर जाता। वे इन दोनों भाई-बहिन को अपने पुत्र-पुत्री जैसा ही मानने लगे थे। जब कभी वे इस आशय की बात कहते थे कि हमें तो एक पुत्र की कामना रही–वह यों तो पूर्ण न हो सकी, किन्तु आपके रूप में हमें अब पुत्र भी मिल गया और पुत्री भी, तो आनन्दसेन भी भाव-विह्वल हो उठते। कहते राजन् ! हमारी कठोर कथा आपको ज्ञात नहीं है। हम इस राज्य के मनोनीत शासक हैं। वंशानुगत अधिकार से हमारा स्वत्व नहीं है। हमें भी हमारे जनक-जननी का सुख नहीं मिला। हमारा कुल-शील तक अज्ञात है। हमें आपके रूप में नियति ने एक स्नेहिल पिता ही दे दिया है। इस सौभाग्य पर हम कितने प्रसन्न हैं–शब्दों में व्यक्त करने पर कदाचित् वह पूर्णतः प्रकट नहीं हो पाए। हमें आपका आश्रय पाकर गर्व है। अपार स्नेहपूर्ण वातावरण में समय-यापन होता रहा। अपने इन धर्म-संततियों का संग छोड़कर स्वराज्य को लौट जाने की इच्छा उनके मन में नहीं आती। कभी आती भी, तो क्षणिक रूप में ही। चम्पानगरी के सुगम

राज्य संचालन और प्रजा-सुख की सुधि भी कभी-कभी हो आती थी। उन क्षणों में वे कुछ चिन्तित और उद्विग्न भी हो उठते थे। उनका मस्तिष्क चम्पानगरी लौट जाने को प्रेरित करता, किन्तु उनका मन इस प्रेरणा को निस्तेज कर देता। वात्सल्य-भाव की ऐसी तृप्ति अन्यत्र कहाँ सुलभ थी। महाराज आनन्दसेन तथा चम्पकमाला को छोड़कर कैसे जाऊँ—वे यही सोचते रह जाते थे। समय प्रवाहित होता रहा। बूँद-बूँद मिलकर समुद्र हो जाता है और क्षण-क्षण मिलकर युग-युगान्तर में ढल जाते हैं। समुद्र विशाल होता है, तथापि उसकी कोई सीमा है, किन्तु समय असीम, अनन्त रूप में होता है। आनन्दनगर में महाराज चन्द्रसेन का प्रयास भी इसी प्रकार बढ़ता चला गया। ज्ञात ही नहीं हो पाया और देखते-ही-देखते छह माह का समय व्यतीत हो गया।

× × ×

महाराज की···· जय हो !

हमारे महाराज···· अमर रहें !

जय-जयकार से चम्पानगरी का धरती-आकाश एक होने लगा। विद्युत्-त्वरा के साथ यह समाचार राजधानी में सर्वव्याप्त हो गया कि नरेश चन्द्रसेन महाराज सकुशल लौट आये हैं। सभी ओर उत्साह, उमंग और उल्लास छा गया। सुख-शान्ति के समय में भी सुशासक का सान्निध्य प्रजा को निश्चिन्तता और निर्भीकता देता है। प्रजाजन अपना संरक्षक पाकर आश्वस्त और निःशंक हो गये। अब तक का अनिश्चय का भाव समाप्त हो गया। जनता चिन्तित रही कि महाराज कहाँ और कैसे होंगे ! न जाने क्या-क्या घटित हो रहा होगा उन पर। ऐसी आकुल-व्याकुल प्रजा अपने पितृवत नरेश को स्वस्थ एवं सकुशल लौटा पाकर निहाल ही हो गयी । उत्सव का-सा वातावरण चम्पानगरी में बन गया था। देखते-ही-देखते महाराज के दर्शनाभिलाषी नागरिकजन भारी संख्या में राजपथ के दोनों ओर एकत्र होने लगे। लोगों ने अपने प्रिय नरेश को पुष्पहारों से लाद दिया। सबके मन में एक ही प्रश्न ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगा था कि इतने दिनों महाराज कहाँ रह गये? उन पर क्या बीती? अश्व त्यागकर महाराज राजपथ पर मंथर गति से आगे बढ़ते जा रहे थे। राजहितैषी प्रजा के इस जिज्ञासा भाव को ताड़ गये थे महाराज ! राजभवन के समक्ष पहुँचते-पहुँचते उन्होंने अपने पीछे अनुसरण करते विशाल जन-समूह को एक दृष्टि में जो देखा तो यह निश्छल अनुराग भाव उन्हें मंत्र-मुग्ध-सा कर गया। राजभवन के सोपानों पर चढ़कर महाराज

चन्द्रसेन जनता की ओर पलटे ही थे कि "हमारे महाराज .... अमर रहें" नारा फिर से गूँज उठा। महाराज पुलक उठे। उन्होंने दोनों हाथ उठाकर जन-समूह की शुभकामनाओं का उत्तर दिया और उच्च स्वर में जनता को सम्बोधित करते हुए कहा–

"प्रिय प्रजाजनो ! आप सभी यह जान लेने को उत्सुक हैं कि पिछले छह माह के समय में हम कहाँ रहे? आपकी ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक ही है। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस सारी अवधि में हम प्रसन्न और सुखी रहे। समस्त जीवन में हमारी जो कामना पूर्ण नहीं हो पायी, एक प्रकार से वही विगत दिनों पूर्ण हो गयी। वन में उस दिन हम एकाकी छूट गये तो चलते-चलते निकटवर्ती राज्य आनन्दनगर पहुँच गये। वहाँ के शासक अहिंसावादी, मानवता-प्रेमी, बड़े ही स्नेही और उदार हैं। उन्होंने आग्रह करके हमें अपने अतिथि रूप में राजभवन में रोक लिया। हमारी-उनकी रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, नीतियाँ, स्वभाव, चिन्तन आदि सब-कुछ बहुत समान हैं। उनसे मिलकर हमें ऐसा लगा जैसे यदि हमें पुत्र-प्राप्ति होती तो चम्पानगरी का युवराज सर्वथा वैसा ही होता, जैसे आनन्दनगर के नरेश हैं। उनकी एक बहिन भी है जो गुणों में तो साक्षात् विश्व-सुन्दरी जैसी है ही, वैसी ही सौन्दर्यशालिनी भी है। दोनों भाई-बहिन ने हमें पिता के समान आदर दिया। उन्हें तो जैसे उनके अज्ञात तात ही मिल गये। लगभग २० वर्षीय नरेश आनन्दसेन आनन्दनगर के राजकुल से सम्बन्धित नहीं हैं। उन्हें तो अपने कुल-शील और माता-पिता का परिचय भी नहीं है। उनको भी जैसे हमारे रूप में अपने पिता से साक्षात् हो गया। इस अल्पायु में भी नरेश आनन्दसेन कुशल शासक और आदर्श राजा हैं। उनका अनुरोध स्वीकार करना पड़ा, उनके आतिथ्य में ही इतना समय निकल गया और कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। आपकी सुख-सुविधा और चम्पानगरी की सुरक्षा की चिन्ता ही हमें इस समय यहाँ ले आयी है; अन्यथा वह राजभवन छोड़ने को तो जी हुआ ही नहीं।"

तभी तुमुल कोलाहल हुआ। जय-जयकार के जनरव ने महाराज चन्द्रसेन को अभिभूत कर दिया। वे इसी प्रकार कुछ क्षणों तक तो मौन, अचल खड़े रह गये और फिर अन्त में कहने लगे–चम्पानगरी का भावी नरेश कैसा हो– हमारी कल्पना में ठीक वैसा रूप था, जैसे नृपति आनन्दसेन हैं। राज्य और राजा के भवितव्य पर ही निर्भर करता है कि भावी नृपति कैसा हो। हम तो चम्पानगरी और यहाँ की सुशील जनता के मंगल की कामना ही कर सकते हैं। सभी का शुभ हो ! सभी का कल्याण हो !! इस दीर्घ कथन के पश्चात्

महाराज शान्त और सधीर अविचलित खड़े रह गये। जनता जय-जयकार करती रही। एकत्र अमात्यों, अधिकारियों के विशाल समूह के साथ महाराज ने राजभवन में प्रवेश किया।

अन्यान्य अवसरों पर महाराज चन्द्रसेन ने यह अभिव्यक्ति भी दी कि आनन्दनगर-नरेश सर्व भाँति सुखी और सन्तुष्ट, यशस्वी शासक हैं। सौभाग्य से ही किसी राज्य को ऐसा नृपति मिलता है। हमारा तो, योग ही कुछ ऐसा है कि बड़ी विचित्र स्थितियों में ग्रस्त रहे हैं। यह हमारे कर्मों का ही फल है। अब तो हम सब-कुछ त्यागकर, अनासक्त होकर आत्म-कल्याण की राह अपना लेना चाहते हैं।

महाराज चन्द्रसेन की इस प्रवृत्ति का आभास जब राजरानी कल्याणवती को हुआ तो वे बड़ी प्रसन्न और संतुष्ट हुईं। सन्मार्गारूढ़ जन प्रसन्न ही होते हैं जब वे अन्यों को भी इसी मार्ग पर अग्रसर होते देखते हैं। विषयों में ग्रस्तजन ही परस्पर ईर्ष्या रखते हैं। कल्याणवती को तो अपनी चिरसाध पूर्ण होती प्रतीत होने लगी थी।

● ●

महाराज चन्द्रसेन के दीर्घ प्रवास से लौटने पर रानी तेजस्विता व अन्य रानियों को हर्ष भी हुआ और वे दुर्भावना से ग्रस्त भी हो गयीं। यह जानकर कि उनके स्वामी इतने समय तक आनन्दनगर राज्य में वहाँ के भूपति आनन्दसेन के अतिथि रहे हैं–उनके मन की शंका और त्रस्तता और अधिक गहरा गयी। तीव्र बुद्धि तेजस्विता ने तो तत्काल ही यह निष्कर्ष निकाल लिया कि यह राजा आनन्दसेन वही मल्ल है जिसने कभी चम्पानगरी के वसन्तोत्सव में सम्मान पाया था और जिसके विरुद्ध हमने कुचक्र भी चलाया था। महाराज ने तो उसकी खोज भी करवायी थी, किन्तु वह धूर्त किसी प्रकार बच निकला और आनन्दनगर का नरेश हो गया होगा। तेजस्विता रानी ने अन्य रानियों से चर्चा करते हुए कहा–"यह आनन्दसेन ही हमारी शत्रु विश्व-सुन्दरी का पुत्र है–यह अनुमान भी अब पुष्ट होता जा रहा है। महाराज अपने जैसा ही बताते हैं उस आनन्दसेन को। फिर यह भी कि महाराज ने उसमें और स्वयं अपने में अनेक समानताएँ भी अनुभव की हैं। महाराज उसकी किसी जुड़वाँ बहिन की भी चर्चा करते हैं।"

"हाँ, रानी ! ये जुड़वाँ संततियाँ विश्व-सुन्दरी की हो तो सकती हैं।" एक अन्य रानी ने कहा–"ये वे ही होंगे जिन्हें सलखू फेंक आयी थी, सूखे कुएँ में और उनके स्थान पर पिल्ले रख आयी थी।

"महाराज यह भी तो कहते हैं कि कन्या चम्पकमाला सर्वथा विश्व-सुन्दरी जैसी ही है"–अन्य रानी ने बात को आगे बढ़ाया।

"यह भी है और महाराज आनन्दसेन की जो आयु बताते हैं····" रानी तेजस्विता कुछ सोचते हुए कहने लगी–"उससे भी प्रतीत यही होता है कि ये दोनों विश्व-सुन्दरी की ही सन्तानें हैं।" तेजस्विता रानी विस्फारित नयनों से देखती ही रह गयी।

"अब तो स्थिति बड़ी विषम हो गयी, बहिनो"–एक अन्य रानी ने चिन्ता व्यक्त की कर्कशता को अपनी वाणी में घोलती हुई वह कहने लगी–"यह सब

उस कमीनी सलखू की करतूत है। उसने अपनी बुद्धि लगायी और शिशुओं को जीवित छोड़ दिया–उसी का परिणाम अब हमें भोगना होगा।''

''उसे तो जैसा सोचा था–दोनों बच्चों को तत्काल ही ''''।'' एक रानी अपनी गर्दन पर उँगली घुमाते हुए बोली–''पूरा कर देना चाहिये था। न रहता बाँस और न ही बजती बाँसुरी।''

''पर अब तो बाँस भी पक्का हो गया और बाँसुरी भी बजेगी, किन्तु चैन की नहीं।''–रानी तेजस्विता ने कहा। ''अब हमारे लिए बड़ा उत्पीड़क समय आने वाला है, यदि हमने उसे प्रयत्नपूर्वक धकेलकर एक ओर नहीं कर दिया।''

''अब तो संकट-ही-संकट है, रानी ! हमारे लिए।'' जब एक रानी ने यह चिन्ता प्रकट की तो तेजस्विता ने उसका अनुमोदन करते हुए कहा–''तुम्हारा विचार ठीक ही है, बहिन ! अब संकटों के मेघ घिर आयेंगे और यातनाओं की ऐसी वर्षा हो सकती है जो हमारे जीवन के लिए ही विनाशक होगी। यदि बच भी गयीं तो हमारा जीवन नरक होकर रह जायेगा।

''तुम्हारी आशंका मिथ्या नहीं है तेजस्विता''–एक रानी ने अपना मत प्रकट किया–''महाराज तो आनन्दसेन के प्रभाव में हैं ही–पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध दोनों ने मान्य कर ही लिया है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि हमारे महाराज आनन्दसेन चम्पानगरी और आनन्दनगर का एकीकरण कर दें और आनन्दसेन को इस राज्य का भी स्वामी बना दें।

''कभी क्या''' ऐसा शीघ्र ही हो जाय तो भी आश्चर्य नहीं। महाराज ने तो अपना विरक्ति-भाव प्रकट करना आरम्भ कर ही दिया है।'' गम्भीरता का बाना ओढ़े एक रानी ने यह भी कहा। एक रानी–''यदि आनन्दसेन राजा हो गया तो हमारी कुशल नहीं।'' ''यही नहीं फिर तो सारा रहस्य खुलेगा। यह भी प्रकट होकर ही रहेगा कि आनन्दसेन और कोई नहीं, विश्व-सुन्दरी का ही बेटा है।'' भेद-भरे स्वर में तेजस्विता ने बात जोड़ दी।

''क्या कहती हो रानी''''''' मारे त्रास के एक दुर्बल रानी चिल्लाती हुई-सी बोली–फिर तो वह पिल्लों वाली कथा भी खुलेगी।''

''खुलेगी''' वह भी खुलेगी।'' तेजस्विता ने कहा–''और तब विश्व-सुन्दरी हमें कहीं का न छोड़ेगी। उस पर तो चरित्रहीनता का लांछन लगा है और वह निष्कासन भोग रही है। वह भला हमें क्यों छोड़ेगी। फिर तो वह राजमाता भी तो होगी।''

"कोई कुछ करे या न भी करे–हमारे षड्यंत्र का भाँडा फूटना क्या कम होगा। फिर क्या हम किसी को मुँह दिखाने योग्य भी रह जायेंगी?" दूसरी रानी ने जब यह कहा तो उसके पास बैठी अन्य रानी कहने लगी–"पर इतनी हताश क्यों होती हैं हम। जब तक साँस तब तक आस। हमें कोई प्रयत्न करना ही चाहिये कि ये सब भयावह परिस्थितियाँ टली रहें।"

"तो क्या मार्ग सुझाती हो तुम, रानी? क्या प्रयास किया जाय?" रानी तेजस्विता ने दो टूक प्रश्न किया। उत्तर में सभी मौन हो गयीं। कौन क्या उपाय बताती! भयावह, विषम परिस्थितियों की कल्पना मात्र से सभी आतंकित थीं। उन्हें सब ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी दे रहा था। कोई मार्ग नहीं सूझता था। तभी किसी ने सलखू को ही पुनः सक्रिय किये जाने का परामर्श दिया। अन्य किसी विकल्प के अभाव में रानी तेजस्विता ने भी यही उपयुक्त माना और दाई सलखू को बुलाया गया।

सलखू ने नयन नचाते और हाथ मटकाते हुए कहा–"मैंने तो पहले ही निवेदन किया, रानी जी! हो न हो यह आनन्दसेन विश्व-सुन्दरी रानी जी का ही बेटा है। उसकी बहिन भी तो उसके साथ है। बात पूरी तरह से ठीक लगती है, ये वे ही जुड़वाँ''' ।"

"बहुत समझदारी तो न दिखा दाई !" रानी तेजस्विता ने डपटते हुए कहा–"तेरे दिखाये ही आज हमें यह दुर्दिन देखने को मिला है। तूने धोखा न दिया होता तो यह''''' ।"

"अब धोखा तो न कहें, रानी जी।" दाई के मुख पर दीनता का भाव फैल गया। बोली–"मैं तो जनम-जनम से आपकी चेरी रही हूँ। भला, मैं धोखा करूँ''' या चाकरी करूँ। मैं तो आपका दिया ही खाती रही हूँ। आपकी सेवा जितनी भी कर लूँ–आपका ऋण फिर भी बना रहेगा, स्वामिनी ! मैं और धोखा'''' ।" सलखू नाइन की आँखें डबडबा आयीं, कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

इस अभिनय को भली-भाँति ताड़ लेने पर भी नीतिज्ञा तेजस्विता ने इस अवसर पर तनिक युक्ति से काम लिया। उसने यह कहना चाहा कि अब इतना नाटक तो न कर, किन्तु कहा–"तुम क्या करोगी दाई माँ, तुम्हारे हाथ में क्या है। हमारी नियति से ही तो हमें सुख-दुःख देखने होंगे। किन्तु तुमने उस समय यदि नवजात शिशुओं पर दया न की होती तो ये सँपोले आज हमारे लिए आतंक के कारण न हुए होते।"

"मैं सब समझती हूँ मालकिन, सब समझती हूँ"–सलखू ने अपने श्याम-श्वेत केश की लटों को हाथ में झेलते हुए कहा–"यह सफेदी धूप से

नहीं आयी है। अब तो संभावना यह भी है कि आनन्दसेन चम्पानगरी का भी शासक बन जाय। तब तो विश्व-सुन्दरी रानी के भी दिन फिरेंगे।"

"दाई माँ, तुम कहती क्या हो–यदि ऐसा हुआ तो हमारे लिए वह समय काल-रात्रि के समान होगा। हम तो कहीं की नहीं रहेंगी। उस निर्लज्ज विश्व-सुन्दरी को तो ....." दाँत पीसते हुए, अनादरपूर्वक रानी तेजस्विता ने कहा–"उसे तो यह गौरव कभी नहीं मिलना चाहिये ..... कभी भी नहीं। सुना?"

"सुना महारानी जी, सुना" धैर्यपूर्वक दाई ने कहा–"जितना सुना उससे कहीं अधिक समझा भी। जो कुछ मैं कर सकती थी, मैंने उस समय भी किया और .....।"

"उस समय तुमने दाई माँ, बच्चों को जीवित छोड़कर चाहे कोई अमंगल कार्य किया हो, पर पिल्लों की जननी बताकर महाराज के मन में विश्व-सुन्दरी के प्रति जो दुर्भाव उत्पन्न किया–उससे हमारे कलेजे में ठंडक पड़ी। अवश्य यह उपकार हम पर तुमने किया था।" तेजस्विता ने सलखू नाइन को प्रेरित करते हुए कहा–"मगर अब यह जो नया संकट उठ खड़ा हुआ है–इसका क्या करें?"

"हर आने वाले को जाना भी पड़ता है रानी जी"–सलखू ने बोधपूर्वक कहा–"कोई स्वतः चला जाता है, तो किसी को धकियाना पड़ता है। मैं धकेलूँगी इस संकट को। पवन का प्रवाह जैसे बादलों को बुहार कर आकाश को स्वच्छ कर देता है न, वैसे ही .....।"

"अब तुम क्या करोगी? क्या कर सकती हो हमारे लिए?"–एक रानी ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

"आप सभी के चरणों की सौगन्धपूर्वक कहती हूँ, रानी जी ! मैं कोई कोर-कसर नहीं छोड़ूँगी। यदि मुझे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ जाय तो इसका कोई विचार नहीं करूँगी, किन्तु आपके लिए निरापद समय लाकर ही दम लूँगी।"–दाई यह कहकर कुछ युक्ति सोचने लगी थी। उसकी पलकों के स्थिर हो जाने से यह प्रकट होने लगा।

"लेकिन करोगी क्या तुम? तनिक हम भी तो सुनें !" तेजस्विता के इस आग्रह के उत्तर में सलखू ने आत्म-विश्वास के साथ कहा–"अबकी बार मुझे बड़ा भयानक काम करना होगा। अब तो एक राजा को .....। यह साधारण काम तो नहीं। पर यह आप मुझ पर छोड़ दें। मैं करूँगी .... सब-कुछ कर लूँगी रानी जी, बस .... आपकी कृपापूर्ण सहायता की आवश्यकता रहेगी।"

"क्या ..... हम क्या कर सकती हैं? हमसे कुछ न होगा।" नकारात्मक रूप में हथेलियों को हिलाते हुए एक रानी ने कहा। दाई ने कहा–"रानी जी अपने लाभ के लिए तो सभी को कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है। आपको भी करना होगा–आप, किन्तु घबराएँ नहीं। आपको कहीं सामने नहीं आना होगा। मैं ही सब-कुछ कर लूँगी और इतनी कला और साहस मुझमें है भी। किन्तु अबकी बार काम बड़ा विकट है। इसके लिए बड़ा भारी आडम्बर रचना होगा। खर्च तो इस सबमें, आप जानती हैं ..... ।"

"उसकी चिन्ता न कर, दाई माँ ! उसके लिए तो हम हैं न। बस हमारा काम हो जाना चाहिये।" तेजस्विता ने खराते हुए कहा।

"सोलहों आना"–आत्म-विश्वासपूर्वक सलखू ने कहा। "मैं तो प्राणों की बाज़ी लगाकर भी इस काम को पूरा करूँगी। नमक खाती हूँ आपका, रानी जी ! नुगरी कैसे हो जाऊँगी। मेरा काम तो मुझी को करना होगा। करूँगी ..... आपकी सेवा करना मेरा धरम है। बस बात यही है कि ..... ।" दाई ने रहस्यपूर्णता के साथ क्षणिक मौन साधा ही था कि तेजस्विता ने सचिन्त स्वर में पूछा–"क्या बात है दाई माँ, तुम चुप क्यों हो गयीं?"

"बार-बार कहते संकोच होता है मुझे रानी जी"–दाई ने कहा–"इस बार धन कुछ अधिक ही लग सकता है न !" तेजस्विता के संकेत पर एक रानी उठकर भीतर गयी और एक बड़ी-सी थैली लाकर सलखू को थमा दी। बोली–"धन तो और भी आवश्यकता हो तो बता देना, किन्तु काम में कोई कसर ..... ।"

"अब यह रखिये रानी जी ! जब आपको मुझ पर भरोसा ही नहीं तो क्यों व्यर्थ ही में अपनी जान भी खपाऊँ।" चतुर नाइन ने थैली भूमि पर रखकर हाथ से उसे रानी की ओर धकेलते हुए कहा और ठंडी साँस भरकर उठने का उपक्रम करते हुए कहा–"हम दासियों के भाग्य में तो यही बदा है। पूरे मन से सेवा भी करो और स्वामियों के अनभरोसे के शिकार भी बने रहो।"

"अरे नहीं री, दाई माँ ! वो बात नहीं है।" तिनके का सहारा भी यों छूटते हुए तेजस्विता ने कहा–"हम तो हमारे आने वाले कल की दुःखद आशंका से बौखला रही हैं। हमारे मुँह से कुछ-का-कुछ निकल जाना स्वाभाविक ही है। तात्पर्य हमारा केवल यही है माँ, कि अब हमें तो तुम्हारा ही सहारा है। तुम पूरी ताकत लगाना और ..... ।"

"आप निश्चिन्त रहिये ना···· मैंने निवेदन किया तो है। आपने अपना काम कर लिया। अब तो मुझे ही करना है।" बड़े कौशल के साथ दाई ने थैली अपनी ओर खींची और उसे आँचल में ढकती हुई वह उठ खड़ी हुई। "अब मुझे आज्ञा दें रानी जी।"–उसने यह कहते हुए झुककर प्रणाम किया और चल दी। जाते-जाते उसने यह भी कह दिया कि अब उसकी खोज-खबर न की जाय। वह बार-बार यहाँ आना ठीक नहीं मानती। अन्यजनों को इससे सन्देह हो सकता है और उसकी योजना दुर्बल हो सकती है।

× × ×

सहसा महाराज आनन्दसेन की नींद उचट गयी। अनवधान स्थिति में ही उन्हें किसी शोरगुल का आभास होने लगा। भली प्रकार से वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि क्या हो रहा है ! निद्रा का प्रभाव कम होने और चेतना लौटने लगी तो उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वर किसी क्रुद्ध और दुःखिया नारी का है। कौन स्त्री रो रही है? हमारे राज्य में किसी नारी पर कोई अत्याचार नहीं होता। इस अभागिन को क्या दुःख हो सकता है। बीच-बीच में प्रहरियों का स्वर भी सुनाई दे रहा था। क्या कोई स्त्री किसी अपराध में पकड़ी गयी है। ऐसा भी हो तो अभी अर्ध-रात्रि को यहाँ क्यों लाया जा रहा है। महाराज सोचने लगे– संभव है कोई अन्य ही गम्भीर प्रसंग हो। महाराज ने त्वरा के साथ अपना कर्त्तव्य भी निश्चित कर लिया। इस दुःखिता को न्याय तो मिलना ही चाहिये। किन्तु यह भी तो ज्ञात हो कि उसे परिवाद किस बात का है ! उन्होंने बहिन चम्पकमाला को बुलाकर कहा–"तुम्हें इस समय कष्ट दे रहा हूँ, पर तुम्हें इसी समय प्रासाद के मुख्य द्वार पर जाना होगा। सुनती हो यह नारी-स्वर····।" चम्पकमाला को भी स्पष्ट सुनायी दे रहा था। "बेचारी कोई विकल स्त्री होगी। तनिक जाकर देखो तो···· क्या हो रहा है।" महाराज की बात सुनते-सुनते ही प्रासाद-द्वार पर होने वाले वार्त्तालाप का विषय ताड़ने का प्रयास चम्पकमाला कर चुकी थी। इसमें असफल रहने पर उसकी भी जिज्ञासा बढ़ी। उसने महाराज से कहा–"लगता तो कोई गंभीर प्रसंग है। मैं देखती हूँ।" और वह एक सेवक को लेकर मुख्य द्वार की ओर चल दी।

मुख्य द्वार पर सुदृढ़ सुरक्षा-व्यवस्था रहा करती थी। अहर्निश प्रहरा रहा करता था। सलखू दाई यों तो संध्या-पूर्व ही आनन्दनगर पहुँच गयी थी, किन्तु प्रासाद में प्रवेश के लिए जान-बूझकर उसने अर्ध-रात्रि का समय चुना था। वह सोचती थी कि नींद से जागे महाराज आनन्दसेन पर वह अपनी बातों का अधिक गहरा प्रभाव अंकित कर सकेगी। मुझ अनाश्रिता को वे रात्रि में कहाँ

जाने को कहेंगे–वहीं प्रासाद में ही कोई व्यवस्था कर दी जायेगी। बस एक बार वहाँ टिकने भर का अवसर चाहिये, फिर तो मैं अपना काम पूरा करके ही निकलूँगी।

उसने यह भी सोचा था कि उस समय प्रहरा शिथिल हो जाता होगा और वह सुगमता से प्रवेश कर जायेगी। किन्तु उसका यह अनुमान सत्य नहीं निकला। प्रहरी ने उसे रोक ही लिया–"कौन हो? इस समय कहाँ जा रही हो?" प्रहरी ने जो कड़कते हुए पूछा तो वृद्धा की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। मुख पर उतर आई विवर्णता पर तेज का लेप करते हुए सलखू ने भी दर्प भरे स्वर में कहा–"हमें रोकने का प्रयास न करो प्रहरी ! तुम नहीं जानते हम कौन है !पूछना ही है तो यह पूछो कि किससे मिलना है?" गर्व से सलखू का मस्तक ऊपर उठ गया। बोली–"अच्छा ! हम ही तुम्हें बता देती हैं। सुनो प्रहरी !हमें उससे मिलना है जो तुम्हारा स्वामी है, इस राज्य का शासक है। तुम्हारे लिए वह महाराज है पर वह हमारे लिए तो वत्स के समान है। सलखू के कथन और उसके व्यक्तित्व में अनमेल सम्बन्ध झलकता देखकर कुछ प्रहरी तो दबी-दबी हँसी हँसने लगे। कहाँ महाराज का गौरव और यह साधारण-सी वृद्धा–इस आशय का विचार नायक के मन में भी आया, किन्तु उसे मुखरित करना अनुपयुक्त समझकर उसने उत्तर में इतना ही कहा–"तुम, माँ, कोई भी हो, पर रात्रि बीतने पर ही प्रवेश कर सकोगी। किसी अपरिचित को हम ..... ।"

"तुम शायद ठीक ही कहते हो, महाराज की सुरक्षा की व्यवस्था तो पूरी और पक्की होनी ही चाहिये। मैं किन्तु", सलखू ने वाणी पर बल देते हुए कहा–"तुम्हारे महाराज के लिए पूजनीय स्थान रखती हूँ। मैं माता जैसी हूँ। मुझे भीतर जाने दो।" नायक विवेकशील था। आगन्तुकों के छल-छद्म अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कौन क्या है? इसका पूर्वानुमान सदा सत्य ही तो घटित नहीं होते। दृढ़तापूर्वक उसने अपना एक ही उत्तर बनाये रखा–"माँ, तुम हमारे लिए भी पूज्या हो, किन्तु मुझे अपना कर्त्तव्य-पालन करना है। नियम-विरुद्ध आचरण मैं न करूँगा और न ही करने दूँगा। अब अभी आप जाएँ और भोर होने पर आएँ। तब महाराज को सन्देश भेजकर अनुमति ली जायेगी।"

जब सलखू ने पाया कि उसका उद्देश्य किसी भी भाँति पूर्ण न हो पा रहा है तो उसने अपनी लीला आरम्भ की। वह इस प्रकार रुदन-क्रन्दन करने लगी जैसे उसे भयानक यंत्रणा दी जा रही हो। "हाय ! हाय ! मेरा भाग्य ही खोटा

है किसी को क्या दोष दूँ। जब अपना बेटा ही अपना न हो सका तो यह आनन्द तो ..... इससे मैंने आशा बाँधी थी–वही मेरी भूल थी। मर बुढ़िया ..... तुझे इसी प्रकार मरना होगा। कोई तेरा सहारा क्यों बनेगा। महाराज हो गया है न आनन्द अब, वह भला मुझे .... ।"

इसी समय चम्पकमाला मुख्य द्वार पर पहुँच गयी थी। उसने जो देखा तो सकते में आ गयी। बेचारी वृद्धा बड़ी दुःखित हो रही हैं। क्या कष्ट हो सकता है इन्हें? उसने मन-ही-मन एक क्षण यह सोचा और तत्काल बोली–"माँ ! आपको पहचाना नहीं। क्या चाहती हैं आप?" चम्पक के स्वर में स्नेह, आदर, विनय और कोमलता बसी थी। उसने सादर प्रणाम किया।

"बिटिया, जब तूने माँ ही कह दिया है मुझे तो अब पहचानने को शेष रह ही क्या गया है? हाँ मैं तुम दोनों की माँ ही हूँ। तुम्हारी और आनन्द की माता समान हूँ। अब दुःखिया हो गयी हूँ। जुग-जुग जिओ तुम दोनों भाई-बहिन !!" बुढ़िया ने अपने पोपले मुख पर ममता का लेप करते हुए कह दिया। "अब अपने घर में आने को भी कहेगी बिटिया, या यों यहाँ द्वार पर ही खड़ी रखेगी अपनी माँ को।" वृद्धा ने बड़े कौशल से चम्पकमाला के मर्म को स्पर्श कर दिया। अपनी मातृविहीनता सहसा उसके मन में उत्पीड़क रूप में साकार हो गयी। कोई तो मिली हमें, जो अपने को हमारी माँ बता रही है। विनय अचतुर होती है, सदाशयता में एक निरीहता होती है। कुचक्र और छद्म उन्हें छल लेते हैं। अन्तिम विजय चाहे इन्हीं भावों की रहती हो, पर वह विजय का मार्ग बड़ा लम्बा, ऊबड़-खाबड़ और संकटपूर्ण होता है। छल-छद्म को आरम्भिक विजय मिलना स्वाभाविक ही है। चम्पकमाला ने भी भावावेश में त्वरा के साथ कहा–"चलो माँ, चलो। भीतर चलो ना।" चम्पकमाला ने नायक को अनुमति-सूचक संकेत कर दिया।

चम्पकमाला के साथ एक वृद्धा को आते देख महाराज चन्द्रसेन ने प्रश्नात्मक दृष्टि से जो ताका तो चम्पकमाला ने भी हाथों को इस आशय के साथ मटका दिया कि उसे भी ज्ञात नहीं, ये हैं कौन? व्यक्त रूप में उसने कहा–"भैया ! ये माँ दुःखी हैं। इनकी बात सुनिये और समाधान कीजिये।" अरे माँ आयी हैं क्या !"–कहते हुए महाराज आनन्दसेन ने प्रणाम किया और बोले–"माँ, आपका शुभ नाम?" मुस्कराते हुए सलखू ने कहा–"किसी माँ का कोई नाम अपने बच्चों के लिए नहीं होता। वह माँ–केवल माँ ही होती है। अन्यजन भी उसे उसके बच्चों की माँ के रूप में ही जानते, पहचानते, बुलाते हैं। वही उसका नाम हो जाता है बेटे ! वही उसका नाम जीवन-भर रहता

है।" एक क्षण विरामोपरान्त सलखू ने कहा–"चम्पक की माँ, आनन्द की माँ–बस यही समझो–यही मेरा नाम है।"

महाराज भी सलखू की इस उक्ति से गद्‌गद् हो गये। कहा–"बड़ी कृपा होगी माँ यदि आपका कुछ परिचय भी मिल जाता।"

"जय हो महाराज !"–सलखू ने पुनः अपने अभिनय को सुदृढ़ करने का सफल प्रयास किया।

"महाराज ! महाराज नहीं, वत्स कहिये। मैंने आपको माँ कहा है तो आप भी·····।" महाराज के कथन-मध्य ही सलखू बोल पड़ी–"सत्य ही कहते हो वत्स ! तुम जानना ही चाहते हो तो मैं भी बताती हैं। तुम्हारे गुरु ब्रह्मानन्द की मैं बड़ी बहिन हूँ। मेरा वह अनुज भी बड़ा ख्याति-प्राप्त हो गया है। उच्च ब्राह्मण वंश में मैं बिहा कर गयी, किन्तु कठोर भाग्य मेरा कि मेरा सुहाग अखंड नहीं रहा। तब से अपने पुत्र का मुख देखकर जीवित रही, किसी प्रकार से। बड़ी आशाएँ थीं मुझे अपने बेटे से, किन्तु वह व्यसनी हो गया है। दुर्द्धर्ष और दुष्ट हो गया है वह। वह अपनी माँ का आदर भी नहीं करता, दुर्व्यवहार करने में भी नहीं चूकता। ऐसे पुत्र को देख-देखकर भी सन्ताप होता है। मैं बड़ी दुःखिया हूँ महाराज ! मैं बड़ी ही अभागिन हूँ।" कहते-कहते सलखू के नयन छलछला आये। महाराज आनन्दसेन भी द्रवित मन और अवरुद्ध कंठ के साथ कुछ क्षणों के लिए मौन हो गये। उस अर्ध-रात्रि की अटल नीरवता में महाराज के कक्ष में भी चुप्पी छा गयी। भावुक चम्पकमाला भी अपने-आप में खो सी गयी।

तभी बातचीत की शृंखला को पुनः आरम्भ करते हुए महाराज ने एक लम्बी स्वाँस छोड़ते हुए कहा–"माँ, यह तो बड़ा भारी कष्ट है। हमें आपसे पूरी सहानुभूति है। माँ को इन परिस्थितियों में असीम दुःख होना स्वाभाविक ही है। हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं, माँ !"

"अब तो तुम ही मेरे पुत्र भी हो, तुम ही राजा भी। मैंने तो अपना गृह सदा-सदा को त्याग दिया है। अब मैं अपने कुपुत्र के पास जाना नहीं चाहती।" सलखू ने कहा–"सुना कि ब्रह्मानन्द का शिष्य आनन्दसेन आनन्दनगर का शासक हो गया है–तो मैं यहाँ चली आयी !"

"बड़ी कृपा की माँ आपने ! हमें भी तो बस एक माँ का ही अभाव था। उसकी पूर्ति हो गयी आज।"–आनन्दसेन ने सोल्लास कहा।

"अब तो बेटे, मैं तुम्हारे ही द्वार पर अपनी शेष घड़ियाँ बिता देना चाहती हूँ। तुम्हारे इस वैभव के लिए मैं भारी नहीं पड़ूँगी वत्स !" दीनता के

साथ सलखू ने कहा–"दास-दासियों के साथ-साथ मेरा भी निर्वाह हो जायेगा। अब 'ना' न करना बेटे। मैं कहाँ जाऊँगी। तुम्हारी चाकरी करती रहूँगी, एक कोने में पड़ी रहूँगी।"

"नहीं माँ, नहीं–ऐसा तो न कहो। तुम हमारी माँ हो"–महाराज आनन्दसेन ने कहा–"माँ के गौरव और सम्मान के साथ तुम यहाँ रहोगी।"

"हमें भी हमारी खोयी हुई माँ मिल गयी।"–चम्पकमाला ने सोत्साह कहा–"अब भला हमें कोई अभाव कैसे रह सकता है।" भाई और बहिन के मन में एक सरल उल्लास और हर्ष भर गया। हर्ष सलखू के मन में भी था, किन्तु वह कुटिलता और छल से युक्त था। उसमें निरीहता का नाम भी नहीं था।

"चलो माँ, तुम्हें तुम्हारा कक्ष दिखा दूँ।"–चम्पकमाला ने कहा–"बहुत थकी हुई हो, अब विश्राम करो। भोर में आगे की बातें होंगी।"

"अमर रहो आनन्द बेटे ! अमर रहो चम्पक बेटी ! तुमको ढेरों यश मिले !"–कहते हुए सलखू चम्पकमाला के साथ चल दी। अपने विश्राम-कक्ष में जब सलखू एकाकी सो रही थी, उसके मन में भाँति-भाँति के विचार आ-जा रहे थे। समय का ही सारा खेल है। कितना विलास, कितना वैभवपूर्ण जीवन सहसा उसे सुलभ हो गया। ऐसा मनोरम कक्ष, ऐसी सुखद शय्या, ऐसा सुरभित वातावरण–स्वप्न में भी उसने अपने लिए कभी इनकी कल्पना नहीं की। कैसे सुशील हैं–आनन्द और चम्पक। मुझे अपनी माँ मानते हैं। काश ! मैं भी इन्हें अपने····। नहीं····· नहीं····· इस भावुकता में मुझे ग्रस्त नहीं होना है। नहीं पड़ना है मुझे किसी मोह में अब। अब तो मुझे अपना ध्येय पूरा करना है। मेरा कर्म चाहे कितना ही निष्ठुर और क्रूर क्यों न हो, अब तो वही मेरी राह है–वही मेरी नियति है। सलखू ने अपने आपको रेशमीन चादर में लपेट लिया और निद्रा की कामना करने लगी।

●●

सलखू दाई का भी क्या भाग्य था कि राजसी सुखोपभोग के साथ वह सानन्द समय-यापन करने लगी। सभी दिशाओं से उसे सम्मान मिलने लगा। दास-दासियाँ सेवा में जुटी रहतीं, उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहतीं। सलखू भी अभिनय-कौशल में पीछे नहीं थी। वह अपना बड़प्पन स्थापित करने में भी सफल रही। कुलीन नारी की मान-मर्यादा को उसने ऐसे अपना लिया, जैसे ये उसकी जन्मजात विशेषताएँ रही हों। आनन्दसेन और चम्पकमाला पर तो वह स्नेह लुटाते थकती न थी। उनकी बलैयाँ लेती, शीष पर स्नेहपूर्वक हाथ फिराती, वक्ष से लगा लेती। उसका बाहर-भीतर का रूप किन्तु एक नहीं था, एक हो भी नहीं सकता था। उसका ध्येय तो इन दोनों की जीवन-लीला को समाप्त कर देना था। इस भीतरी ध्येय के साध्य के लिए बाहरी प्रेम का दिखावा तो मात्र साधन स्वरूप था। ध्येय या साध्य जितना जटिल और कठिन था, उसने उतना ही सुदृढ़ और सशक्त अपने साधन को बना लिया था। उसके मानस में तो सदा यही विचार-चक्र चलता रहता था कि उद्देश्य-पूर्ति के लिए कौन-सा मार्ग चुना जाय, क्या युक्ति की जाय। जब वह एकाकी होती तो उसके मन की यह दुर्भावना उसके मुख पर कठोरता के रूप में उतरी रहती थी। स्मिति और स्निग्धता का रूप तो सार्वजनिक व्यवहार का रूप बनकर रह गया था। उस चतुर नारी ने कभी भी अपनी आभ्यान्तरिक स्वरूप की झलक भी नहीं दिखने दी।

अर्ध-रात्रि का समय था। सर्वत्र अटल सन्नाटा छाया हुआ था। सारा राजप्रासाद भी नीरवता में निमग्न था। सहसा ही तीव्र और तीक्ष्ण क्रन्दन ने राजभवन को मानो विचलित कर दिया। सभी की निद्रा भंग हो गयी। चम्पकमाला भी उठ बैठी और ज्ञात करने को अपनी परिचारिका को भेजा कि यह किसकी चीत्कार है, क्या बात है? उसे जो सूचना मिली, उससे उसके रोम-रोम में वेदना भर गयी। त्वरापूर्वक वह महाराज आनन्दसेन के शयन-कक्ष में पहुँची। महाराज भी अब तक निद्रा त्यागकर उठ बैठे थे। वे समझने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि क्या हो गया। तभी बहिन चम्पकमाला ने

हृदय-विदारक समाचार दिया–"भैया चलो, माँ की आँखों में शूल उठ रहा है। शीघ्र उनके पास चलना चाहिए। वे पीड़ा से छटपटा रही हैं। शीघ्रतापूर्वक पदत्राण धारण कर महाराज चम्पकमाला के साथ माँ के कक्ष में पहुँचे।

सलखू अपनी शय्या पर पीड़ा के मारे लोट रही थी। "हाय रे, मैं मरी··· मैं मरी। अब सहा नहीं जाता···· हाय ! मैं क्या करूँ अब। अब तो मृत्यु ही आ जाय तो इस पीड़ा से तो छुटकारा मिले।"–माँ का यह क्रन्दन-रुदन सुना, उसकी यह दुर्दशा देखी तो महाराज का अन्तर अत्यन्त दुःखित हो उठा। पूछा–"माँ ! ओ माँ ! क्या वेदना है? क्या हो गया?

सलखू ने अपने रुदन को और भी तीव्र कर दिया। "हाय वत्स, हाय– बड़ी पीड़ा है मेरे नेत्रों में। अब चाहे मैं दृष्टिहीन ही क्यों न हो जाऊँ, यह पीड़ा तो शान्त हो। आग लग रही है मेरी आँखों में। मैंने बड़ा कष्ट दिया तुमको। राजकाज में सारा दिन खपते रहते हो, रात्रि में भी मैंने तुमको शान्ति से विश्राम न करने दिया। मैं तो अभागिन दुःखिया ही हूँ, तुमको भी····।"

"यह सब छोड़ो माँ ! इस विचार में न पड़ो।" चम्पकमाला ने शान्ति के साथ कहा–"यह अवसर इन बातों का नहीं। यह तो बताओ पीड़ा क्यों हो रही है? कुछ चिकित्सा करायी जाय।"

"अरे, चम्पक भी आयी है क्या?" सलखू ने कहा–"व्यर्थ ही मैंने तुम सभी को समस्या में डाल दिया। पर मैं करती भी क्या ! बड़ी देरी तक तो मैं चुपचाप सहन करती रही, पर जब सहा न गया तो मुँह खुल गया। हाय ! मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? मुझे एक पल को भी तो शान्ति नहीं है !" सलखू की आँखें बन्द ही थीं। बन्द आँखों पर बड़ी बेचैनी के साथ उसने चादर लपेटी और फिर पीड़ा से वह कराहने लगी, शय्या पर कराहने लगी, शय्या पर वह फिर से लोट-पोट होने लगी। हाय-हाय करती सलखू का स्वर सहसा धीमा हो गया, बोली–"जाओ मेरे बच्चो–जाओ,····· हाय ! जाओ, अब तुम विश्राम करो। अब न कराहूँगी। मैं बड़ी लज्जित हूँ कि····।"

माँ मेरी, न कराहने से भी रोग दूर तो नहीं हो जायेगा। पीड़ा तो होती ही रहेगी ना। हमारी चिन्ता न करो, माँ ! यह तो बताओ–"क्या यह शूल पहली बार ही उठा है? बड़ा कष्टकर रोग है। हम अभी राजवैद्य को बुलाते हैं।"

"वत्स, तुम्हारे राजवैद्य कुछ कर नहीं पाएँगे। यह साधारण रोग नहीं है रे ! हाय !" सलखू ने कहा–"यह रोग सब किसी को होता ही नहीं। मुझे भी यह रोग दूसरी बार हो उठा है। पाँच-छह वर्ष पहले यही रोग हुआ था। एक

अनुभवी गुणी सज्जन ने कृपा कर उपाय बताया था। तब तो शूल शान्त हो गया था, पर आज फिर इसने आ घेरा है।"

"क्या उपाय किया गया था उस समय माँ?" महाराज ने पूछा।

अब यह न पूछो बेटा ! बड़ा भयानक काम है। आज मेरे लिए कौन वह सब-कुछ कर सकेगा। मैं चाहती भी नहीं कि इन तुच्छ प्राणों की रक्षा के लिए किसी को संकट में डाला जाय। उस बार तो एक युवक ने अपने प्राणों की परवाह न करके भी''''।"

"पर करना क्या होगा? सारा उपाय यहाँ संभव हो जायेगा। तुम बताओ भी !" महाराज ने अनुरोध के स्वर में पूछा–"क्या करना होगा, माँ ?"

"तुम तो एक सेवा कर दो, बेटे ! मुझे मेरे घर पहुँचा दो। उपाय होगा तो वहीं हो जायेगा। मरना भी होगा तो अपने घर'''' हाय मैं मरी'''' अरे ये शूल तो प्राण ही लेकर छोड़ेगा'''' हाय रे !"–सलखू अपनी बात को प्रबलतर करती हुई बोली।

"नहीं माँ, नहीं। हम तुम्हें वहाँ जाने नहीं दे सकते"–महाराज के इस कथन का अनुमोदन करती हुई चम्पकमाला ने कहा–"हाँ, वहाँ है ही कौन तुम्हारा, माँ ! तुम्हारा बेटा तो तुम्हारी आज्ञा मानता भी नहीं है। कौन करेगा वहाँ सेवा तुम्हारी?"

"बेटी ! सुन, खोटा रुपया और खोटा बेटा ही खोटे समय में काम आता है। मैं उसी से कहूँगी कि वह भंयकर उपाय करे। करे तो ठीक है, अन्यथा जो होना होगा–वही होगा। हाय'''' हाय ! किसने जाना था कि यह दिन फिर से देखना होगा।" सलखू शय्या पर लोटने लगी। उसकी चीत्कारों से कक्ष फिर गूँज उठा।

"कैसी तो वेदना है और तुम घर जाने की हठ करती हो। तुम्हारा बेटा जैसा है–तुम जानती हो माँ''''''" महाराज का कथन अपूर्ण ही रह गया। सलखू मध्य में ही बोल उठी–"यदि उसे मेरा रोग दूर करना ही होगा तो वह सिंहनी का दूध लेकर आएगा। प्राणों की चिन्ता होगी तो भाग्य मेरा ! क्या कहूँ''''''।"

"हम लाएँगे सिंहनी का दूध, अपनी माँ के लिए।" महाराज को वर्जित करती सलखू बोली–"नहीं'''' नहीं'''''' मैं तुमको जाने न दूँगी बेटा ! इतनी स्वार्थिनी नहीं हूँ कि अपने लिए तुम्हें प्राणों के संकट में झोंक दूँ।"

"नहीं आनन्द, सिंहनी का दूध लाना साधारण काम नहीं है रे ! तुम तो करुणावतार हो, अहिंसाव्रतधारी हो; कैसे लाओगे दूध सिंहनी का, उसे मारे बिना। जीवित सिंहनी तुम्हें दूध देगी नहीं। उलटे तुम्हीं पर आक्रमण कर देगी। ना ना मैं अपने राजा बेटे को इस जोखिम में नहीं डालूँगी। मेरे जीवन का तो मोल ही क्या है ! तुम्हारा जीवन राज्य के लिए, प्रजा के लिए, चम्पक के लिए सभी के लिए–यहाँ तक कि मेरे लिए भी मूल्यवान है। मैं तुम पर अपने प्राणों को न्योछावर करती हूँ।" महाराज आनन्दसेन ने सस्मित कहा–"नहीं माँ ! कोई जोखिम नहीं। मैं सरलता से ले आऊँगा सिंहनी का दूध। तुम्हारे सुख के लिए कुछ भी करने को मैं तत्पर हूँ। तुम यदि डरती हो तो इसका अर्थ यह है कि अभी तक तुमने मुझे ठीक से पहचाना नहीं है।"

"काम तो साहसिक है, आनन्द ! अब, तुम्हारे शौर्य और शक्ति में सन्देह भी कौन कर सकता है। हो तो तुम शिष्य मेरे अनुज ब्रह्मानन्द के। मुझे तो गर्व है तुम पर, किन्तु बेटा, काम पूरी सावधानी के साथ करना होगा। मुझे तो बड़ी चिन्ता होती है।"–सलखू ने चतुराई के साथ कह दिया।

"तुम निश्चिन्त रहो माँ, आज संध्या तक तुम्हारा काम पूरा हो जायेगा।" महाराज ने कहा और सलखू के कक्ष से चले गये। सलखू के मन में संतोष और हर्ष व्याप्त हो गया और वह सोचने लगी–अब तो आनन्द आज शाम तक तुम्हारा काम भी तमाम हो ही जायेगा। यही तो मेरा काम है। उसे विश्वास हो गया कि सिंहनी का आखेट आज आनन्द होने को ही है। रात्रि समाप्ति पर थी। पंछी चहचहाने लगे थे और पूर्वी आकाश में लालिमा पुतने लगी थी।

हितैषी सामन्तों ने महाराजा आनन्दसेन के संकल्प के विषय में सुना तो चिन्तित हो उठे। एक सामन्त ने निषेध करते हुए महाराज से निवेदन किया– "न जाइये महाराज, इस भयावह अभियान पर न जाइये। जान-बूझकर प्राणों को संकट में डालना उचित नहीं।"

एक अन्य सामन्त ने कहा–"न तो ऐसी कोई औषधि हो सकती है, न ही माताजी के नेत्रों में कोई शूल उठ रहा है। हमें तो माजरा कुछ अन्य ही दिखाई देता है।"

"आप लोगों का कहने का प्रयोजन क्या है?" महाराज ने सामन्तों से कहा–"आप स्पष्ट कहें, क्या कहना चाहते हैं?"

"यह सब कोरा अभिनय किया जा रहा है। आपको सावधान हो जाना चाहिये।" एक सामन्त ने अपना अभिमत प्रकट किया और कहा–"वस्तुतः

यह महिला आपकी हितैषिणी प्रतीत नहीं होतीं। ये आपके जीवन की शत्रु हैं। इसी कारण यह सारी लीला हो रही है।"

"आपकी इस चिन्ता के लिए हम आभारी हैं, किन्तु आपका सन्देह आधारहीन है।" अश्वारूढ़ होते हुए महाराज ने कहा–"माँ तो हमें बहुत अधिक चाहती हैं। उनके लिए हमें इतना तो करना ही चाहिये।" महाराज ने अपने सशक्त अश्व को एड़ लगायी और अश्व लपका। देखते-ही-देखते वह महाराज को लेकर अदृश्य हो गया।

संध्या-पूर्व ही नगर में कोलाहल मच गया। सभी ओर भय और आतंक छा गया। नगरवासियों ने अपने गृहों के द्वार बन्द कर लिये। महाराज लौट आये थे। उनके अश्व के पीछे-पीछे एक सिंह-शावक लपका चला आ रहा था। आनन्दनगर के मार्गों पर उन्मुक्त सिंह दौड़ रहा था। महान् आश्चर्य था इस नगर के लिए यह। महाराज जानते थे कि किस वन-प्रान्तर में सिंहों का निवास है। वे वहीं पहुँच गये थे। भय तो उन्हें छू भी नहीं गया था। समीप ही पादप-पुँजों में सिहों की घोर गर्जना सुनायी देने लगी तो उनका उत्साह बढ़ गया। उन्हें अपनी सफलता समीप लगने लगी थी। वे सोच ही रहे थे कि दूध प्राप्त करने के लिए क्या युक्ति की जाय कि उन्हें एक सिंह की कराहट भरी गर्जना सुनायी दी। वे इधर-उधर देखने लगे। उन्हें एक झुरमुट में जाती हुई सिंहनी दिखायी दे गयी। धीमी चाल से ही वह तीन पैरों से आगे बढ़ रही थी। उसके पीछे-पीछे उसके दो शावक चले आ रहे थे। सहसा किसी की उपस्थिति का आभास पाकर सिंहनी थमी और आनन्दसेन की ओर मुड़कर खड़ी रह गयी। अचंचल सिंहनी खड़ी अपलक नयनों से महाराज को ताकने लगी। महाराज ने भी बिना पलकें झपकाये सिंहनी से अपनी दृष्टि मिलायी। उसे घूरते हुए महाराज ने गुरुदेव का स्मरण किया और नवकार महामंत्र का अन्तरंग जाप किया। और तब आत्म-विश्वास और निर्भीकतापूर्वक वे मंथर गति से सिंहनी की ओर बढ़े। सिंहनी अब भी अविचल यथावत् खड़ी रही। समीप पहुँचकर महाराज ने विनयपूर्वक कहा–"हे वन की रानी ! तुम तो हमारी मातुली हो। मातुली (मामी) का स्नेह बड़ा पवित्र होता है। मुझ पर कृपा करो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।"

सिंहनी शब्दार्थ तो क्या समझ पाती, किन्तु उसने महाराज के विनम्र हाव-भाव से यह अवश्य ताड़ लिया कि यह प्राणी आक्रमक नहीं है, यह मेरी कोई हानि नहीं चाहता। अब भी वह शान्त, गम्भीर खड़ी रही। महाराज ने देखा–सिंहनी का एक पैर धरती से कुछ ऊपर अभी भी उठा हुआ था। इस

पंजे में एक मोटा-सा काँटा लगा हुआ उन्हें स्पष्ट दिखायी दे गया। उन्होंने बड़ी ही कोमलता के साथ अपना हाथ उस पैर की ओर आगे बढ़ाया। उनके मुख पर सहायता करने का आग्रहपूर्ण भाव आ गया था। सिंहनी ने भली-भाँति इस भाव को समझा, पहचाना और तब अपना पीड़ित पैर आगे बढ़ा दिया। महाराज ने साहसपूर्वक एक हाथ में उस पैर को थामा और दूसरे हाथ से काँटा निकाल दिया।

सिंहनी ने सुख की साँस ली। अब वह जीभ निकालकर अपने होठ चाटने लगी। उसकी पूँछ भी अब हिलने लगी। दोनों शावक भी अब उसके साथ उठल-कूद करने लगे। इस अनुकूल वातावरण का लाभ उठाते हुए महाराज ने अपने कटिबंध से छोटा-सा स्वर्ण-पात्र निकाला और उसे थामे हुए वे नमस्कार मुद्रा में खड़े हो गये। कृतज्ञ सिंहनी पर अद्‌भुत प्रभाव हो गया था। उसने फिर महाराज की मनोकामना को ताड़ लिया। अब वह अपने स्थान से हिली और दो-एक चरण आगे बढ़कर महाराज के समक्ष आ खड़ी हुई। एक बार उसने अपना मुख पूर्ण आकार में खोला और शान्त खड़ी रह गयी। अब उसने अपना मुख नीचे को झुका लिया। महाराज ने संकेत समझा और वे पात्र लेकर नीचे को झुके। सिंहनी के स्तनों से दुग्ध-धाराएँ प्रवाहित हुईं और महाराज ने अपने पात्र में दूध भर लिया।

नम्रता के भाव के साथ तब महाराज ने सिंहनी के प्रति आभार व्यक्त किया। सिंहनी चुपचाप अपने झुरमुट की ओर बढ़ी और महाराज भी अश्वारूढ़ होकर राजधानी की ओर चल दिये। अश्व वन-मार्गों पर सरपट भागा जा रहा था। महाराज को आन्तरिक प्रसन्नता थी कि अब वे माँ को पीड़ा-मुक्त कर सकेंगे। तभी उन्हें पीछे से कुछ आहट आयी। मुड़कर देखा तो वे स्तब्ध रह गये–एक सिंह शावक उनके पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा था। प्रथमतः तो वे कुछ सोच ही नहीं पाये। फिर उन्हें आशंका हुई कि दूध ले लेने के कारण कहीं यह अप्रसन्न तो नहीं है, सम्भव है आक्रमण करना चाहता हो। उन्होंने अश्व की गति धीमी की और पाया कि शावक की गति भी धीमी हो गयी। एक स्थल पर महाराज रुके। शावक भी शान्त-भाव से थम गया। महाराज को यह निश्चय तो हो गया कि वह रुष्ट नहीं है। वे सोचने लगे कि यों तो शावक अपनी माँ से बिछुड़कर वन में भटक जायेगा अतः उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि शावक लौट जाय किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। शावक इस प्रकार उनका अनुसरण करते-करते राजधानी तक आ गया था।

यह सिंह-शावक इस तथ्य का प्रतीक बन गया था कि महाराज सिंहनी का दूध ले आने में सफल हो गये हैं। समस्त नगरवासियों को अपने नरेश के

शौर्य और पराक्रम पर अतिशय गर्व होने लगा। चम्पकमाला को तो बहुत प्रसन्नता हो रही थी, किन्तु सलखू की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उसे अपनी इस पहली चाल में असफलता मिली वह खिन्न हो उठी, किन्तु उसने साहस नहीं त्यागा। त्वरित मति सलखू ने अपने प्रयत्नों की शृंखला की अगली कड़ी पकड़ ली और उस पर वह मनन करने लगी। कुछ ही पलों में निर्णय कर भी लिया–हाँ, अब यही करना होगा। और एक कठोरता उसके मुख पर छा गयी।

अब फिर से सलखू तड़पने लगी थी। उसकी कराहें फिर तीव्र हो गयीं। इस समय दुग्ध-पात्र लेकर महाराज आनन्दसेन ने कक्ष में प्रवेश किया। उनके साथ चम्पकमाला भी थी। "लो माँ ! तुम्हारे आशीर्वाद से हम सिंहनी का दूध ले आने में सफल हो गये हैं। लो अब आँखों में आँज लो इसे अपने नेत्रों में और पीड़ा से छूट जाओ।"

"लो माँ, उठो। मैं आँज देती हूँ।" चम्पक ने कहा।

"अरे आँज कैसे लूँ इसे अपनी आँखों में, चम्पक बिटिया !" सलखू ने कहा–"कोरा दूध नहीं आँजा जाता है।"

"तो और कुछ रह गया है क्या, माँ?" चम्पक ने सुकुमारता के साथ पूछा। इसी समय महाराज आनन्दसेन ने भी जोर दिया–"कुछ रह गया हो तो बता दो माँ, वह भी मँगवा लें।"

"अरे वही तो आनन्दसेन–इस भयानक पीड़ा ने तो मुझे पागल बना दिया है। मैं पूरी बात ही नहीं बता सकी। सिंहनी के दूध में गरुड़ पक्षी की बीट घोलनी होती है। तब वह घोल आँजा जाता है। उपाय तो यह इस रोग का अचूक है, किन्तु बड़ा विकट है।" एक ही सपाटे में सलखू ने अपना कथन पूरा कर दिया।

"अरे तो यह कौन बड़ी बात है? गरुड़ की बीट भी ले आते हैं।" –महाराज आनन्दसेन ने निश्चिन्ततापूर्वक कहा।

"बेटे !" स्नेहपूर्वक महाराज को सम्बोधित करते हुए सलखू ने कहा–"अब जाने दो। नहीं कुछ करना है। मेरे भाग्य में सुख बदा ही नहीं है। नहीं तो यह कहना मैं भूल कैसे सकती थी। अब बार-बार तुम्हें संकट में डालना ठीक नहीं। यदि इस रोग को दूर होना है तो हो जायेगा, अन्यथा जो भी होना होगा, होता रहेगा।"

चम्पक ने तभी कहा–"अरे माँ ! क्यों व्यर्थ ही में घबराती हो। सब ठीक हो जायेगा। गरुड़ की बीट भला क्या कठिन वस्तु है। भैया उसकी व्यवस्था कर देंगे।"

"व्यवस्था क्या करनी है, हम पता लगाकर ले ही आएँगे।" महाराज ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा–"यह कोई असंभव वस्तु नहीं है, माँ ! तुम निश्चिन्त रहो।"

"निश्चिन्त तो मैं हूँ ही, बेटा ! जिस माँ के बेटे तुम जैसे शूरवीर और मातृ भक्त हों, उसे चिन्ता हो ही क्या सकती है।" सलखू ने कहा–"किन्तु काम यह बड़ा कठिन और विपत्ति भरा है। गरुड़ किसी को अपने निवास-स्थान के पास भी फटकने नहीं देता। वह बड़ा भयंकर प्राणी है।

"माँ ! मनुष्य जब एक बार दृढ़ धारणा कर ले तो उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। आवश्यकता केवल लगन, श्रम और इच्छा-शक्ति की रहती है।"–यह कहते हुए महाराज चले गये। चम्पकमाला अवश्य बातें करती, वहीं बैठी रही। बड़ी देरी तक वह माँ को सान्त्वना दिलाती रही। सलखू निराशा और दुःख का नाटक करती रही, पीड़ा की अभिव्यक्ति करती रही।

सामन्तों ने गरुड़ पक्षी की बीट लाने की बात सुनी तो उन्हें उनकी आशंका के सत्य होने का प्रमाण मिल गया। अवश्य ही यह वृद्धा महाराज से विद्वेष रखती है। वह तो उनका प्राण-हनन चाहती है। महाराज सिंहनी से बचकर आ गये तो वह उन्हें भयावह गरुड़ों के पास भेज रही है। गरुड़ किसी प्राणी को जीवित नहीं छोड़ते जो उनके क्षेत्र में प्रवेश करता है। पर महाराज हैं कि उसके जादू के वशीभूत हो गये हैं। आत्म-रक्षा का भी उनके लिए महत्त्व नहीं है।

× × ×

सघन वनों के आन्तरिक प्रान्तर में एक उन्मुक्त प्रवाहित जल स्रोत के समीप विशाल वट-वृक्ष था। वृक्ष बड़ा घना, ऊँचा और फैला हुआ था। महाराजा आनन्दसेन ने जब इस वृक्ष को दूर से देखा तो उन्हें कुछ ऐसा आभास होने लगा कि ऐसे ही किसी वृक्ष पर गरुड़ का निवास रहा करता होगा। वे वट की ओर बढ़े। बड़ी सावधानी के साथ वे अश्व को सँभाले हुए थे कि कहीं कोई जोर की ध्वनि भी न हो जाय। कुछ समीप पहुँचने पर उन्हें वृक्ष की एक डाल पर गरुड़ पक्षी दिखायी दे गया। ऊँचा, काफी ऊँचा बैठा हुआ वह प्रहरी का काम कर रहा था कि कहीं से कोई इस वन में प्रवेश कर उसके नन्हें-नन्हें बच्चों पर आक्रमण न कर दे। यह विशाल पंछी बड़ा विकराल भी लगता था। पक्षी ने अपने बड़े-बड़े डैने फैलाकर समेट लिए। महाराज को आभास हुआ कि गरुड़ ने उन्हें देख लिया है। उसकी पैनी और

भारी चोंच दूर से दिखायी दे रही थी। पास ही में तब एक और आकार में छोटा गरुड़ दिखायी दिया। यह गरुड़ पक्षियों का जोड़ा ही था। महाराज अपनी आगामी भूमिका निश्चित कर ही रहे थे कि उन्हें वृक्ष के दूसरी ओर से आता एक विशाल नाग दिखायी दिया। नाग घने श्यामवर्ण का था और क्षिप्र गति से रेंगता, आगे बढ़ा चला आ रहा था। स्पष्ट है कि गरुड़ की दृष्टि उस पर नहीं पड़ी। नाग वृक्ष के समीप आकर उसके तने पर चढ़ने लगा। महाराज को नाग के उद्देश्य का भान हो गया। वे जानते थे कि सर्प गरुड़ के बच्चों को निगल जाता है। तुरन्त वे अश्व से नीचे उतरे और एक सूखी टहनी उठाकर उन्होंने नाग को धकेलकर उछाला और वृक्ष से दूर फेंक दिया। नाग के गिरने की ध्वनि आयी तो गरुड़ ने भी उसे देख लिया। उसे ज्ञात हो गया कि इस प्राणी ने नाग से मेरे बच्चों की प्राण-रक्षा की है। गरुड़ ने देखा भयभीत-सा नाग तीव्रता के साथ घनी झाड़ियों की ओर भागा जा रहा था। गरुड़ के मन में आया कि यह मनुष्य बड़ा दयालु है। परोपकारी के रूप में महाराज आनन्दसेन को जब वह आभार भरी दृष्टि से देखने लगा तो उसे ऐसा जान पड़ा मानो यह मनुष्य तो नम्र और विनयी भी है। महाराज चुपचाप हाथ जोड़े खड़े थे। उनकी दृष्टि में याचना भरी थी। गरुड़ ने अपने पंख फैलाये और उड़कर उसने एक परिक्रमा वट-वृक्ष की लगायी और धीमे-धीमे नीचे उतर आया। पंजों पर चलता वह महाराज के चरणों में बैठ गया और गर्दन झुका ली। कुछ क्षणों में उसने गर्दन उठायी और महाराज का मुख निहारने लगा। एकटक, अपलक नयनों से गरुड़ यों ताक रहा था, मानो वह पूछ रहा हो—मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।

अनुकूल अवसर पाकर महाराज आनन्दसेन ने कहा—"हमें कुछ विशेष कामना नहीं। जिसे तुम त्याग करते हो, वही मैं ग्रहण करना चाहता हूँ। कृपा कीजिये न हम पर !" और फिर संकेत से उन्होंने गरुड़ पक्षी को बोध कराया कि उन्हें थोड़ी-सी बीट चाहिये। गरुड़ ने फिर उड़ान भरी और वट-वृक्ष की ऊँची खोह में पहुँचा। उसने अपने पैने पंजों से कुरेद-कुरेदकर बीट नीचे गिरायी। महाराज ने उसे अपने दुकूल के पल्लू में बाँधा और गरुड़ का धन्यवाद करते हुए चल दिये। अश्व उन्हें लेकर राजप्रासाद की ओर भागा चला जा रहा था। सहसा एक पक्षी उनके ऊपर मँडराने लगा। महाराज ने देखा गरुड़ पक्षी का एक बड़ा-सा बच्चा ठीक उनके सामने आ गया और अश्व की पीठ पर आ बैठा। उन्होंने प्यार भरा हाथ उसके पंखों पर फिराकर उसे स्नेह दिया। अश्व आगे बढ़ता रहा, गरुड़-शावक कभी इधर-उधर ताकता तो कभी महाराज के मुख की ओर देख लेता।

महाराज ने जब नगर-प्रवेश किया तो प्रजाजन यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गये कि महाराज के कंधे पर गरुड़-शावक बैठा हुआ है। तुरन्त सारे नगर में विद्युत्-प्रवाह की गति-सा यह समाचार फैल गया कि महाराज गरुड़ की बीट ले आने जैसे भयानक और कठिन कार्य में भी सफल हो गये हैं। हमारे महाराज महान् शूरवीर, पराक्रमी और साहसी हैं। भय तो इनमें नाममात्र को भी नहीं है।

"लो माँ, हम गरुड़ की बीट भी ले आये।" महाराज के वचन सुनकर सलखू का मुख खुला-का-खुला रह गया, वह कुछ क्षणों तक अवाक् बैठी रह गयी। तब सहसा सन्देह की परिधि में प्रवेश कर जाने के भय से उसने सोत्साह कहा–अच्छा ! मेरा शूर-शिरोमणि सपूत ले आया यह कठिन वस्तु। मैं तुम्हारे उपकारों से कैसे उऋण हो सकूँगी वत्स ! तूने जो कर दिखाया मेरा अपना सगा बेटा भी नहीं कर सकता। कर ही नहीं सकता वह।"

"सो तो सब ठीक है माँ, अब औषधि तैयार करवा लो और पीड़ा को समाप्त कर लो।" महाराज ने कहा तो उत्तर में सोल्लास सलखू ने कहा–"यह तो अचूक औषधि है अब रोग इसके समक्ष टिक ही नहीं सकता। तुम्हारा कल्याण हो वत्स !" यह कहकर वह सिंहनी के दूध में गरुड़ की बीट घिसने लगी। वह बोली–"बड़ी विचित्र औषधि है यह आनन्द ! इसका विधि-विधान से ही उपयोग करना होता है। इसे दो घड़ी चाँदनी में रखकर शीतल करना होता है और फिर इसे पीड़ित नेत्रों में आँजना पड़ता है। यह अवश्य है कि एक-दो बार के प्रयोग से ही रोग समूल नष्ट हो जाता है। अब तुम वत्स जाओ, विश्राम करो। बहुत थक गये होगे। शेष कार्य मैं स्वयं पूर्ण कर लूँगी।"

महाराज के प्रस्थान के उपरान्त सलखू अपनी शय्या पर लेटी गहन सोच में डूब गयी। उसकी चाल तो सफल ही नहीं हो रही। अपने पराक्रम के बल पर आनन्दसेन तो दोनों बार सुरक्षित रह गया। ऐसे निर्भीक बलवान के सामने ये युक्तियाँ तो असफल हो गयीं। अब तो कोई असाधारण उपाय ही करना होगा। रानी जी से धन लिया है, उनको वचन दिया है–काम तो सिद्ध होना ही चाहिये। सोचते-सोचते वह चादर में लिपट गयी और उसके मानस में विविध प्रकार के विचार आने लगे। वह नव-नवीन षड्यंत्र के जाल बुनती और उधेड़ती। इसी उधेड़-बुन में कब रात्रि गहरा गयी–उसे ज्ञात ही नहीं हो पाया।

● ●

स्वस्थ होकर सलखू दाई आनन्दनगर के राजप्रसाद में पूर्वापेक्षा अधिक प्रसन्नचित्त रहने लगी। मात्र वही यह जानती थी कि न तो वह नीरोग हुई है और न ही वह रुग्ण हुई थी। वह तो अब आनन्दसेन महाराज का उपकार मानने लगी थी। जब-तब अवसर और प्रसंग बनाकर वह महाराज का गुणगान करने लगती। अब चम्पकमाला के प्रति भी वह अधिक स्नेह और ममता जताने लगी। त्रिया-चरित्र का रहस्य वैसे भी अबूझ होता है, फिर वह तो नाइन भी थी—करेला और ऊपर से नीम-चढ़ा। चतुर दाई ने बड़ा प्रपंच मचा रखा था, किन्तु कोई भी उससे भिज्ञ न था। उसका मानस एक पराभव के पश्चात् और अधिक प्रबलता के साथ उत्साहित हो उठता था। अधिक प्रचण्ड और भयानक कुचक्र की रचना हेतु वह व्यग्र हो उठती है। असफलता ही सफलता की सीढ़ी होती है—इस सिद्धान्त की वह मानो साकार स्वरूप ही थी।

भोर बीत चुकी थी। ग्रीष्म की प्रातःकालीन बेला में शीतल मन्द पवन अत्यन्त सुहानी अनुभव हो रही थी। खुले वातायन से उद्यान की छटा सलखू को मुग्ध कर रही थी। इस शोभा से अपनी दृष्टि लौटाते हुए उसने चम्पकमाला को सम्बोधित करते हुए प्यार के साथ कहा—"बिटिया, कैसे सुन्दर फूल खिले हैं तुम दोनों भाई-बहिन के जीवन में। ऐसा ही हास बिखरा रहे ! कौन भला पराये जन के लिए इतना करता है। आनन्द ने दो-दो बार अपने जीवन की चिन्ता न करते हुए भी मेरे लिए, मेरे सुख के लिए कितने दारुण कार्य सम्पन्न किये हैं! भला कौन अपने प्राणों पर इतना जोखिम लेता है।"

"सो तो ठीक है माँ, किन्तु तुम परायी कबसे हो गयीं—हमारे लिए। ऐसा न कहा करो। इन बातों से ही तो जी दुःखता है"—कहते हुए चम्पकमाला अपनी रुष्टता का प्रदर्शन करने लगी।

सलखू ने भी स्नेह-धारा प्रवाहित करते हुए, चम्पक के मुख को अपने दोनों हाथों से सहलाते हुए कहा—"अच्छा-अच्छा, न सही, अब यह न कहूँगी, किन्तु यह तो सच है कि आनन्द का उपकार मैं आजीवन विस्मृत नहीं कर

पाऊँगी। यह सुयोग ही है, बिटिया ! कि मुझ जैसी अभागिन को ऐसे उपकारी, पराक्रमी का आश्रय मिला। मेरी आसीस सदा ही आनन्द के साथ और तुम्हारे साथ बनी रहेगी, बिटिया !"

अभी भी चम्पकमाला का रोष पूरी तरह उतरा नहीं था कि वाक्पटु नारी सलखू ने कोमलता के साथ चम्पक के कंधे को स्पर्श करते हुए कहा–"बिटिया मेरी, एक बात कई बार मेरे अधरों तक आकर भीतर ही लौटती ही रही है, मैं कहने का साहस ही नहीं कर पाती हूँ।"

"क्या ?·····ऐसी कौन-सी बात है, माँ !"–जिज्ञासा प्रकट करते हुए चम्पकमाला ने कहा–"तुमको तो संकोच हो ही नहीं सकता।"

इतना अपनत्व पाकर भी सलखू ने हिचकिचाहट को अपने मुख-मंडल पर लपेटे ही रखा तो चम्पक ने पुनः आग्रह के स्वर में कहा–"कहो न माँ ! कहो, क्या बात है?"

"बेटी, चाहे यह राजभवन हो, इसकी दीवारें चाहे सोने की ही क्यों न हो जायें–दीवारों से कोई मकान ही हो सकता है, घर नहीं बन जाता। मकान के लिए दीवारें तो चार चाहिये, किन्तु एक ही नारी उसे घर बना देती है। घर वाली के बिना भला घर कैसा !" बात सलखू को और भी आगे बढ़ानी थी, किन्तु जान-बूझकर वह प्रतिक्रिया जानने को सहसा मौन हो गयी और अपलक दृष्टि से चम्पक का मुख निरखने लगी। जल्दी-जल्दी पलकें झपकाती चपम्क ने कहा–"बात कुछ समझ में नहीं आयी माँ, कुछ स्पष्ट करो, तुम क्या कहना चाहती हो?"

"अरे, बात तो स्पष्ट ही है, बिटिया !" सलखू ने शब्दों पर बल देते हुए कहा–"अब आनन्द बेटे को विवाह भी करना चाहिये या नहीं। मेरी पुत्र-वधू ही उसके जीवन को सरस और मनोरम बना सकेगी। क्या बात है, वह विवाह करता क्यों नहीं?"

"माँ ! भैया तो यह मानते हैं कि वे प्रजा की सेवा करना चाहते हैं। विवाह से उनके इस मार्ग में बाधा आ सकती है।"–चम्पकमाला ने स्पष्ट कथन किया।

"अरे कोई बाधा-वाधा नहीं आती। दिन-भर वह राज-काज की व्यस्तताओं में खपता रहता है। विश्राम के क्षणों में भी उसे प्रेम और प्रेरणा नहीं मिले तो अगले दिवस पुनः कार्य-संलग्न होने का उत्साह तीव्र कैसे हो सकता है। जीवन एकरस होकर नीरस नहीं हो जायेगा ! तू ही बता !"–वृद्धा ने स्नेहपूर्वक कहा।

स्वस्थ होकर सलखू दाई आनन्दनगर के राजप्रसाद में पूर्वापेक्षा अधिक प्रसन्नचित्त रहने लगी। मात्र वही यह जानती थी कि न तो वह नीरोग हुई है और न ही वह रुग्ण हुई थी। वह तो अब आनन्दसेन महाराज का उपकार मानने लगी थी। जब-तब अवसर और प्रसंग बनाकर वह महाराज का गुणगान करने लगती। अब चम्पकमाला के प्रति भी वह अधिक स्नेह और ममता जताने लगी। त्रिया-चरित्र का रहस्य वैसे भी अबूझ होता है, फिर वह तो नाइन भी थी–करेला और ऊपर से नीम-चढ़ा। चतुर दाई ने बड़ा प्रपंच मचा रखा था, किन्तु कोई भी उससे भिज्ञ न था। उसका मानस एक पराभव के पश्चात् और अधिक प्रबलता के साथ उत्साहित हो उठता था। अधिक प्रचण्ड और भयानक कुचक्र की रचना हेतु वह व्यग्र हो उठती है। असफलता ही सफलता की सीढ़ी होती है–इस सिद्धान्त की वह मानो साकार स्वरूप ही थी।

भोर बीत चुकी थी। ग्रीष्म की प्रातःकालीन बेला में शीतल मन्द पवन अत्यन्त सुहानी अनुभव हो रही थी। खुले वातायन से उद्यान की छटा सलखू को मुग्ध कर रही थी। इस शोभा से अपनी दृष्टि लौटाते हुए उसने चम्पकमाला को सम्बोधित करते हुए प्यार के साथ कहा–"बिटिया, कैसे सुन्दर फूल खिले हैं–तुम दोनों भाई-बहिन के जीवन में ऐसा ही हास बिखरा रहे ! कौन भला पराये जन के लिए इतना करता है। आनन्द ने दो-दो बार अपने जीवन की चिन्ता न करते हुए भी मेरे लिए, मेरे सुख के लिए कितने दारुण कार्य सम्पन्न किये हैं! भला कौन अपने प्राणों पर इतना जोखिम लेता है।"

"सो तो ठीक है माँ, किन्तु तुम परायी कबसे हो गयीं–हमारे लिए। ऐसा न कहा करो। इन बातों से ही तो जी दुःखता है"–कहते हुए चम्पकमाला अपनी रुष्टता का प्रदर्शन करने लगी।

सलखू ने भी स्नेह-धारा प्रवाहित करते हुए, चम्पक के मुख को अपने दोनों हाथों से सहलाते हुए कहा–"अच्छा-अच्छा, न सही, अब यह न कहूँगी, किन्तु यह तो सच है कि आनन्द का उपकार मैं आजीवन विस्मृत नहीं कर

अब शीलावती के साथ विवाह के लिए आनन्दसेन को तत्पर करने का काम सलखू के लिए सुगम हो गया था। स्वयं चम्पक ने इस कार्य की मुख्य भूमिका जो सँभाल ली थी। चम्पक को भी इसके लिए पहल नहीं करनी पड़ी। स्वयं आनन्दसेन ने ही संध्या समय यह प्रसंग आरंभ करते हुए कहा–"चम्पक ! सुनो तो, माँ आज यह क्या कह रही थीं–विवाह··· उत्तराधिकारी, न जाने क्या-क्या·····किन्तु मैं·····।" "ठीक ही तो कहती हैं माँ" तपाक से बात का सिरा थामते हुए कहा। "प्रत्येक योग्य सुशासक का एक कर्त्तव्य यह भी होता है कि वह अपने राज्य को एक योग्य और श्रेष्ठ नरेश दे जो उसके बाद वैसा ही सुशासन कर सके।"

"सत्युत् है चम्पक बहिन, तुम्हारा कथन उचित ही है।" आनन्दसेन ने चम्पकमाला का अनुमोदन करते हुए सधैर्य कहा–"किन्तु इसके लिए विवाह···· सन्तति····· इस सबकी कहीं आवश्यकता नहीं है। मैंने इस प्रश्न पर गहन चिन्तन किया है। राज्याधिकार वंशानुगत नहीं रहना चाहिये। उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य तो पैतृक सम्पत्ति बनकर रह जाता है। पिता के पश्चात् उसका पुत्र ही सिंहासनारूढ़ हो–यह पद्धति स्वस्थ नहीं है। किसी योग्य, अनुभवी, आदर्श नागरिक को यह दायित्व सौंपा जाय–यह अधिक उपयुक्त लगता है।" तनिक विस्तार से आनन्दसेन ने अपनी विचारधारा की व्याख्या की। अन्त में चम्पक ने यह अकाट्य प्रश्न कर ही लिए कि "भावी नरेश के लिए यह पद्धति अपनायी भी जाय, तो इसके लिए क्या यह आवश्यक है कि वर्तमान नरेश अविवाहित रहे?" उसने अपना मत प्रस्तुत किया–"यदि ऐसा हो तो योग्य किन्तु सामान्यजन को राजा बनाया जाना एक अनिवार्य विवशता ही होगी। इस पद्धति की महत्ता को, इसके गौरव को इससे हानि ही होगी। महत्ता तो तब होगी इसकी, जब राजा का अपना पुत्र तो है किन्तु स्वयं राजा ही उसके स्थान पर ऐसे किसी अन्यजन को नरेश नियुक्त करे।"

"बात तो तुम ठीक ही कहती हो,चम्पक !"–आनन्दसेन ने पुनर्विचार की मुद्रा में कहा–"तुमने बहिन ! मेरे चिन्तन को एक नवीन आयाम दिया है। मान लो मैं विवाह करने को तत्पर भी हो जाऊँ, तब भी यह कहाँ आवश्यक है कि विवाह उस अज्ञात शीलावती से ही किया जाय !"

"आवश्यक नहीं····· कदापि आवश्यक नहीं····" चम्पकमाला ने अपने मत पर अनुमोदन का सहायक आवरण चढ़ाते हुए कहा–"विवाह शीलावती के साथ ही हो। जब कोई अन्य विकल्प न हो और प्रस्तावित प्रसंग

में कोई आपत्तिजनक बात दिखायी न दे तो उसे स्वीकार करने में भी क्या हानि है।" चम्पकमाला ने प्रबोधन के स्वर में कहा। "फिर इस प्रसंग में तो भैया, तुम्हारी प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की अभिवृद्धि की भी प्रबल संभावनाएँ हैं।" इस कथन से आनन्दसेन की जिज्ञासा जाग उठी। उनके मुख पर–"वह कैसे?" जैसा प्रश्न छलक उठा। चम्पकमाला ने तब कहा–"सुनो, यह शीलावती साधारण कन्या नहीं है। अनेक राजा-महाराजा इससे विवाह के प्रत्याशी रहे हैं। और यह सभी को अस्वीकार कर चुकी है। वह पतिरूप में तुम्हारा वरण करे–इससे राज-समुदाय में तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ही। फिर, सुनती हूँ इससे विवाह होना जोखिम-भरा भी है। घने जंगलों में, कोई सौ कोस दूर तो उसका निवास ही है। पर हमें अपने भैया राजा पर, उनकी साहसिकता और शौर्य पर अटूट विश्वास है। वे हर दुर्गमता को सुगम बना लेंगे और विजय का किरीट उनके मस्तक पर अवश्य ही जगमगाएगा–हमारी तो यही धारणा है।" कहते-कहते आत्मलीन-सी चम्पकमाला के नयन अधमुँदे और स्थिर हो गये। और आनन्दसेन मात्र यह कहकर कि "जैसा तुम लोग चाहो....." उठकर चले गये।

सलखू ने सुना तो मारे उल्लास के उसका हृदय बल्लियों उछलने लगा। एक क्रूर स्वप्न उसकी आँखों में तैर आया। उसके मुख पर अद्‌भुत कठोरता छा गयी और उसके अधर बुदबुदाने लगे–अब तो मैदान मार ही लिया समझो। आनन्दसेन भी यों कहाँ तत्पर होने वाला था। उसे भी यह चुनौती मिली है; इस कारण उसने स्वीकार किया होगा। अच्छा है, अब किसी तरह मुझे अपने अभियान में सफलता मिले और मैं रानियों को मुख दिखा सकूँ। सलखू बड़ी देर तक विचार-मग्न बैठी रही। सोचती थी अब आनन्दसेन की जीवन-लीला समाप्त ही समझो। यवनिका गिरने ही वाली है। सज्जनों को सत्कर्मों में सफलता की जितनी आशा नहीं रह पाती उतनी दुष्टों को दुष्कर्मों के सफल हो जाने की होती है। वे यह भूले ही रहते हैं कि अन्तिम विजय शुभ-पक्ष की ही होती है।

महाराजा आनन्दसेन भी उन असाधारण साहसिक शूरवीरों में से थे जिनके लिए दुर्लभ लक्ष्य आकर्षक के कारण होते हैं। उन्होंने शीलावती से परिणय का मन-ही-मन निश्चय कर लिया और तब विचार-विमर्श के प्रयोजन से उन्होंने अपने विश्वस्त मंत्रियों-अधिकारियों को सम्मिलित किया। इन महाराज-हितैषीजनों को जब ज्ञात हुआ कि महाराज इस राज्य को शीलावती के रूप में आनन्दनगर को राज्ञी देना चाहते हैं, तो वे अचरज में पड़ गये। कुछ सामन्तगण तो अवाक् रह गये। एक प्रौढ़ अमात्य ने स्पष्टोक्ति की–

"राजन् ! आपने यह निश्चय या तो सोच-समझकर नहीं किया है, या फिर आप आनन्दनगर को फिर से अनाथ बना देने पर तुल गये हैं।"

"हाँ, महाराज ! यह सत्य ही है। शीलावती बड़ी भयंकर स्त्री है। कुछ ही नहीं, अनेक पराक्रमी राजा-महाराजा उसके फेर में पड़कर अपने प्राण गँवा बैठे हैं। शुभ इसी में है कि आप इस विचार को ही त्याग दें।" एक सामंत ने कहा।

"देव ! जिस किसी ने भी आपके मन में शीलावती की लगन लगा दी है, वह निश्चय ही आपका हितैषी नहीं है। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि आपका वैरी है और आपका प्राणान्त ही उसकी कामना है। हम आपको इस अभियान पर जाने नहीं दे सकते।" एक सामन्त ने जब यह कह दिया तो सभी बोल पड़े। शब्द चाहे सभी के भिन्न-भिन्न थे, किन्तु आशय सभी का एक ही रहा–वे सभी महाराज से इस विचार को त्याग देने का अनुरोध कर रहे थे। कुछेक तो यह जान लेने को भी उत्सुक हो गये थे कि यह परामर्श दिया किसने है। एक मंत्री ने बड़ी गंभीरतापूर्वक निवेदन किया–"श्रीमानेश्वर ! हम सभी स्वयं हार्दिक कामना करते हैं कि आपका परिणय सम्पन्न हो, आनन्दनगर के निवासियों को राजरानी का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हो। किन्तु आप शीलावती से ही क्यों विवाह करना चाहते हैं? एक शीलावती ही तो रूप-गुण-निधान नहीं है। अनेक रूपवती राजकुमारियाँ हैं।"

बड़ी देर तक मूक-मौन यह सब सुनते रहने के पश्चात् महाराज आनन्दसेन मुखर हुए। मुस्कराते हुए वे बोले–सुनिये, सुनिये–आप लोगों की हमारे प्रति जो हित-कामना है उसके लिए हम बड़े आभारी हैं। किन्तु न तो रूप सौदर्न्य के लिए हमारे मन में कोई ललक है और न ही चुनौतीपूर्ण सम्बन्धों के विषय में कोई भय है। अब परिणय हेतु चयन का तो समय ही निकल गया है। वीर वही है जो आतंकित होकर अपने निश्चयों पर पुनर्विचार न करे। हमने सोच-समझकर ही निर्णय किया है। दुर्गमता की कोई स्थिति हमें हमारे निश्चय से डिगा नहीं सकती। प्रश्न अब शीलावती या अन्य राजकुमारी का नहीं रहा है। अब तो प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया है। चरण आगे बढ़ाकर पीछे हटाना हमारे स्वभाव में कभी रहा ही नहीं। यह कार्य दुर्गम ही तो है, अगम तो नहीं ! हम दुर्गम लक्ष्यों के लिए सक्रिय रहने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। आप निश्चिन्त रहें–हम पर कभी कोई भी विपरीत स्थिति हावी नहीं हो सकती। हमें विश्वास है कि हमें सफलता मिलेगी–अवश्य

मिलेगी। जिसे अन्य कोई वीर न कर सका हो उसे हम भी प्रयत्न के पूर्व ही दुष्कर मान लें यह हो नहीं सकता।" इतना कहकर महाराज रुके तो पाया सभा में सन्नाटा छाया हुआ था। "यह समय गन्तव्य की ओर अग्रसर होने का है, पंथ की फिसलन पर चिन्ता करने का नहीं। हम कल भोर में ही इस अभियान पर प्रस्थान करेंगे। महाराज ने आत्म-विश्वासपूर्वक कहा।

"श्रीमानेश्वर विजयी हों !" सुरक्षामात्य ने कहा–"राजाज्ञा के समक्ष हम सभी नतमस्तक हैं। हममें से सभी को ही आपश्री के अमित बल-विक्रम में अटल विश्वास है। हमारी शुभकामनाएँ श्रीमान् के साथ हैं।"

"समग्र राज्य की शुभकामनाओं के साथ-साथ सेना का विशेष दल भी आपश्री के संग रहे महाराज, मेरी ऐसी कामना है।" सेनाध्यक्ष ने अनुनय करते हुए कहा–"कृपापूर्वक तदर्थ अनुमति प्रदान करें। यह दास स्वयं सैन्य दल के साथ आपका अनुगामी रहेगा।"

"परामर्श उपयुक्त ही है। ऐसा ही हो। आप सेनाध्यक्ष जी !" महाराज ने सम्बोधित करते हुए कहा–"सारी तैयारी पूरी कर लीजिये। इस अभियान के सम्बन्ध में सारी जानकारियाँ भी प्राप्त कर लें। कल ब्रह्म मुहूर्त में ही प्रस्थान होगा।" इस आदेश के साथ ही महाराज ने आसन त्याग दिया। सभी उपस्थित-जन भी अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो गये। सभा समाप्त हो गयी।

× × ×

महाराज आनन्दसेन का यह अभियान दल अनेक सघन वनों को पार करता हुआ उस खुले स्थल पर थम गया। खुले, विस्तृत, नीले नभ में एकाध टुकड़ा श्वेत मेघ का यों विचर रहा था, मानो सरोवर में हंस जल-क्रीड़ा कर रहा हो। सभी ओर एक मनोरम शान्ति प्रसरी हुई थी। प्रकृति अपने कोमल, रमणीक रूप में मन मुग्धकारी और अतिशय कमनीय हो उठी थी। भाँति-भाँति के वन्य पुष्प अपने विविध रंगों और सुरभियों के साथ खिले हुए थे। मधुप-गुँजार से दिशाएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं। महाराज को लगा–अब वह स्थल आ गया है जहाँ आस-पास ही कहीं शीलावती का निवास हो सकता है। प्रश्न-भरी दृष्टि के साथ सेनाध्यक्ष की ओर महाराज ने निहारा ही था कि चतुर सेनाध्यक्ष ने आशय भाँपकर उत्तर दिया कि हाँ महाराज ! यही वह स्थल होना चाहिये जहाँ हमें पहुँचना था। जो पहचान इस स्थल की बतायी गयी थी, उसके आधार पर सेनाध्यक्ष पूर्णतः आश्वस्त थे। उन्होंने कहा–"महाराज ! इस खुले स्थल पर पहुँचने के पश्चात् हमें अब वह वापी खोजने का काम करना होगा जिसके भीतर ही शीलावती रहती हैं।"

"हुँ ···· !" महाराज ने अपना सारा ध्यान केन्द्रित करते हुए सेनाध्यक्ष के मुख पर दृष्टि करते हुए कहा–"वह भी खोज ली जायेगी वीर, हमें फिर करना क्या होगा?"

"श्रीमानेश्वर उस सुन्दर वापी के आस-पास अनेक प्रस्तर प्रतिमाएँ दिखायी देंगी–राजा-महाराजाओं की प्रतिमाएँ।"

"अच्छा ! तो क्या शीलावती शिल्पी भी हैं?" महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा और सेनाध्यक्ष का उत्तर सुनकर वे ठिठके रह गये। उसने कहा–"नहीं महाराज, नहीं–वह शिल्पी नहीं, अपितु मंत्रवादिनी हैं।"

"अच्छा-अच्छा !"–महाराज मात्र इतना ही कह पाये थे कि सेनाध्यक्ष ने अपनी बात को अग्रसर किया। "जो प्रत्याशी शीलावती से विवाह की कामना रखता है, उसे उस वापी के समीप पहुँचकर उसे पुकारना होता है। जिसके साथ अपना परिणय शीलावती को रुचिकर होता है, उसकी पहली पुकार पर ही वह बाहर निकलकर प्रत्याशी का स्वागत करती है, उसका वरण कर लेती है। यदि ऐसा नहीं होता तो स्थिति बड़ी गंभीर हो जाती है, महाराज ! कुछ भी ····· ।" सेनाध्यक्ष अपनी बात पूर्ण भी न कर पाये थे कि महाराज ने व्यग्रता के साथ कहा–"बस ···· बस–अब बस करो। शीलावती को हमारी प्रथम पुकार पर ही बाहर निकल आना होगा। उसे आना ही होगा ···।" यह कहकर महाराज अश्व से उतर आये। उनके मुख पर दुर्दमनीय आत्म-विश्वास की दीप्ति झिलमिलाने लगी। अपनी दृष्टि सभी ओर घुमाते हुए उन्होंने कहा– "सेनाध्यक्ष ! तुम अपने दल के साथ पीछे हट जाओ। इस विशाल खुले स्थल से तुम लोग पीछे हट जाओ। वापी तक हम एकाकी ····अकेले ही जायेंगे। हमारा भुजबल हमारे संग है, हमारी निर्भीकता ही हमारी सहचरी होगी।" यह कहते हुए महाराज मुड़ गये और साहस के साथ चरण-चरण आगे बढ़ने लगे।

दूर से महाराज आनन्दसेन को शुभ्र स्फटिक का कोई निर्माण जगमगाता दिखायी दिया। महाराज कुछ मुड़कर उसी दिशा में आगे बढ़ने लगे। कुछ ही चले होंगे तो यह निश्चय भी हो गया कि हाँ, यही वापी है। समीप पहुँचे तो उन्हें वास्तव में हजारों प्रतिमाएँ भी दिखायी दे गयीं। शस्त्रधारी वीर पुरुषों की प्रतिमाएँ देखकर उनका राजत्व सशक्त हो उठा, उनका साहस और भी उन्नत और अटल हो गया। इन प्रतिमाओं के मध्य ही खड़े होकर उन्होंने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ पुकारा–"शीलावती ! तुम बाहर आ जाओ।"

महाराज की इस तीव्र वाणी से समस्त वन-प्रान्तर गूँज उठा। सैन्यदल ने भी इस प्रथम पुकार को सुना। महाराज आनन्दसेन अपनी पुकार की

प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने लगे। उनकी दृष्टि अविचलित रूप में वापी पर टिक गयी। शीलावती महाराज के विश्वास के विपरीत वापी से बाहर नहीं निकली। हाँ, एक अन्य प्रतिक्रिया अवश्य हुई जिसने महाराज को तनिक चिन्तित कर दिया। महाराज को ऐसा लगने लगा था कि जैसे उनके पैर जड़ होते चले जा रहे हैं। उन्होंने गर्दन झुकाकर देखा तो पाया, वे तो घुटनों तक पत्थर के हो गये हैं। तभी उन्हें स्मरण आया कि शीलावती को तीन बार पुकारना होता है। अभी दो बारियाँ शेष हैं। उसे किसी पुकार पर तो निकलना ही होगा।

महाराज अपनी धीर-वीरता के साथ अब भी अडिग खड़े थे। पुनः उन्होंने शीलावती को पुकारा। शीलावती ने इस दूसरी पुकार की भी अनसुनी कर दी। घुटनों से ऊपर महाराज ने एक लहर-सी दौड़ती अनुभव की और वे अब कमर तक पत्थर के हो गये। एक क्षण के लिए उन्हें अपने सामन्तों के कथन में सार प्रतीत होने लगा। कहीं वे सत्य ही तो नहीं कहते थे। किन्तु प्राणों का भूखा हो कौन सकता है ''' नहीं-नहीं माँ, वह ममता की मूर्ति–भला वह ऐसा क्यों करने लगी। तभी उन्होंने तीसरी पुकार भी लगा दी। इस बार तो प्रस्तरीकरण प्रभाव गले तक आ पहुँचा। वे अब छटपटा भी नहीं सकते थे। अन्य सभी मूर्तियाँ मस्तक तक प्रस्तर की हैं। हमारे साथ ऐसा नहीं हुआ, क्यों? कदाचित् नियति अभी हम पर करुणाशील है। हमारे साथ वैसा घटित नहीं हो सकेगा, जैसा अन्य प्रत्याशियों के साथ हो चुका है। किन्तु ''''' किन्तु–हमारे साथ इतना भी हो क्यों पाया? महाराज इस प्रश्न पर चिन्तन करने लगे। सहसा उन्हें गुरु ब्रह्मानन्द की स्मृति हो आयी। उनके अधरों पर यही बुदबुदाहट थिरकने लगी–"हे गुरुदेव सहाय कीजिये ! रक्षा करो, गुरुदेव रक्षा करो !!" वे सोचने लगे कि हमने आत्म-बल के दर्प में न तो गुरुदेव का स्मरण किया, न नवकार महामंत्र का जाप ही किया। यह हमारी भारी भूल रही–कदाचित् उसी का दुष्परिणाम यह मिला है।

यह एक अद्‌भुत संयोग ही रहा कि योगी ब्रह्मानन्द अपने आश्रम में ध्यानस्थ बैठे थे। इस स्थिति में उन्हें अपने प्रिय शिष्य आनन्दसेन की स्थिति ज्ञात कर लेने की सहज भावना हुई। इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए उन्हें आनन्दसेन की यह दारुण अवस्था दिखायी दे गयी। उन्हें घोर मानसिक क्लेश हुआ। अरे, आनन्द पर तो प्राणघातक विपत्ति आयी हुई है। यह तो भला ही हुआ कि इस अवस्था में विलम्ब से ही सही, किन्तु नवकार मंत्र की सुधि उसे आ गयी, उसने आर्त्त स्वर में मुझे पुकारकर रक्षा करने की याचना

की है। मुझे ही अब कुछ करना होगा। यह सोच बाबा ने वैक्रिय लब्धि का प्रयोग किया और अदृश्य रूप में वे आनन्दसेन के समीप पहुँच गये।

"वत्स शीलावती को पुकार। अबकी बार कह कि गुरू बाबा ब्रह्मानन्द का आदेश है, बाहर निकल आओ शीलावती !"–आनन्दसेन के कानों में यह वाक्य गूँज उठा और वह आश्चर्यचकित यह सोचने लगे कि अरे यह तो गुरुदेव की ही वाणी है। बाबा परमा दयालु हैं। कृतज्ञ हृदय और भक्तिपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा–"जय गुरुदेव ! जय गुरुदेव ! आप धन्य हैं बाबा !" उन्हें बाबा कहीं दिखायी नहीं दिये। महाराज अपनी जकड़न के कारण गर्दन घुमाकर सब ओर देख भी नहीं पा रहे थे। उन्होंने समय को नष्ट करना उचित न मानकर नवकार मंत्र का मन-ही-मन जाप किया और उच्च स्वर में कहा–"शीलावती, बाबा ब्रह्मानन्द, मेरे गुरुदेव का आदेश है, शीघ्र बाहर आ जाओ।" अब वे इस पुकार के परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे। शीलावती ने यह वाक्य सुना तो सन्न रह गयी–अरे यह युवक भी मेरे गुरू बाबा ब्रह्मानन्द का ही शिष्य है–यह मैंने क्या किया ! मुझसे यह तो अनर्थ हो गया। इस विचारशीलता के कारण उसकी मंत्र-शक्ति शिथिल होने लगी। उसका अपनी क्षमता का दर्प अभी बना हुआ था। वह तो बाहर नहीं निकली किन्तु यह प्रभाव अवश्य हुआ कि महाराज के तन पर प्रस्तरीकरण का प्रभाव कंठ से उतरकर कटि तक आ गया। वे कमर के ऊपर तक पूर्ववत् हो गये। उन्हें यह देखकर भी आश्चर्य हुआ कि अन्य सभी प्रतिमाओं के साथ भी यही घटित हुआ। वे वीर पुरुष भी कमर से ऊपर-ऊपर अपने स्वाभाविक रूप में आ गये। तब पुनः नवकार मंत्र का मन-ही-मन जाप कर महाराज ने दूसरी बार वही वाक्य उच्चरित किया। इस बार मंत्रवादिनी शीलावती विचलित हो गयी। उसने अपनी मंत्र-शक्ति का प्रयोग किया और तत्क्षण ही वह बाबा के आश्रम में पहुँच गयी। बाबा अपना ध्यान समाप्त कर सहज स्थिति में आये तो देखा कि आकुल-व्याकुल शीलावती हाँफती हुई उनके चरणों में पड़ी हुई है। बाबा के मन में करुणा जागी और स्नेहार्द्र वाणी में उन्होंने कहा–"उठो शीलावती, इतनी अस्थिर क्यों हो? परिणय की कामना के साथ जो युवक तुम्हारे पास पहुँचा है वह मेरा शिष्य आनन्दसेन है, आनन्दनगर का नरेश है वह।"

"किन्तु बाबा, मैं भी तो आपकी ही शिष्या हूँ। आपने ही मुझे मंत्र-शक्ति प्रदान की है।"–सविनय निवेदन किया शीलावती ने।

"की है, मैंने ही की है।" बाबा ने कहा–"किन्तु लगता है, तुम्हें उस शक्ति के कारण अभिमान हो गया है। यह अच्छा नहीं है। अभिमान छोड़कर

विनय ग्रहण करो और जगदकल्याण में प्रवृत्त हो जाओ। पर-पीड़न में कोई चमत्कार नहीं, चमत्कार तो मानवमात्र को सुखी करने में है। तुम्हारी मंत्र-शक्ति को चाहिये कि पत्थर को भी मानव बना दे। तुम तो मानव को पत्थर बना रही हो। सँभलो शीला बेटी, सँभलो और सन्मार्ग ग्रहण करो।'' यह कहते हुए बाबा ने आशीर्वाद मुद्रा में अपना हाथ उठा दिया। शीलावती उठी। बाबा का सदुपदेश पाकर उसके गर्व में एक हल-चल अवश्य मची। चरण स्पर्श कर उसने प्रणामपूर्वक गुरुदेव की वन्दना की और तत्काल उसने वहाँ से प्रस्थान किया। उसके पास समय नहीं था। आनन्दसेन दूसरी पुकार लगाने वाला ही होगा–उसके मन में यह विचार आया।

स्फटिक वापी के अपने प्रासाद में पहुँचते-पहुँचते ही उसके कानों में आनन्दसेन की वाणी भी पहुँची। यह उसकी दूसरी पुकार थी, बाबा के आदेश के साथ। शीलावती का गर्व-गलन अभी हुआ नहीं था। वह और अधिक कठोर हो गयी। पुकार का यही प्रभाव हुआ कि महाराज आनन्दसेन भी और अन्य सभी प्रतिमाएँ भी घुटनों तक पुनः सजीव हो उठीं। तभी उत्साहित होकर महाराज ने तीसरी पुकार लगा दी–''गुरू का आदेश है शीलावती ! बाहर निकलो।'' आनन्दसेन की वाणी ने ध्वनित-प्रतिध्वनित होकर मानो चारों ओर से शीलावती को घेर लिया। वह विकल हो उठी और तब वह क्रोध के आवेश में किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी वापी के बाहर निकल आयी। उसका मुख तमतमा गया था और नासापुट फड़क रहे थे। भृकुटियाँ उसकी वक्र हो उठी थीं। कोप के आवेग से थर्राई वाणी में उसने गर्जना करते हुए कहा–''क्या है, युवक ! क्यों पुकार रहे हो मुझे? इतना चमत्कार देखकर भी क्या अभी तक जान नहीं पाये कि मेरी शक्ति कैसी और कितनी है?''

शीलावती के क्रोध और कर्कशता से सर्वथा प्रतिक्रिया-शून्य रहते हुए महाराज ने मुस्कराकर कहा–''देखी है शीलावती देखी है, तुम्हारी मंत्र-शक्ति से भी मैं अपरिचित नहीं रहा किन्तु ''''' ।''

''अपनी वाचालता पर वश करो युवक !'' गर्जनापूर्वक शीलावती ने कहा–''बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाओ। यहाँ जो भी आया है वह जीवित नहीं लौट पाया है। देखा कहाँ है तुमने अभी मेरी शक्ति को पूरी तरह। मैं अपने मंत्रों से तुम्हें भस्म कर दूँगी। अपना भला चाहते हो तो अभी भी समय है, यह वन त्यागकर चले जाओ।

''हम यों चले जाने के लिए तो नहीं आये हैं यहाँ, शीलावती।'' संयत स्वर में महाराज ने कहा–''तुम कदाचित् परिचित ही होंगी कि जिन बाबा

ब्रह्मानन्द की शिष्या तुम हो–हम भी उन्हीं के शिष्य हैं। बाबा तो हमारे लिए पिता-तुल्य हैं। उन्होंने तो जन्मते ही हमारी रक्षा की ही, उन्हीं की स्नेह-छाया में हम पले हैं। आज भी वे ही हमारे रक्षक-संरक्षक हैं। अब भली-भाँति सोच लो। भस्म कर सकोगी हमें? भस्म करना ही है तो अपने क्रोध को भस्म करो, मारना ही है तो अपने दर्प को मारो। इसी में विवेकशीलता है। हम तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। तुम्हारी प्रीतिपात्र बनना चाहते हैं; स्वामी नहीं, सहचर बनने की कामना लेकर ही हम यहाँ आये हैं। मिथ्या अहं को त्यागो, शीलावती ! और सहज बन जाओ। नष्ट करो इस अभिमान को, अन्यथा यह अभिमान तुम्हें नष्ट करके छोड़ेगा। अभिमान तनाव और दुःख का ही नहीं विनाश का कारण भी बन जाता है।"

"बन्द करो ये उपदेश देना, धृष्ट युवक !" कोप-मूर्ति शीलावती ने गर्जना की। उसके आरक्त नयन विस्फारित हो गये और वह कहने लगी– "लगता है तुम अपना भला स्वयं ही नहीं चाहते। मैंने तुम्हें सतर्क कर दिया– अब मेरा कोई दोष नहीं। मैं अपनी मंत्र-विद्या से तुम्हें ..... ।"

शीलावती के कथन-मध्य ही महाराज मुखर हो उठे–"तुम स्वतंत्र हो। जैसा चाहो, व्यवहार करो, किन्तु इतना स्मरण मैं कराये देता हूँ कि बाबा हमारे रक्षक हैं तो कोई भी हमारी हानि कभी कर नहीं सकता। प्रस्तर से हम पुनः सजीव रूप में आ ही गये हैं। हाँ, बाबा का क्रोध तुम्हें छोड़ेगा नहीं।"

इस धमकी का उस गर्वीली नारी पर कोई प्रभाव नहीं हुआ, किन्तु महाराज ने उसे उसकी पूर्व-पराजय का जो स्मरण करा दिया था, उससे वह तिलमिला उठी। "अच्छा तो देखो अब अपने दुस्साहस का दुष्परिणाम" यह कहती हुई शीलावती ने अपने नेत्र बंद किये और जोर-जोर से मंत्रोच्चारण करने लगी। महाराज ने गुरुदेव का स्मरण किया और नवकार महामंत्र का जाप करते रहे। प्रभाव न देखकर शीलावती प्रबल से प्रबलतर मंत्रों का प्रयोग करने लगी किन्तु गुरु-कृपा और नवकार महिमा से महाराज पर उनका कोई भी प्रभाव नहीं हुआ। अन्ततः शीलावती को पराजय माननी पड़ी। अहंकार विनय के समक्ष, विनाश-भावना कल्याण-भावना के समक्ष और असत् सत् के समक्ष अन्ततः पराजित होता ही है। यह पराजय थी शीलावती के दुर्द्धर्ष अहं की। वह लज्जित और संकुचित-सी निरीहावस्था में खड़ी रह गयी। महाराज अब भी प्रसन्नचित्त थे, मुस्करा रहे थे। वे अपराजित यथावत् खड़े थे। शीलावती ने आत्म-समर्पण-सा कर दिया। बोली–"आप वस्तुतः महान् हैं, आपने आज मेरी आँखें खोल दीं। मैं आज से आपकी दासी हूँ।" यह कहते हुए वह महाराज के चरणों में झुक गयी।

"दासी नहीं, सहचरी–प्राणेश्वरी शीला !" स्नेहपूर्वक महाराज ने कहा और अत्यन्त कोमलता के साथ झुकती हुई शीलावती को ऊपर उठा लिया। बोले–"शीला ! तुमने हम पर बड़ा स्नेह जताया है–हमें अपनाकर। हम कृतार्थ हुए।"

इस असामान्य सदाशयता और विनय का अतिशय गहन प्रभाव शीलावती के हृदय पर हुआ। उसने व्रीड़ा और संकोच के साथ नतनयन होते हुए कहा–"मैं अपने व्यवहार के लिए लज्जित हूँ, महाराज ! मैं इसका प्रायश्चित्त करूँगी।"

"प्रायश्चित्त सभी दुष्कर्मों को नष्ट कर देता है। प्रायश्चित्त के पीछे छिपा रहता है दुष्कर्मी का दोष-स्वीकार का भाव जो उसे पवित्र बना देता है, महान् बना देता है।" महाराज ने प्रबोधन के स्वर में कहा–"इस भावना ने तुम्हारे सारे पाप धो दिये हैं, शीला ! तुम निष्कलुष हो गयी हो।" एक क्षण के विराम के उपरान्त महाराज ने स्वर को कुछ आशान्वित करते हुए कहा–"तुम प्रायश्चित्त रूप में एक कल्याण कार्य कर दो, शीला ! इन प्रत्याशियों को तुमने पत्थर बना दिया था, तुम्हारे गर्व के कारण ही इनकी यह दुर्दशा हो गयी थी। गुरु-कृपा से ये प्रस्तरीकरण से तो मुक्त हुए, अब तुम इन्हें सजीव कर दो, इनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दो। यही तुम्हारा अमोघ प्रायश्चित्त होगा। इससे तुम्हें अडिग मानसिक शान्ति प्राप्त होगी।"

शीलावती ने झुककर महाराज को प्रणाम किया और तब नेत्र बन्द कर मंत्र-जाप करने लगी। देखते-ही-देखते सभी प्रतिमाएँ सजीव होकर अँगड़ाइयाँ लेने लगीं मानो लम्बी, गहरी नींद से ये लोग जागे हों। वे परस्पर वार्त्तालाप करने लगे। अपने समक्ष महाराज आनन्दसेन को एक नारी के साथ देखकर वे अविलम्ब ही सारी स्थिति को समझ भी गये। यह भी उन्हें स्वतः ही ज्ञात हो गया कि महाराज आनन्दसेन ही उनके उद्धारक हैं। वे आभार-भाव के साथ महाराज के समक्ष नतमस्तक हो गये। इन भावना-संकुल क्षणों में महाराज का हृदय भी अतिशय विनीत हो उठा–उन्होंने सभी पुनर्जीवित नरेशों का सम्मानपूर्वक अभिनन्दन किया और मुस्कराते हुए कहा–"हममें कोई सामर्थ्य नहीं है नृपवृन्द। आपसे भी तुच्छ हम तो साधारण प्राणी हैं। यह शिवम् तो गुरु-कृपा और शीलावती के सौहार्द्र से ही संभव हुआ है। ये दोनों भव्य हैं, ये दोनों महान् हैं। शीलावती असामान्य हैं। अपने पूर्व-रूप में भी ये असाधारण रहीं, वर्तमान रूप में भी ये साधारण नहीं हैं। ये प्रणम्य हैं। ये नमस्य हैं। सभी

नरेशों ने शीलावती को भी झुककर नमस्कार किया। मुस्कराहट के साथ शीलावती ने अभिवादन स्वीकारा और समोद कहा–"सभी का मंगल हो !"

अब यह निर्जन वन-प्रान्तर सहसा जन-संकुल हो उठा था। सर्वत्र आमोदपूर्ण वातावरण निर्मित हो उठा था। भीतर उमंग हो तो बाहर का भी सारा उल्लास पूर्ण ही दृष्टिगत होता है। मनुष्य का मन अपने ही रंग में सभी को रंग देने की अद्‌भुत क्षमता रखता है। महाराज का सैन्य-दल भी पहुँच गया। मांगल्य-भरे इस वातावरण में महाराज आनन्दसेन और शीलावती का मंगल परिणय सानन्द सम्पन्न हुआ। नृपवृन्द साक्षी स्वरूप इस महोत्सव में सम्मिलित हुआ। नवल राजदम्पति पर आशिष और मंगल कामनाओं का अभिषेक-सा होने लगा। बौराये आम्र-तरु पर कोकिल भी कूक उठी। मन्द शीतल पवन आकर इनके गात्र सहलाने लगा। तरुराजियाँ झूमने लगीं और लताएँ वृक्षों से सटकर और अधिक स्नेह जताने लगीं। मुग्ध मृगावली दूर पंक्तिबद्ध खड़ी इस मनोरम प्रसंग का आनन्द लेने लगी।

सेनाध्यक्ष ने एक अश्वारोही संदेशवाहक तुरन्त आनन्दनगर के लिए रवाना किया। महाराज आनन्दसेन अब भी सहज ही थे। सामान्यतः वे प्रसन्नचित्त ही रहा करते थे, अभी भी थे। परिवर्तन तो शीलावती में था– असामान्य परिवर्तन। अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर वह स्वयं ही गद्‌गद् हो रही थी। उसके नेत्र छलछला आये थे। ये अश्रु आन्तरिक आनन्द की अभिव्यक्ति होकर बह रहे थे। महाराज ने अपने कोमल स्पर्श से उन्हें पोंछ दिया। अश्रु धन्य हो उठे, पलकें धन्य हो उठीं और प्रथम परस पाकर स्वयं शीलावती धन्य हो उठीं।

● ●

मांगलिक संदेश पाकर आनन्दनगर के सारे राज्य में अपार हर्ष छा गया। चम्पकमाला की तो प्रसन्नता का पार ही नहीं था। उसे मनवांछित फल की प्राप्ति इस रूप में हो गयी थी। नववधू-सी सजी-सँवरी आनन्दनगरी ने नवदम्पति का उमंग के संग स्वागत किया। राजभवन का कण-कण मानो अपनी नयी स्वामिनी को पाकर नाच उठा था। जन-जन में असीम उत्साह था। चम्पकमाला की प्रफुल्लता की कोई सीमा ही नहीं रही। मंगल वाद्यों की गूँज ने उत्साह में और भी अभिवृद्धि कर दी। सारे आनन्दनगर में यदि किसी को महाराज आनन्दसेन के इस यशोवर्धन पराक्रम पर हताशा और खेद का अनुभव हुआ था तो वह अकेली सलखू दाई ही थी। महाराज ने अपने बल-विक्रम, विवेक-बुद्धि से सलखू की सारी कुयोजना को ध्वस्त कर दिया था। जब उसने सुना कि महाराज आनन्दसेन तो शीलावती के साथ विवाह कर राजधानी लौट रहे हैं, तो उसके तो हाथों के तोते ही उड़ गये। कुछ क्षणों तक उसका मुख अरे ! करके जो खुला तो खुला ही रह गया। अपलक दृष्टि से वह शून्य को ताकती रह गयी। उसकी चिन्ता का विषय यह था कि चम्पानगरी में वह रानियों को क्या उत्तर देगी। तेजस्विता रानी तो उसे जीवित नहीं छोड़ेगी। वह स्थिति तो अभी फिर भी दूर थी—अभी तो वह राज-परिवार के लोगों को आनन्दनगर में ही क्या मुँह दिखायेगी। यह तो आनन्दसेन अपने साहस और कौशल के बल पर जीवित ही नहीं सफल होकर लौट आया है—अन्यथा उसे वहाँ भेजे जाने के पीछे कुछ कुचक्र था—इसे पहचान लेना आनन्द के लिए सुगम—अति सुगम रहा होगा। अन्यजन भी इसे ताड़ ही लेंगे और तब उनके रूप में मेरी विफलता ही मेरा उपहास करेगी। मेरी यह मिथ्या प्रतिष्ठा धूल में मिल जायेगी। मुझे राज-वैरी मानकर न जाने कैसा व्यवहार किया जायेगा। उस व्यवहार में अपमान, घृणा का भाव भी हो सकता है और क्रूरता का भी। सोचते-सोचते सलखू बड़ी देरी तक स्थिर बैठी रह गयी। उसका तनावपूर्ण, झू कुंचित मुख-मण्डल आन्तरिक द्वन्द्व का सूचक

हो गया था। उसे अपने चारों ओर नैराश्य-तिमिर घिरा हुआ लगने लगा और वह मानो उसी में डूबती जा रही थी।

नवल राजदम्पति ने राजभवन में प्रवेश किया और दुंदुभियाँ बज उठीं। राजा-रानी के कंठ पुष्पहारों से बोझिल होने लगे। सब कोई माल्यार्पण द्वारा अपने मनोगत प्रसन्न स्वागत-भाव को व्यक्त करने लगे। महाराज रानी शीलावती के संग सबसे पहले सलखू के कक्ष में गये। वे सपत्नीक अभिवादन, चरण स्पर्श कर माँ की आशिष प्राप्त कर लेना चाहते थे। महाराज की यह कामना–किन्तु अपूर्ण ही रही। माँ कहीं दिखायी ही नहीं दी। तब तो सारे राजभवन में खलबली मच गयी। सब ओर सलखू की खोज आरंभ हुई। राजप्रासाद का चप्पा-चप्पा छान लिया गया, किन्तु सलखू वहाँ होती तभी तो उसका पता चल पाता। वह तो लुकती-छिपती राजभवन से बाहर निकल गयी थी और चम्पानगरी की राह पकड़कर आगे बढ़ गयी थी। सत्य है–मिथ्या के समान कायर कोई नहीं हो सकता और कुचक्र स्वयं ही अधीरता और आशंका का कारण बना रहता है।

स्वामी को माँ के विषय में इतने उद्विग्न और चिन्तित पाकर रानी शीलावती ने जिज्ञासापूर्वक जब इन माँ के विषय में विस्तार से कुछ जानना चाहा तो उन्हें बताया गया कि माँ का सर्वाधिक आदर करते हैं महाराज ! वे उन्हीं को अपनी जननी के स्थान पर मानते हैं। महाराज के गुरुदेव योगी ब्रह्मानन्द जी की बहिन जो हैं वे !

शीलावती यह परिचय पाकर सहसा चौंक उठीं। "बहिन ..... गुरुदेव की तो कोई बहिन नहीं है।"–उनके मुख से ज्यों ही यह कथन उच्चरित हुआ, महाराज तत्काल भाँप गये कि अवश्य ही यह कोई षड्यंत्र था और वह वृद्धा उसकी मुख्य संचालिका रही है। महाराज की गहन गंभीरता ने कुछ क्षणों के लिए रानी शीलावती को भी चिन्तनग्रस्त बना दिया था। वह चतुर नारी स्वतः ही महाराज के जीवन की असुरक्षा से अवगत हो गयी और सतर्कतापूर्वक उन्होंने तत्काल यह निश्चय कर लिया कि वे स्वयं ही महाराज की सुरक्षा की दिशा में सचेष्ट रहेंगी। शीलावती ने आग्रहपूर्वक निवेदन भी किया कि महाराज की यात्राओं की पूर्व सूचना उन्हें प्राप्त हो। किसी अन्य स्थल पर महाराज भोजन भी न करें। यह यदि अनिवार्य ही हो जाय तो महारानी शीलावती को इसकी भी पूर्व सूचना प्राप्त हो जाय।

महाराज आनन्दसेन अपनी धर्मपत्नी महारानी शीलावती को अपने विषय में चिन्तित जानकर प्रसन्न ही हुए। प्रिय की सुरक्षा और हित की कामना प्रीति का प्रथम लक्षण है और इस उद्देश्य से सचेष्ट हो जाना सच्चे अनुराग की दृढ़ता का द्योतक होता है। आनन्दसेन की प्रसन्नता का यही कारण भी रहा। वे जानते थे कि शीलावती महारानी अपनी मंत्र-शक्ति के प्रयोग से कोई उपाय करना चाहती हैं। उन्हें अपनी शक्ति का ही अधिक संबल था। वे अपने बाहुबल और पराक्रम-साहस पर ही विश्वास करते थे-यह सत्य है, किन्तु उन्होंने महारानी का मन रख लेना भी आवश्यक माना और अपनी सहमति उन्होंने तत्काल ही व्यक्त कर दी।

● ●

सलखू दाई ने शस्त्र डाल दिये हैं–यह जानकर रानी तेजस्विता को घोर निराशा हुई। आनन्दनगर से लौटकर सलखू ने रोते हुए रानी के पैर पकड़ लिए और गिड़गिड़ाकर कहने लगी–"मैं हार गयी रानी जी, मैंने सारे उपाय करके देख लिए हैं। उस आनन्दसेन से पार पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। यह सब-कुछ मेरे बस का अब नहीं रहा। अब तो आप ही को कोई प्रयत्न करना होगा।" सलखू तो चली गयी किन्तु बड़ी देरी तक उसका स्वर मानो कक्ष में गूँजता रहा। रानी के मन में तो और भी देरी तक सलखू के कथन का अन्तिम अंश प्रतिध्वनित होता रहा–"अब तो आपको ही कोई प्रयत्न करना होगा''''।" यह प्रतिध्वनि रानी तेजस्विता के हृदय को दृढ़तर बनाती जा रही थी। इसी समय रानी तेजस्विता के प्रासाद में महाराज चन्द्रसेन का पदार्पण हुआ।

भाव-भीना स्वागत-सत्कार कर रानी तेजस्विता ने महाराज से सहसा निवेदन किया–"स्वामी ! सुना है हमारे निकटवर्ती राज्य आनन्दनगर के महाराजा आनन्दसेन ने विवाह कर लिया है ! हमारा आपसे अनुरोध है महाराज, कि इस मांगलिक अवसर पर आनन्दनगर की नव-राजदम्पति को चम्पानगरी में आमन्त्रित किया जाय। हम रानियाँ स्वयं उनका सत्कार करना चाहेंगी। वे हमारे प्रासाद में अतिथि रहेंगे।" अत्यन्त कोमल वाणी में अनुरोध कर रानी तेजस्विता उत्सुकतापूर्वक महाराज का मुख निहारने लगी। अनुकूल और वांछित प्रतिक्रिया पाकर रानी प्रफुल्लित हो उठी। महाराज ने यह कहते हुए कि रानी ने तो उनके मुँह की बात ही छीन ली, अपनी सहमति व्यक्त की और यह भी कहा कि वे महाराज आनन्दसेन को शीघ्र ही आमंत्रित करेंगे। रानी शीलावती और बहिन चम्पकमाला भी साथ होंगी। उन्होंने यह भी कहा कि वे स्वयं आमंत्रण लेकर आनन्दनगरी जाने की सोच भी रहे हैं।

× × ×

महाराज चन्द्रसेन की आशीर्वादात्मक बधाई ने महाराज आनन्दसेन और महारानी शीलावती को गद्‌गद् कर दिया। हर्ष के अवसर पर अपने हितैषियों,

गुरुजनों का सान्निध्य बड़ा ही आनन्दप्रद होता है। इसी आनन्द की अनुभूति के साथ राजदम्पति ने सादर प्रणाम के साथ ही महाराज चन्द्रसेन के चरणों का स्पर्श किया। त्वरा के साथ उन्होंने राजा-रानी को उठाया और हाथ उठाकर आशिष दी–"जुग-जुग जीओ ! अमर रहे यह अनुपम युगल। आनन्दनगर-नरेश अक्षय कीर्ति के स्वामी बनें !" निपुणा शीलावती प्रथम दर्शन में ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी कि महाराज आनन्दसेन, इन्हीं महाराजा चन्द्रसेन के सुपुत्र हैं। इसमें कोई संदेह हो ही नहीं सकता। चम्पानगरी-नरेश ने जब यह कहा कि हमारी एक विनती है–कृपा कर इसे ठुकराइये नहीं, अवश्य स्वीकार कर लें, तो रानी ने कथन-मध्य ही तत्परतापूर्वक कहा–"विनती कैसी, महाराज ! आप पिता हैं। आज्ञा कीजिये।"

रानी शीलावती के कथन के उत्तर में, मुस्कराते हुए महाराज चन्द्रसेन ने कहा–"तुमने तो बिटिया, हमारा कार्य सुगम कर दिया है। हम स्वयं आये हैं चम्पानगरी के राजभवन का निमन्त्रण लेकर। आनन्दनगर के राज-परिवार का स्वागत-सत्कार का अवसर पाकर चम्पानगरी और वहाँ का राजकुल धन्य हो उठेगा।" महाराज स्वीकृति की अपेक्षा के साथ आनन्दसेन की ओर ताकने लगे। आनन्दसेन ने अत्यन्त विनय के साथ कहा–"कोई-कोई आमन्त्रण अनुरोध नहीं निर्देश भरा होता है, महाराज ! उसे टाला नहीं जा सकता। आपका आमन्त्रण पाकर हम कृतार्थ हुए, अभी आप विश्राम करें। बाद में इस विषय में चर्चा होगी।" इस आश्वासन से ही महाराज चन्द्रसेन का हृदय उमंगित हो उठा। वे विश्राम के लिए चल दिये।

दूरदृष्टा महारानी शीलावती ने सारे प्रसंग पर गम्भीरता के साथ विचार किया और महाराज आनन्दसेन से कहा–"आपने अच्छा ही किया, स्वामी ! कि चम्पानगरी-नरेश का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वे बड़े उत्साह के साथ आये हैं। किन्तु इस बार एकाकी आपका ही चम्पानगरी जाना उपयुक्त रहेगा। मेरा और चम्पक का साथ रहना आपके लिए अनुकूल नहीं रहेगा।" महाराज आनन्दसेन ने गम्भीरता के साथ महारानी के परामर्श पर विचार किया और मौन रह गये। वे सोचने लगे कि रानी शीलावती की दूर-दृष्टि और निर्णय-क्षमता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। उनके इस परामर्श में भी कोई सत्य और तथ्य अवश्य होगा। उन्होंने इसे स्वीकार्य और व्यवहार्य माना। चम्पानगरी में ज्ञात-अज्ञात तत्त्व उनके विरुद्ध भी हैं–इसका आभास महाराज को स्वयं भी हो चुका था और षड्यंत्र का कोई स्पष्ट कारण समक्ष न होने पर भी उसकी अशंका को नकारा नहीं जा सकता था।

चम्पानगरी में महाराज आनन्दसेन का अति भव्य राजकीय सम्मान के साथ स्वागत हुआ। मुख्य नगर द्वार पर सज्जित गजराज ने सूँड़ उठाकर प्रणामपूर्वक आवभगत की और महाराज को पुष्पहार धारण कराया। चम्पानगरी के एक सैन्य दल ने राजकीय अभिवादन प्रस्तुत किया। नगर प्रवेश के क्षण में ही महाराज आनन्दसेन तो भाव-विभोर हो उठे। नगर के मार्गों पर दोनों ओर दर्शनार्थ खड़े नागरिकों की पंक्तियाँ महाराज का जय-जयकार कर रही थीं। उच्च भवनों के खुले गवाक्षों और वातायनों से गृहणियाँ पुष्प-वर्षा करती रहीं। महाराज आनन्दसेन आनन्दमग्न से सस्मित राजप्रासाद की ओर बढ़ते चले गये। महाराज का चपल अश्व भी अपने स्वामी के इस स्वागत सम्मान से मानो गौरव का अनुभव करते हुए गम्भीर गति से अग्रसर हो रहा था। महाराज चन्द्रसेन स्वयं उनके साथ थे। स्थल-स्थल पर दुंदुभियाँ बज रही थीं। स्वागत-भावना से सज्जित तोरण द्वारों को पार करते हुए भी महाराज आनन्दसेन को विशिष्ट प्रकार का हर्षानुभव होता रहा।

रानी तेजस्विता के प्रासाद में महाराज आनन्दसेन उस प्रातःकाल में अतिथि थे। उनके प्रिय सिंह-शावक और गरुड़ पक्षी भी उनके साथ ही थे। तेजस्विता तथा अन्य रानियों ने अतिथि महाराज की आरती उतारी और मंगल-कलश द्वारा स्वागत किया। अविलम्ब ही भोज की व्यवस्था की गयी। राज्य के लब्ध प्रतिष्ठ नागरिकगण, उच्चाधिकारी, अमात्यगणादि भी आमंत्रित थे। सभी स्वर्णासनों पर स्थित अत्यन्त शोभा दे रहे थे। भोज-कक्ष विशेष रूप से सजाया गया था। पुष्पों की मनमोहक सजावट की गयी। सुगन्धित द्रव्यों और धूपादि से वातावरण गमक उठा था। महाराज आनन्दसेन का उपस्थितजनों के संग मन्द स्मिति के साथ मधुर वार्त्तालाप और विनोद चलता रहा। इसी समय महाराज सहसा ही कुछ गम्भीर हो उठे। उन्हें स्मरण आया कि महारानी शीलावती ने उन्हें आनन्दनगर में ही सतर्क किया था कि वे आनन्दनगर से प्रस्थान और चम्पानगरी में आगमन के समय की सूचना उन्हें दें। भोज्य सामग्री की सूचना भी भेजें। उन्होंने संदेश लेकर तत्काल गरुड़ को भेज दिया। सिंह-शावक महाराज के आसन के समीप ही बैठा रहा। वार्त्तालाप का सुखद क्रम चलता रहा।

इसी समय भोज-कक्ष के भीतरी भाग से सुन्दरी सेविकाएँ भोजन के थाल लिये हुए निकलीं। प्रथम थाल अतिथि महाराज आनन्दसेन के समक्ष रखा गया। मधुर वाणी में सेविका कह गयी कि अपने अतिथि के लिए स्वयं महारानी तेजस्विता ने अपनी देख-रेख में भोजन तैयार कराया है—यह थाल

तो महारानी जी ने स्वयं अपने हाथों से सजाया है और मुझे निर्देश दिया है कि यह थाल आपश्री मानेश्वर स्वयं स्वीकार करें–मैं यह निवेदन करूँ। सेविका की स्निग्ध वाणी में अद्‌भुत चेटक था। उससे निर्लिप्त रहते हुए भी महाराज को औपचारिकता का निर्वाह तो करना ही था। उन्होंने कहा–"हम तुम्हारी स्वामिनी से यह सम्मान और स्नेह पाकर कृतार्थ हुए। हम आभारी हैं–महारानी जी से निवेदन करो।" महाराज ने देखा अन्य आसनों के समक्ष रिक्त स्वर्ण थाल व अन्य पात्र रखे जा रहे हैं और बारी-बारी से उनमें भोजन परसा जा रहा है। अपने साथ किये गये अन्तर को कि उनका थाल भीतर से परसा हुआ आया है–महाराज रेखांकित कर विचारने लगे। यह अतिशय स्नेह का प्रतीक भी हो सकता है और किसी कुचक्र का क्रूर भाग भी। सम्भावना और आशंका के मध्य कुछ क्षणों तक महाराज का मन झूलता रहा। स्वर्ण पात्रों में परसा भोजन दर्शन मात्र से भी बड़ा सुन्दर, आकर्षक और सरस लग रहा था। थाल में रखे चार मोदक तो बहुत ही सुन्दर लग रहे थे। उन पर स्वर्ण पत्र का आवरण भी चढ़ा था। भोजन की सुगंध से सारा कक्ष ही मानो गमक उठा था। महाराज चन्द्रसेन ने तब अपने राजकीय अतिथि प्रियवर्य आनन्दसेन महाराज से आग्रह किया कि भोजन आरम्भ करें। एक मनमोहक मुस्कान के साथ उन्होंने आग्रह स्वीकारते हुए हाथ बढ़ाया ही था कि सहसा एक विचित्र ही घटना हो गयी। उस सभी ओर से बन्द और सुरक्षित भोज-कक्ष में जाने कहाँ से एक बड़ी भारी चील घुस आयी और उसने बड़ी त्वरा के साथ केवल एक काम किया। उसने महाराज आनन्दसेन की थाल पर झपट्टा मारा और अविलम्ब ही जैसी आयी थी वैसी ही कक्ष के बाहर चली गयी। महाराज ने देखा उनके थाल में से चारों मोदक अब लुप्त हो चुके थे। इस अनायास घटित, असंभाव्य घटना से सारी उपस्थिति में एक हलचल-सी मच गयी। महाराज आनन्दसेन ने सभी को आश्वस्त करते हुए कहा–"आइये, हम भोजन आरम्भ करें। कोई विशेष बात नहीं है। चील तो झपट्टे मारती ही रहती है। थाल में से वह वही वस्तु ले जाती है जो सबसे स्वादिष्ट होती है।" यह कहते हुए महाराज ने स्वयं भोजन आरम्भ कर दिया। शेष सभी ने उनका अनुसरण किया।

महाराज चन्द्रसेन तो भौंचक्के से रह गये थे कि सहसा यह क्या हो गया ! चील को भी इसी थाल में झपट्टा मारना था फिर वह यहाँ आयी ही कैसे ! उनके मुख पर कुछ विवर्णता छाने लगी। हतप्रभ से वे इधर-उधर ताकने लगे। उनके प्रयोजन का आभास पाकर आनन्दसेन ने उन्हें भी आश्वस्त किया–

"आप निश्चिन्त मन से भोजन करें। चील मोदक ले गयी–इसका आशय एक तो यह है कि मोदक बड़े स्वादिष्ट थे। इसका एक दूसरा संकेत भी है, महाराज ! वह, यह कि मोदक हमारे आज के आहार में सम्मिलित नहीं हैं। यही प्रारब्ध है। इसे हम स्वीकार करें और सानन्द भोजन ग्रहण करें।" अतिथि महाराज ने अतिथेय महाराज को निरुत्तर कर दिया। वे भी अब निश्चिन्त और शान्त मन से भोजन करने लगे। ऊपर से दोनों नरेश जितने स्थिर और अचंचल दिखायी दे रहे थे–भीतर से ये उतने ही अधिक उद्विग्न थे। दोनों के चिन्तन के केन्द्र पृथक्-पृथक् थे। आनन्दसेन का चिन्तन इस दिशा में चल रहा था कि मोदक में क्या था, क्यों परसे गये। चन्द्रसेन सोच रहे थे कि मोदकों को ही चील क्यों ले गयी। दोनों आत्मलीन से अन्तर्मुखी हो–भोजन करते रहे।

महाराज आनन्दसेन ने एक निश्चय भोजन करते समय ही, भीतर-ही-भीतर कर लिया था कि यहाँ अधिक समय ठहरना उपयुक्त नहीं है। घात लगाने वाला एक मोर्चे पर पराजित होकर अगला मोर्चा अधिक शक्ति के साथ बाँधता है। सम्भव है और कोई सशक्त संकट आ उपस्थित हो। गरुड़ जो संदेश लेकर आया उसके द्वारा भी रानी शीलावती का परामर्श महाराज की धारणा का समर्थन करने लगा था। विवेकशील महाराज आनन्दसेन ने इस अप्रिय घटना को भी किसी प्रकार की गम्भीरता प्रकट रूप में नहीं दी और प्रयत्नपूर्वक वे अपने व्यवहार में सहज और सामान्य बने रहे। नरेश चन्द्रसेन महाराज अवश्य ही सखेद प्रतीत हो रहे थे। यह अप्रत्याशित घटना उन्हें शिथिल कर गयी और वे तटस्थ भाव से चिन्तन करने लगे कि अन्ततः ऐसी घटना हुई क्यों? क्या यह किसी कुचक्र के निराकरण की प्राकृतिक प्रक्रिया थी? यदि वास्तव में कोई कुचक्र इसके पीछे रहा है तो इससे हीन व्यवहार अन्य कोई हो ही नहीं सकता। इस चिन्तन से महाराज बुझे-बुझे से हो गये। एक अनारोपित अपराध की सलज्जता उनके भीतर विकसित होती रहे।

भोजनोपरान्त विश्राम के क्षणों में भी महाराज आनन्दसेन प्रसन्नचित्त बने रहे। अतिथेय–चम्पानगरी-नरेश सप्रयोजन उनके साथ रहे कि अन्य कोई अप्रिय व्यवधान फिर न उठ खड़ा हो जाय। दोनों परस्पर सुखद वार्त्तालाप करते रहे। इस क्रम को सहसा अवसान पर लाते हुए महाराज आनन्दसेन ने अपने स्वागत-सत्कार के लिए धन्यवाद दिया और महाराज चन्द्रसेन से प्रस्थान की अनुमति माँगी। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि इस राज्य और राजप्रसाद में आकर उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे वे अपने घर-परिवार में ही आ गये हों। भावुकता के इन क्षणों में उनके नेत्र सहसा छलछला उठे। प्रत्युत्तर

में महाराज चन्द्रसेन कंठावरोधवश कुछ भी कह नहीं सके। उनकी वात्सल्यपूर्ण दृष्टि ने ही प्रतिक्रिया व्यक्त की। वे अपने सम्मान्य अतिथि की इस भावना से मानो कृतकृत्य हो उठे थे। अपने भावातिरेक पर सायास नियंत्रण करते हुए महाराज यही कह सके–"अभी तो राजभवन में आपके सान्निध्य से मन को तृप्ति नहीं मिल पायी है, किन्तु अतिथि की इच्छा का आदर करना हमारा परम धर्म है। वही हमारे लिए सर्वोपरि है।" महाराज स्वयं भी चाहते थे कि असुरक्षा के इस वातावरण से आनन्दसेन जितना शीघ्र बाहर निकल जायें– उतना ही उत्तम है। इस सांकेतिक अनुमति को पाकर नरेश आनन्दसेन मुस्कराते हुए उठ खड़े हुए। "सान्निध्य की इच्छा को तो हम अन्य प्रकार से भी पूर्ण कर लेंगे, चलिये महाराज ! हम भी आपके साथ चलते हैं।" यह कहते हुए महाराज चन्द्रसेन भी उठ खड़े हुए।

सच्चे स्वजन पारस्परिक साहचर्य का अवसर पाकर प्रफुल्लित हो जाते हैं। महाराज आनन्दसेन के मन में भी ऐसा ही हर्षानुभव होने लगा। प्रणाम मुद्रा में जुड़े अपने हाथों को मुक्त करते हुए महाराज आनन्दसेन ने आगे की ओर संकेत कर कहा–"चलिये तात !" और उत्तर में महाराज चन्द्रसेन ने उनसे ही आगे चलने का आग्रह किया। दोनों ही कुछ क्षणों में अश्वारूढ़ होकर आनन्दनगर की ओर बढ़ चले।

आनन्दनगर के राजप्रासाद में महाराज के सकुशल लौट आने पर महारानी शीलावती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उत्सुकतावश बहिन चम्पकमाला ने इस यात्रा के विषय में कुछ जानना चाहा और भाई आनन्दसेन ने सहर्ष सारा विवरण सुना दिया। यह प्रयास बड़ा सुखद रहा, चम्पानगरी के राजकुल ने और प्रजा ने भव्य स्वागत किया, अपार प्रेम और आदर मिला, अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन कराया गया आदि-आदि का वर्णन तो महाराज ने किया, किन्तु चील द्वारा मोदक उड़ा ले जाने का प्रसंग वे जानकर ही टाल गये। महारानी शीलावती ने तब एक गूढ़ मुस्कान के साथ प्रश्न किया–"क्या महाराज ने सब-कुछ वर्णित कर दिया है? किसी घटना को छिपाया तो नहीं?" नरेश आनन्दसेन इस पर अवाक् रह गये; क्या कहते ! तभी महारानी ने संकेत किया और एक सेविका अपने हाथों में एक थाल लेकर भीतर आयी जिस पर सुन्दर वस्त्रावरण पड़ा हुआ था। सेविका उस आवृत थाल को एक चौकी पर रखकर, प्रणाम कर, नतमस्तक बाहर चली गयी।

रानी शीलावती ने एक रहस्यमयी स्थिति के साथ महाराज से पूछा–"क्या आप बता सकते हैं, इस थाल में क्या है?" महाराज आनन्दसेन तो ऐसे

विमूढ़ हो गये थे–जैसे उनसे कोई जटिल प्रहेलिका का उत्तर देने को कह दिया गया हो। वे किसी अनुमान पर भी पहुँच नहीं पाये। महाराज चन्द्रसेन भी आश्चर्यचकित देखते रह गये। तभी रानी के संकेत पर चम्पकमाला ने थाल पर से आवरण हटा दिया। स्वर्ण थाल में चार मोदक रखे हुए थे। कुछ क्षणों तक तो दोनों नरेश इन मोदकों को देखते ही रह गये। वे मूक स्थिति में एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। उनकी दृष्टियों में एक प्रबल प्रश्नात्मकता छलक रही थी–"यह क्या ? क्या ये वे ही मोदक हैं ?"

सघन जिज्ञासा के अधीन अधीर महाराजा आनन्दसेन ने सीधा प्रश्न पूछ लिया–"ये मोदक यहाँ कैसे पहुँच गये ? चम्पानगरी में भोजन के समय ये ही मोदक मेरे थाल में परोसे गये थे। हम इन सुन्दर मोदकों की प्रशंसा कर ही रहे थे कि अनायास ही एक पक्षी इन्हें हमारे थाल से ले उड़ा था। आश्चर्य है ये यहाँ कैसे पहुँच गये ?"

महारानी शीलावती नत-दृष्टि बैठी मन्द-मन्द मुस्कराती रहीं। उनका यह व्यवहार दोनों नरेशों की उत्सुकता को सघनतर बनाता जा रहा था। हाँ, जो आत्मबल इस समय महारानी की मुखमुद्रा पर छाया हुआ था वह इस तथ्य का संकेत अवश्य करने लगा था कि इस घटना की सूत्रधारिणी वे ही रही हैं। महाराज आनन्दसेन ने पुनः अपनी जिज्ञासा प्रकट कर दी–"बताइये ना, ये मोदक यहाँ कैसे आ गये ?" इसी समय महाराज चन्द्रसेन बोल उठे–"चम्पानगरी में चील ने मोदक उठाकर जो प्रक्रिया आरम्भ की थी, उसी का समापन मोदकों के यहाँ तक पहुँचने के रूप में रही होगी–यह अनुमान तो हम सुगमता से लगा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि ऐसा हुआ क्यों ? क्यों महाराज आनन्दसेन को इन मोदकों से वंचित रखा गया ? क्या ये महाराज के लिए हानिकारक थे ? कैसे ?"

महाराज चन्द्रसेन के इस आधारभूत, मूल प्रश्न के उत्तर में रानी शीलावती ने स्वयं प्रश्न को ही और अधिक जटिल और रहस्यात्मक बना दिया। उन्होंने कहा–"यह घटना वास्तव में बड़ी रहस्यपूर्ण है, रहस्य जिज्ञासा उत्पन्न करता है और जिज्ञासा मन में एक उथल-पुथल, एक अशान्ति मचा देती है। इस उद्विग्नता को अभी आपको सहन करना होगा। उचित समय आने पर इस रहस्य का उद्घाटन भी उचित रीति से किया जायेगा। तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी–इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प है भी नहीं।

महाराज चन्द्रसेन के पास इस समय बोलने को बहुत कम और सोचने-विचारने को ही अधिक रह गया था। वे रानी शीलावती की मन्त्र

क्षमता से भी भली-भाँति परिचित थे। अब तो एक ही आशंका उनके मन में प्रबल होती जा रही थी कि ये मोदक ही किसी षड्यंत्र के माध्यम बन गये हैं। ऐसा षड्यंत्र जो महाराज आनन्दसेन के अहितार्थ रचा गया होगा। इसी कारण मोदकों को उनके थाल से हटवाया गया होगा। किन्तु हमारे राज्य में आनन्दसेन से वैमनस्य रखने वाला भला हो ही कौन सकता है, स्वयं राजमहिषियों ने ही तो आतिथ्य का भार ग्रहण किया था। क्या बाड़ ही खेतों को चरने लगी है। यदि ऐसा हुआ तो यह राजकीय प्रतिष्ठा और मर्यादा के लिए ऐसी कालिमा होगी जिसे कभी प्रक्षालित नहीं किया जा सकेगा, यह हमारे लिए घोर अपयश का कारण होगा। सोचते-सोचते वे स्वयं को बौना अनुभव करने लगे। वे कामना करने लगे कि काश वह घड़ी कभी न आए जब इस रहस्य का उद्‌घाटन हो। यह बात आयी-गयी होकर ही रह जाय तो कितना अच्छा हो ! मनुष्य कामना कुछ करता है और प्रारब्ध कुछ और ही होता है। सब-कुछ तो कर्माधीन होता है। विवेकी महाराज चन्द्रसेन सब-कुछ भवितव्य पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाने का प्रयत्न करने लगे।

● ●

कैसी अव्यावहारिक, कैसी असंभाव्य बात महारानी शीलावती ने कह दी–महाराज आनन्दसेन तो सुनकर सन्न ही रह गये। नहीं···· नहीं, यह कामना चाहे हमारी प्रियतमा, राजमहिषी ही की क्यों न हो, यह स्वीकार्य नहीं हो सकती है–यही सोचते हुए अपनी वाणी में अतिशय मृदुलता और माधुर्य मिश्रित करते हुए महाराज आनन्दसेन ने कहा–"राजरानी ! आपकी अभिलाषा है तो बहुत सुन्दर, किन्तु हमें यह अनुभव होता है कि इसकी पूर्ति नहीं हो सकती।" महाराज अपने कथन-मध्य ही रानी शीलावती की प्रतिक्रिया ज्ञात कर लेने को उनका मुख-दर्शन करने लगे। रानी में उत्तेजना न पाकर वे उत्साहित हुए और कहने लगे–"भला चम्पानगरी के समस्त नागरिकों सहित वहाँ के राजकुल को भोज दिया जाय–यह कामना आपके मन में कैसे उठी। ऐसी विराट् व्यवस्था आनन्दनगर के लिए असम्भव है। आप इस प्रस्ताव पर पुनर्विचार करें और···· "

"हमने बड़ी गम्भीरतापूर्वक इस सारे प्रसंग पर मनन किया है, सारी व्यवस्थाओं की योजना हमने पहले ही गठित कर ली है और तब आपसे अनुरोध किया है, स्वामी !" सधैर्य रानी शीलावती ने कथन किया। उनकी भाव-भंगिमा में आत्म-विश्वास तो झलक रहा था, किन्तु मिथ्या दर्प की छवि रंचमात्र भी नहीं दिखायी दे रही थी। महारानी ने कहा–"हमारा निमंत्रण चम्पानगरी के समस्त निवासियों के लिए हो–आबाल वृद्ध नर-नारी भोज में सम्मिलित हों। एक बच्चा भी सम्मिलित होने से वंचित नहीं रहे।"

"वह तो हम समझे, प्रिये ! किन्तु", महाराज ने सचिन्त मुद्रा में एक-दो क्षण विराम लेते हुए कहा–"यह संभव कैसे होगा ? फिर इस व्यापक आमंत्रण का प्रयोजन क्या है ? कहीं व्यर्थ ही में हमारी-आपकी और आनन्दनगर की प्रतिष्ठा दाँव पर न लग जाय। यदि तनिक भी व्यवस्था सम्बन्धी शिथिलता रह गयी तो बड़ी·····"

"प्रयोजन है, राजन् ! प्रयोजन है और ऐसा करना अनिवार्य हो गया है। रही बात असंभवता की" महारानी शीलावती ने कहा–"तो महाराज ! आप

उस ओर से निश्चिन्त रहें। हम स्वयं सारी व्यवस्थाओं का भार लेंगी। आश्वस्त रहें–सब-कुछ राजकुल की प्रतिष्ठा के अनुरूप भव्यता के साथ सम्पन्न होगा । यह आयोजन आनन्दनगर राज्य की प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाने वाला रहेगा । इसका ऐतिहासिक महत्त्व बन जायेगा। कृपा कर अनुमति प्रदान कर दीजिये, स्वामी !" महारानी की मुख-मुद्रा पर अनुरोध की छाया व्याप्त हो गयी।

"आप दायित्व लेती हैं–यह तो ठीक है, किन्तु आनन्दनगर की क्षमता का ही तो उपयोग आप करेंगी। हमें नहीं लगता है कि इतनी व्यापक व्यवस्था हम लोग कर सकेंगे। चादर के आकार से अधिक पैर फैलाना ठीक नहीं होगा।" –महाराज ने विचारपूर्वक कहा तो महारानी शीलावती ने उन्हें प्रबोधन के स्वर में कहा–"अब आनन्दनगर की क्षमता के साथ हमारी अपनी क्षमता भी तो जुड़ गयी है । उसे अभी आप जुड़ी हुई नहीं मान रहे हैं–इसी कारण आपको यह आयोजन असंभव प्रतीत हो रहा है। हमारे लिए कुछ भी असंभव नहीं है।" महारानी ने दृष्टि आकाश की ओर करते हुए कहा–"आप तो बस हाँ कर दीजिये। शेष सब-कुछ हम पर छोड़ दीजिये।"

महारानी का यह तर्क महाराज की दृष्टि में भी अकाट्य था। वे मन-ही-मन स्वीकार कर रहे थे कि महारानी शीलावती अपार क्षमता की स्वामिनी हैं। वे जब दायित्व स्वयं ग्रहण कर रही हैं तो कदाचित् यह विशाल उपक्रम असम्भव न रह जाय। यदि ऐसा हो सका तो यह एक चमत्कार ही होगा। महाराज ने अनुमति प्रदान कर दी। अब भी महाराज अवश्य ही संकोचग्रस्त थे, किन्तु महारानी प्रफुल्ल हो उठीं।

महाराज चन्द्रसेन आनन्दनगर के राजप्रासाद के अतिथि-गृह में ही विश्राम कर रहे थे। जब उन्हें अवगत कराया गया कि महाराज, महारानी और चम्पकमाला उनके दर्शनार्थ उपस्थित हो रहे हैं तो अद्‌भुत उत्साह के वशीभूत वे उठ बैठे। वे प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि आनन्दपुर के राजदम्पति ने आकर प्रणाम निवेदन किया। चम्पकमाला ने चरण वन्दना की और निवेदन किया–"तात ! इस समय हम एक विशेष प्रयोजन से उपस्थित हुए हैं। भाभी कुछ अनुरोध करना चाहती हैं। आप उसे स्वीकार कीजिये महाराज, नकारा मत कीजिये।"

इस भूमिका में छिपे रहस्य ने महाराज चन्द्रसेन को जिज्ञासु बना दिया। उत्साहपूर्वक उन्होंने कहा–"क्या बात है? ऐसा अद्‌भुत-अपूर्व व्यवहार कैसे ! बात क्या है बिटिया?" उत्तर में चम्पक ने ही पुनः निवेदन किया–

"आपके इस सम्बोधन ने तो मुझे भाव-विभोर कर दिया है, तात ! अब मेरा अनुरोध–आपकी पुत्री का अनुरोध आप टाल नहीं सकेंगे–यह समझ रखिये।" चन्द्रनगरी-नरेश अवाक् सुनते जा रहे थे। चम्पक अब सीधे ही अपने प्रसंग पर आयी और बोली–"आप तो बड़े ही उदार हैं, कृपया आनन्दनगर को चम्पानगरी का आतिथ्य-सत्कार करने का अवसर प्रदान करने दीजिये ना !"

महाराज चन्द्रसेन की प्रश्नवाचक भाव-भंगिमा लक्ष्य कर तब महारानी शीलावती ने बात आगे बढ़ायी–"श्रीमानेश्वर से हमारा नम्र अनुरोध यह है कि हम चन्द्रनगरी के राजकुल, अमात्य-अधिकारीगण, समस्त प्रजाजन–नर-नारी बाल-गोपाल सहित सभी को भोज पर आमंत्रित करना चाहते हैं। इससे सारे-के-सारे दोनों राज्य एक-दूसरे के समीप आएँगे, स्नेह-सम्बन्ध सुदृढ़ होंगे।"

"महाराज ! हमारा अनुरोध अस्वीकार नहीं कीजिये। हम सभी का मन और मान रख लीजिये।" महाराज आनन्दसेन ने भी तभी करबद्ध निवेदन कर दिया। महाराज चन्द्रसेन इस विचित्र आमन्त्रण से आश्चर्यचकित रह गये। "ऐसा !" महाराज के नेत्र विस्फारित हो गये और मुख अवाक् खुला-का-खुला रह गया। "आप लोगों ने तो हमें समस्या में डाल दिया है। यह अनुरोध जितने प्यार के साथ किया जा रहा है–उसे देखते हुए इसे अस्वीकार करना कठिन है, किन्तु यह आमन्त्रण व्यावहारिक भी नहीं है। इतने विशाल स्तर पर भोज का आयोजन भी तो कठिन है। कैसे होगा यह सब ! यह आमन्त्रण स्वीकार करके हम तुम्हें किसी समस्या में भी तो नहीं डाल सकते ।" कहते हुए महाराज चन्द्रसेन चिन्तित हो उठे। उनके भाल पर बल पड़ने लगे।

"नहीं महाराज ! हमारे लिए कोई समस्या नहीं होगी। सब-कुछ सहज ही व्यवस्थित हो जायेगा।" महारानी शीलावती ने कहा–"आप तो बस निश्चिन्त मन से स्वीकृति प्रदान कर दीजिये।"

"रानी शीलावती का कथन यथार्थ ही है, महाराज !" नरेश आनन्दसेन ने कहा–"आप विश्वास रखिये–इनके लिए यह तनिक भी कठिन नहीं होगा। हाँ कर दीजिये ना !"

"अब तो आपको हाँ करनी ही होगी, तात ! हम आपको अस्वीकार करने ही नहीं देंगे।" चम्पकमाला ने भी अपनी ओर से पुनः आग्रह किया। महाराज चन्द्रसेन मानो सभी ओर से घिर गये थे। अस्वीकार करना अब

उनके बस में नहीं रहा। बोले–"अच्छा ! अब जैसी आप सभी की इच्छा।" और वे उठ खड़े हुए। सभी के मुख-मण्डल पर हर्ष की दीप्ति व्याप्त हो गयी।

× × ×

भोज की तिथि समीप आ रही थी। नरेश चन्द्रसेन यह देखकर व्यग्र हो उठते कि इतने विशाल भोज का दायित्व लेकर भी रानी शीलावती निश्चिन्त और निश्चेष्ट हैं। फिर यह सब कैसे और कब होगा ! कौन करेगा सारी व्यवस्थाएँ। रानी शीलावती थीं कि हर बार आश्वस्त और निश्चिन्त रहने को कह देतीं। कहतीं कि समय पर सब-कुछ कर लिया जायेगा। सारा आयोजन भव्यता के साथ सम्पन्न होगा।

भोज का दिन आ ही गया। आकुल-व्याकुल से महाराज आनन्दसेन महारानी शीलावती के कक्ष में पहुँचे। बोले–"कल ही भोज है, चम्पानगरी से सारे अतिथि भोर में यहाँ पहुँच जायेंगे। उनके आवास-निवास की व्यवस्था होनी है, भोजन तैयार कराना है। शीलावती, आप तो बस यही रट लगाती जा रही हैं–'निश्चिन्त रहो–निश्चिन्त रहो'–किन्तु कुछ होता न देखकर भी हम निश्चिन्त रहें–यह कैसे हो सकता है ?"

"घबराइये नहीं महाराज ! हमारे कार्य में समय नहीं लगता । फिर कार्य आरम्भ हो भी गया है । देखिये, जरा इधर को आइये ....." यह कहकर महारानी उठीं और उस विशाल कक्ष के गवाक्ष की ओर बढ़ीं। महाराज ने उनका अनुसरण किया। महारानी ने एक झटके के साथ वातायन का रेशमीन परदा हटा दिया और एक ओर को हाथ का संकेत करते हुई बोलीं–"देखिये, स्वामी ! यह हमारे अतिथियों के लिए विश्राम-स्थली निर्मित की गयी है।" महाराज ने आश्चर्य के साथ देखा दूर जहाँ सघन वन था–अब वहाँ विशाल भवन थे। सारा क्षेत्र अपार आलोक से जगमगा रहा था। यह क्या रचना है ! वे गहन सोच में डूबते-उतराते रहे। तभी महारानी ने कहा–"उस ओर जहाँ अत्यधिक प्रकाश दिखायी दे रहा है–वहाँ अत्यन्त विशाल पाण्डाल है । वहीं भोज का आयोजन होगा।"

"बहुत सुन्दर है, प्रियतमे ! हम संतुष्ट हैं ।" महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा–"अब भोज की व्यवस्था भी इसी के अनुरूप सुचारु हो जाय तो चम्पानगरी और आनन्दनगर दोनों के लिए यह अवसर चिरस्मरणीय हो जाय।"

"ऐसा ही होगा, महाराज ! ऐसा ही होगा।" महारानी शीलावती ने आत्म-विश्वास के साथ कहा–"छप्पन भोग की व्यवस्था की जा रही है।

षट्रस भोजन होगा। जिसे जो व्यंजन रुचिकर होगा उसे वही परसा जायेगा।''

''हमें आपकी क्षमता और शक्ति में विश्वास है, रानी जी !'' महाराज आनन्दसेन ने संतोषपूर्वक कहा–''हम सभी अपने सम्मान्य अतिथियों के सत्कार में कोई कमी न रहने देंगे। भाँति-भाँति के पेय पदार्थों की व्यवस्था भी रहे और मुख-शुद्धि की भी पर्याप्त व्यवस्था रखी जाय। हमें विश्वास है सारा आयोजन हमारी प्रतिष्ठा और चम्पानगरी की शान के अनुरूप ही रहेगा।'' महाराज की इस आश्वस्तता से रानी शीलावती को भी प्रसन्नता हुई।

भोर में ही महाराज चन्द्रसेन का आनन्दनगर में पदार्पण हो गया। राजरानी कल्याणवती, रानी जयावती, रानी तेजस्विता और अन्य रानियाँ भी उनके साथ थीं। अमात्य और सामन्तगण, समस्त अधिकारी, कर्मचारीगण एवं सेना भी पीछे-पीछे ही पहुँचने लगी। चम्पानगरी के प्रजाजनों का भी ताँता लगा था। विश्राम-स्थली के स्वागत द्वार पर मंगल-कलश लेकर खड़ी सुन्दरी सुहागिनियों ने स्वागत किया। महाराज आनन्दसेन एवं महारानी शीलावती ने राजकुल की अगवानी की। दोनों ने माल्यार्पण किया। इस भव्य स्वागत से महाराज चन्द्रसेन और चम्पानगरी की राजमहिषियाँ गद्गद् हो उठीं। आनन्दनगर की प्रजा ने चम्पानगरी की प्रजा की स्नेहपूर्ण अगवानी की। मेल-मिलाप और भाईचारे के अद्भुत दृश्य निर्मित होने लगे। स्नान-ध्यान, विश्राम, अल्पाहारादि की सुखद व्यवस्था से समस्त अतिथि संतुष्ट थे। उन्हें घर-जैसी ही सुविधा का अनुभव होने लगा। सारी व्यवस्था में सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि अतिथियों को आनन्दनगरवासियों से अतिशय प्रेम-स्नेह मिल रहा था। आदर-भावना की न्यूनता कहीं भी नहीं अनुभव होती थी। सभी संतुष्ट थे। सुन्दर, सुस्वादु भोजन का आनन्द तो उनके लिए अद्भुत अनुभव हो गया।

महाराज चन्द्रसेन को इस भोज से सहसा उस भोज का स्मरण हो आया जो उन्होंने महाराज आनन्दसेन के सम्मान में चम्पानगरी के राजप्रासाद में आयोजित किया था। उन्हें वह आयोजन फीका-फीका लगने लगा। मोदकों की वह घटना भी उन्हें तब स्वाभाविक रूप से स्मरण हो आयी और उन्हें मन-ही-मन लघुता और संकोच का अनुभव होने लगा। आनन्दनगर के इस विशाल भोज पर से अकारणता की धुंध छँटने लगी और महाराज चन्द्रसेन को भोज के कारणों की झलक मिलने लगी। वे कल्पना करने लगे कहीं ऐसा तो नहीं कि चम्पानगरी की रानियों ने आनन्दसेन के साथ उस समय जो

व्यवहार किया, उसका कोई उत्तर देने के लिए ही आनन्दनगर की रानी ने यह आयोजन किया हो। आनन्दसेन के थाल से जो मोदक अदृश्य हो गये थे, वे रानी शीलावती के पास भी तो पहुँच गये थे। अवश्य ही यह प्रतिशोध के लिए ही····· । किन्तु आनन्दनगर के राजदम्पति के स्नेहपूर्ण व्यवहार में जो निश्छलता थी, महाराज चन्द्रसेन उससे भी कम प्रभावित नहीं हुए थे। सोचने लगे–नहीं····· नहीं, ऐसे लोग प्रतिशोध की प्रतिक्रिया में ऐसा आयोजन भला कैसे कर सकेंगे ! ये तो बड़े भले जन हैं। फिर···· फिर इतना बड़ा आयोजन क्या यों अकारण ही····। महाराज चन्द्रसेन अन्तर्द्वन्द्व में ग्रस्त बड़ी देर तक आत्मलीन हो बैठे रहे।

"महाराज की जय हो ! सदा विजय हो !!" महारानी शीलावती के जय-जयकार ने महाराज चन्द्रसेन का ध्यान भंग कर दिया। आँखें खुलीं तो महाराज ने चम्पक और शीलावती को अपने कक्ष में देखा और सहसा वे हर्षातिरेक से भर उठे। स्वागत की वाणी में बोले–"आओ···· आओ बहूरानी, आओ। चम्पक बिटिया, आओ ! बैठो। आप लोगों ने तो बड़े कौशल के साथ इतने बड़े आयोजन को बड़ी सुन्दरता के साथ सफल कर दिया है। कहो···· किधर से आ रही हो ?"

"तात, हम लोग तो अभी भीतर से ही आ रही हैं।" चम्पा ने उत्तर में कहा–"चम्पानगरी की राजमहिषियों के दर्शन करके आ रही हैं। उनके आशीर्वादों से हमारा जीवन ही सार्थक हो गया महाराज !"

"किन्तु महाराज ! यह क्या ?" तपाक से रानी शीलावती ने प्रश्न कर दिया–चम्पानगरी की बारह महारानियों के दर्शनों से तो हम निहाल हो गयीं, किन्तु महारानी विश्व-सुन्दरी जी क्यों नहीं आयीं ? अनुरोधपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा–"उन्हें भी बुलवा लीजिये न महाराज ! यदि यह अभाव रह गया तो हमारे मन में सदा के लिए एक खेद ही बना रहेगा।"

महाराज चन्द्रसेन तो विश्व-सुन्दरी का नाम सुनकर ही क्रोधित हो उठे। बोले–"उसका नाम भी न लो बहूरानी ! उसका नाम सुनकर ही हमारा रक्त उष्ण हो जाता है। उस कलंकिनी से हमारा कोई नाता नहीं। वह चम्पानगरी के राजमहिषी पद से च्युत हो गयी है। क्यों आप उसका स्मरण दिलाती हैं ?"

"न सही राजमहिषी···· महाराज, वे चम्पा की सामान्य नागरिक तो हैं ही। हमारा आमन्त्रण तो समस्त जनता के लिए आपने स्वीकार किया है। क्या इस रूप में वे भोज में सम्मिलित हो सकती हैं ?" रानी शीलावती ने अत्यन्त नम्र और मधुर वाणी में निवेदन किया।

"अब आपका आग्रह है तो हम आपको रोकेंगे भी नहीं। यदि आप बुला ही सकें तो बुला लीजिये, किन्तु विश्व-सुन्दरी का भोज में सम्मिलित होना हमें सम्भव नहीं लगता।"–महाराजा चन्द्रसेन के कथन में सार खोजने का प्रयत्न करती हुई रानी शीलावती ने पूछ लिया–"ऐसा क्यों, महाराज ! असंभव क्यों है ?" उनकी भौंहें सिकुड़ आयीं। नृपति चन्द्रसेन ने कहा–"विश्व-सुन्दरी का तो अज्ञातवास-सा चल रहा है। उनका कोई अता-पता ही नहीं। कहाँ खोजेंगी आप उन्हें।"

एक लम्बी साँस छोड़ते हुए रानी शीलावती ने कहा–"अब यह तो हमारे भाग्य पर ही निर्भर करता है। प्रयत्न करना ही तो हमारे बस में है। उसमें क्यों अभाव रहे !" महाराज ने भी उपेक्षापूर्वक कहा–"जैसी आपकी इच्छा।" बात की दिशा को बदलते हुए उन्होंने कहा–"वैसे इतने विराट् भोज जैसी असम्भव बात तो आपने संभव कर दिखायी है। आपकी लगन बड़ी सुदृढ़ है।"

"आपका आशीर्वाद है, महाराज !"–कहकर रानी ने हाथ जोड़कर नमन किया। यह अनुमति पाकर उनके मन में अमित तोष उत्पन्न हो गया । रानी विश्व-सुन्दरी की खोज करने की कोई समस्या उनके लिए नहीं थी। रानी को तो अपनी मंत्र-शक्ति का प्रयोग कर उनका आह्वान मात्र ही करना था।

महारानी ने आह्वान किया और बाबा ब्रह्मानन्द योगी का पदार्पण हुआ। काननबाला भी उनके साथ थीं। दीर्घ कालोपरान्त माँ का दास पाकर महाराज आनन्दसेन और चम्पकमाला तो निहाल ही हो गये। भक्ति-भाव के साथ दोनों ने माँ के चरण स्पर्श किये। बड़ी देर तक काननबाला भी भाव-विभोर-सी विश्राम-स्थली के एक विशेष कक्ष में बैठी रह गयी। दोनों भाई-बहिन अपनी गरिमा विस्मृत कर माँ के चरणों से लिपटे रहे। पाण्डाल में चम्पानगरी और आनन्दनगर के निवासियों का हर्षित, विशाल समुदाय जुड़ा था। बाबा के प्रवेश पर श्रद्धा-भावना से अभिभूत जनसमूह ने उनका जय-जयकार किया। महाराज चन्द्रसेन और महाराज आनन्दसेन ने बाबा की सादर अगवानी की। सभी को आशीर्वाद प्रदान करते हुए बाबा पाण्डाल के भीतर मंथर गति से आगे बढ़ते, मन्द-मन्द स्मिति के साथ बड़े भव्य और शान्त प्रतीत हो रहे थे।

भोजोपरान्त सभी अतिथियों और आनन्दनगर की प्रजाजनों की एक सभा हुई। दोनों राजकुल मंच पर आसीन थे। सभी ओर भोज की भव्यता की चर्चा होती रही। इतना विशाल होते हुए भी कितना व्यवस्थित भोज था। ऐसे स्वादिष्ट व्यंजन तो कभी किसी भोज में नहीं रहे। महारानी शीलावती के

कार्य-कौशल और पाकचातुर्य की सर्वत्र मुक्तकंठ प्रशंसा होती रही। अपार स्नेह-सौहार्द्र का वातावरण छा गया। वस्तुतः यह दो राज्यों के बन्धुत्व और मैत्री का एक अनुपम आयोजन हो गया था। स्वयं महाराजा चन्द्रसेन इस भोज में एक दिव्यता का आभास पा रहे थे। उन्हें सहसा अपने राजप्रासाद में आयोजित उस भोज की स्मृति हो आयी जो कुछ काल पूर्व ही आनन्दनगर-नरेश के सम्मान में रखा गया था। उन्हें अब भी वह घटना स्मरण थी कि एक चील कहीं से भोजन-कक्ष में घुस आयी थी और महाराज आनन्दसेन के थाल में से वह चारों मोदक ले उड़ी थी। महारानी शीलावती ने इस घटना के रहस्य को यह कहकर और भी सघन बना दिया था कि उचित अवसर आने पर इस घटना का सारा रहस्य उद्‌घाटित हो सकेगा।

कदाचित् यह अवसर उपयुक्त हो–ऐसा कल्पित करते हुए महाराज चन्द्रसेन ने महारानी शीलावती को उस घटना का स्मरण कराया और कहा–"वे मोदक महाराज आनन्दसेन के थाल से क्यों उड़ा दिये गये और वे आप तक कैसे पहुँच गये। तब से अब तक अनेक बार यह प्रश्न हमारे मानस को झकझोरता रहा है। क्या अब भी उस रहस्य के खुलने का उपयुक्त अवसर नहीं आया है ?"

महारानी तो स्वयं उस प्रसंग के छिड़ जाने की जैसे प्रतीक्षा ही कर रही थीं। उत्साहपूर्वक उन्होंने कहा–"जी, महाराज ! आपने बड़ा ही उपयुक्त प्रश्न उठाया है। उस रहस्य पर से यवनिका हटाने का इससे अधिक उपयुक्त अवसर अन्य कोई हो ही नहीं सकता है। आनन्दनगर के नरेश की थाल से मोदकों के उड़ाये जाने के पीछे एक गंभीर प्रसंग है। यह एक ऐसा प्रसंग है जिससे अनेक अन्तर्कथाएँ जुड़ी हुई हैं। हमारा अनुरोध तो हमारे परम पूज्य गुरुदेव से है। वे ही कृपा करके इस प्रसंग पर प्रकाश डालें। वे अन्तरयामी हैं, बहुज्ञ हैं, इस प्रसंग के एक-एक अंश से उनका गहन परिचय है।" यह कहकर महारानी ने प्रत्यक्षतः बाबा ब्रह्मानन्द जी योगी से प्रार्थना की–"पधारिये गुरुदेव और सभी को तुष्ट कीजिये।"

बाबा ने हाथ उठाकर अपनी सहमति प्रकट की और उठकर मंच पर कुछ आगे बढ़ आये। मन्दहासपूर्वक उन्होंने संबोधित किया–"राज्यद्वय के नृपतिगण और प्रजाजनो ! रानी शीलावती ने न जाने क्या सोचकर यह भार हमें सौंपा होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि इस कार्य से हमें प्रसन्नता है। हमें इस कथा के सभी सूत्र भली-भाँति ज्ञात हैं। हम आप सभी को विस्तारपूर्वक सब-कुछ जता देंगे।"

योगी बाबा ब्रह्मानन्द ने कुछ क्षण विराम लिया और कुछ सोचते हुए पुनः कथन आरम्भ किया–"हमें प्रसन्नता है कि आनन्दनगर के नरेश महाराज आनन्दसेन और मंत्रविद् रानी शीलावती का पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ और इस राजदम्पति का सुखमय जीवन चल रहा है। आपमें से कुछ ही लोग यह जानते होंगे कि ये दोनों ही हमारे शिष्य हैं और दोनों अपनी-अपनी विद्याओं में पारंगत हैं।" अपनी-अपनी प्रशंसा के उत्तर में महाराज और महारानी ने अपने स्थान पर बैठे हुए ही कृतज्ञता-ज्ञापित की, हाथ जोड़कर वन्दना करते हुए उन्होंने जय-जयकार किया–"जय गुरुदेव !"

बाबा ने कहा–"ऐसी सुन्दर और मनोज्ञ जोड़ी बड़ी दुर्लभ होती है। दोनों ही एक-दूसरे के योग्य हैं। प्रतीत ऐसा होता है जैसे इस संसार में दोनों एक-दूसरे के लिए ही अवतरित हुए हों।" बाबा ने इतना कहकर कुछ क्षणों का विराम लिया। सारी सभा में सन्नाटा छा गया। तभी उस महा मौन को भंग करते हुए वे पुनः मुखरित हुए। कहने लगे–"आप हम सभी जानते हैं कि शीलावती के साथ विवाह का प्रयत्न कितना भयंकर था। कितने ही पराक्रमी नरेशगण इस प्रयत्न में पत्थर की प्रतिमा बनकर रह गये थे। ऐसे में किसने महाराज आनन्दसेन को प्रेरणा दी और उनके मन में यह कामना जाग्रत कर दी। अनेक दिशाओं से ऐसे प्रयत्न का विरोध हुआ, तथापि महाराज ने राजहठ ही पकड़ ली। ऐसा जादू किसने कर दिया? इससे भी अधिक गंभीर प्रश्न यह है कि किसी ने भी ऐसा किया हो, पर इसके पीछे उसका प्रयोजन क्या रहा ? ये ही प्रश्न विवाहोपरान्त रानी शीलावती के मन में भी उत्पन्न हुए और इन्होंने इसकी खोज आरम्भ कर दी। उन्हें ज्ञात हुआ कि एक वृद्धा ने महाराज को इस हेतु उत्साहित कर दिया था। यह वृद्धा राजप्रासाद में हमारी बहिन बनकर रही। शीलावती को ज्ञात था कि हमारी कोई बहिन है ही नहीं, तो उन्हें षड्यन्त्र का सन्देह हुआ कि अवश्य ही वह महाराज के प्राणों की शत्रु थी। वह सहसा राजप्रसाद से लुप्त हो गयी, इसके पूर्व भी उसने महाराज की प्राण-हानि के कुचक्र रचे। शेरनी और गरुड़ पक्षी के समक्ष भी उसने महाराज को भेजा। इन घटनाओं ने रानी के मन के सन्देह को पुष्ट कर दिया और खोज करने पर उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि यह दुष्टा चम्पानगरी से आयी थी।"

यह सुनकर तो सलखू और रानी तेजस्विता और उसकी सहयोगिनी रानियों के प्राण ही सूख गये। उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। बाबा ब्रह्मानन्द ने एक रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा–"यह सलखू दाई चम्पानगरी के रनिवास द्वारा भेजी गयी थी। वास्तव में महाराज चन्द्रसेन की

तीसरी रानी महाराज आनन्दसेन की वैरन हो गयी थी। उसने अपनी अन्य सहयोगी रानियों को अपने साथ कर लिया और सलखू को भेजा था।" बाबा इस रोमांचक रहस्योद्घाटन के पश्चात् मौन हो गये। सभा-भवन में एक अस्पष्ट कोलाहल उठा। उपस्थित विशाल जन-समुदाय भाँति-भाँति की प्रतिक्रियाएँ देने लगा।

चम्पानगरी के भोज में मोदक की जो घटना हुई थी, आप उसके रहस्य को जान लेने को उत्सुक हैं–"यह हम भली-भाँति जानते हैं। हम यह रहस्य भी आपको अच्छी प्रकार से खोलकर बताएँगे।" पुनः एक उत्साहित स्वर को लहराते पाकर बाबा ने क्षणेक विराम लिया और महाराज चन्द्रसेन को सम्बोधित करते हुए कहने लगे–"राजन् ! आपके निमंत्रण पर महाराज आनन्दसेन को जब राजकीय भोज के लिए चम्पानगरी के राजप्रसाद में जाना था–तभी रानी शीलावती ने अपनी शक्ति का उपयोग कर यह ज्ञात कर लिया था कि रानी तेजस्विता ने आतिथ्य का भार स्वयं ग्रहण किया है। इससे उसके मन में संदेह उठा कि फिर कोई प्राणघातक कुचक्र हो सकता है। अतः महाराज आनन्दसेन ने ही आपका निमंत्रण स्वीकार किया, चम्पकमाला और स्वयं शीलावती उनके साथ नहीं आयीं। यहाँ आनन्दनगर में रहकर वे सारी गतिविधियों पर दृष्टि रखती रहीं। शीलावती को जब यह ज्ञात हो गया कि''''।" सहसा अपूर्ण अवस्था में बाबा ने अपना कथन समाप्त कर दिया। उन्होंने रानी शीलावती को संकेत किया और रानी का निर्देश पाकर सेविका मोदक की थाली लेकर उपस्थित हो गयी।

बाबा ने ये मोदक सभी को दिखाये। महाराज चन्द्रसेन ने पहचान कर कहा–"हाँ, बाबा ! हाँ, ये वे ही मोदक हैं।" तब बाबा ने जल से भरा एक पात्र मँगवाया और एक मोदक का चूरा कर जल में डाल दिया। आश्चर्य के साथ महाराज चन्द्रसेन सहसा कह उठे–"यह क्या, बाबा ! पानी का रंग तो एकदम हरा हो गया है। क्या ये मोदक विषाक्त हैं?"

"हाँ, ये मोदक विषाक्त हैं, महाराज !" बाबा ने आत्म-विश्वास के साथ कहा–"और यह बात हम आपके मुख से ही सुनना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कुचक्र किसने और क्यों किया? सब-कुछ स्वयं स्पष्ट है। चम्पानगरी की ये रानियाँ महाराज आनन्दसेन के पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई हैं। इसी कारण समय-समय पर इन्होंने अनेक प्राणघातक आक्रमण किये। चम्पानगरी के वसंतोत्सव में हाथी-मल्ल के शिष्य के रूप में जिस किशोर-मल्ल ने सर्वोपरि पराक्रम दिखाकर सम्मान पाया था, वह और कोई

नहीं, ये ही महाराज आनन्दसेन थे। इन रानियों ने मिथ्या आरोप लगाकर महाराज चन्द्रसेन को आनन्दसेन के विरुद्ध कर दिया था और हमने तब आनन्द और चम्पक को रातों-रात आश्रम से निकलकर अन्यत्र स्थल पर चले जाने का निर्देश दिया था। यह अन्य बात है कि वे आनन्दनगर के राजा हो गये और यथार्थ तो यह है कि आनन्दसेन का जन्म ही राजा होने के लिए हुआ था।"

अपनी इस कथा को फिर अपूर्ण छोड़ते हुए बाबा ने कहा–"सुनिये, अब मैं आपको एक बड़ी ही विचित्र कथा सुनाता हूँ।" मंच पर आसीन और मण्डप में उपस्थित समस्त जन कुतूहल से भर उठे। अब बाबा न जाने फिर किस रहस्य को खोलना चाहते हैं। इसी समय बाबा ने पुनः कथनारम्भ किया– "तनिक ध्यान से सुनिये। वर्षों पूर्व की चर्चा है। अर्द्ध-रात्रि के भी पश्चात् का समय रहा होगा। हम चम्पानगरी से हमारे आश्रम की ओर आ रहे थे। मार्ग सघन वनों से होकर जाता है। इसी मार्ग के समीप एक अंधकूप से नवजात शिशुओं का रुदन सुनायी दिया तो हम उस समय आश्चर्यचकित ही रह गये। हमारे मन में असीम करुणा का उद्रेक हुआ। कूप में उतरकर हमने देखा–दो नवजात शिशु रो रहे थे। हमने अपने दोनों हाथों में उन दोनों को उठाया और उन्हें बाहर ले आये। ये दोनों जुड़वाँ भाई-बहिन थे। उन्हें हम आश्रम में ले आये और पाल-पोसकर हम उन्हें बड़ा करने लगे। कुछ समय पश्चात् एक असहाय नारी काननबाला ने हमारे आश्रम में शरण ली। उस कुलीन नारी ने शिशुओं के पालन-पोषण का भार ग्रहण कर लिया। आप विश्वास करें ये ही शिशु चम्पक और आनन्दसेन हैं और ये चम्पानगरी के राजकुमार व राजकुमारी हैं, महाराज चन्द्रसेन की सन्तति हैं। और यह काननबाला और कोई नहीं, इन जुड़वाँ भाई-बहिन की जननी–रानी विश्व-सुन्दरी हैं, जिन्हें महाराज चन्द्रसेन ने कुपित होकर निष्कासित कर दिया था।"

"आओ काननबाला–महारानी विश्व-सुन्दरी मंच पर आ जाओ।" बाबा का आदेश पाकर सभा-मण्डप में पीछे कहीं लुकी-छिपी बैठी विश्व-सुन्दरी उठकर आगे बढ़ी। बड़ी शालीनता के साथ मंथर गति से वह मंच पर आयी। हर्ष-ध्वनि से जनता ने उनका स्वागत किया। "किन्तु बाबा, हमें तो बताया गया था कि रानी सुन्दरी ने ···· ।" महाराज चन्द्रसेन इतना ही कह पाये थे कि बाबा ब्रह्मानन्द ने कथन आरम्भ किया–"जी, महाराज ! शिशुओं को आश्रम में लाने के दूसरे ही दिन हमने भी यही सुना कि रानी विश्व-सुन्दरी ने गत रात्रि में ही दो श्वान-शावकों को जन्म दिया है। तब हमारा तार्किक मन इसे तथ्य और सत्य रूप में नहीं स्वीकार कर सका। हमारा मन तो इन दोनों

घटनाओं को परस्पर जोड़ने की क्रिया में लग गया। अवश्य ही इसमें भी कोई कुचक्र है। अवश्य ही यह भी कोई कुभावना का परिणाम है–हमारा मन यही कहता था और यही सत्य निकला। रानी तेजस्विता व अन्य रानियों के मन में विश्व-सुन्दरी के प्रति ईर्ष्या थी कि उन्हें चम्पानगरी को युवराज देने का गौरव मिल जायेगा। विश्व-सुन्दरी महाराज की चहेती और वे नगण्य और तुच्छ रह जायेंगी। उन्होंने ही सलखू को धन का लोभ देकर अपने पक्ष में कर लिया और''''।''

''बस'''' बाबा, बस। मेरे पापों की शेष कथा मैं स्वयं ही सुनाऊँगी।'' सभा-मण्डप में एक तीव्र स्वर गूँज उठा। सभी का ध्यान सहसा सलखू की ओर गया। सभी ने देखा कि सलखू बदहवास-सी मंच की ओर बढ़ती चली आ रही थी। अस्त-व्यस्त और बिखरे हुए अधकचरे केश, हाँफती हुई, वह गिरती-पड़ती मंच पर पहुँच गयी।

''हाँ, मैं, सलखू नाइन मैं ही हूँ। मैं ही वह पापिन हूँ'''' मुझ पर सभी लोग थूकें, मुझे जितना धिक्कारा जाय उतना ही कम है। मैंने ही ईर्ष्यालु रानियों का साथ देकर प्रपंच किया है। मुझे सातों नरकों में भी स्थान नहीं मिलेगा। मैंने राजकुल का अपराध किया है। मैं महाराज की, सारी चम्पानगरी की अपराधिन हूँ। मैं क्षमा-याचना नहीं करती। मुझे कठोरतम दण्ड मिलना चाहिए, महाराज ! जो भंयकर पाप मैंने किये हैं–उनके योग्य भला कोई दण्ड हो भी सकता है ! मेरा यही प्रायश्चित्त होगा कि मैं स्वयं ही अपने पापों को स्वीकार करती हुई अपने कुकर्मों का वर्णन करूँ।'' यह कहते हुए सलखू के नेत्रों से जलधाराएँ प्रवाहित होने लगीं। रोते-रोते उसने सारी कहानी सुना दी।

महाराज, इस अविश्वसनीय-सी प्रतीत होने वाली घटना को सुनकर अत्यन्त खेदग्रस्त हो गये। वे सोच रहे थे कि दोषी वे स्वयं थे कि उन्होंने सलखू पर विश्वास कर लिया। सलखू ने तो पाप स्वीकार कर प्रायश्चित्त कर लिया, किन्तु उनके लिए तो कदाचित् वह मार्ग भी शेष नहीं बचा। इसी समय रानी विश्व-सुन्दरी ने प्रणाम-मुद्रा में आगे बढ़कर महाराज चन्द्रसेन के चरण छू लिए। आत्म-मंथन से सहसा मुक्त होते हुए महाराज ने रानी को अपनी बाँहों पर ऊपर उठा लिया। रानी के नेत्र आनन्दाश्रुओं से परिपूरित हो उठे थे। उसकी सलज्ज पलकें अभी भी झुकी हुई थीं।

महाराज चन्द्रसेन ने सखेद कहा–''रानी विश्व-सुन्दरी ! आप धन्य हैं । आपके साथ घोर अन्याय हुआ है और उसके कर्त्ता भी स्वयं हम हैं। हम बड़े लज्जित हैं, देवी ! हमें क्षमा करें।''

"नहीं···· नहीं, महाराज ! ऐसा न कहें।" विश्व-सुन्दरी ने कहा–"दोष आपका किंचित् मात्र भी नहीं है। दोष तो मेरे अपने ही कर्मों का है। अशुभ कर्मों का अशुभ फल भोगना ही पड़ता है, महाराज ! मुझे तो प्रसन्नता इस बात की है कि अशुभ फलों का उदय भी हुआ और अब उसका अवसान भी हो गया। मैं तो महाराज, आपका स्नेह पुनः प्राप्त कर कृतार्थ हो गयी।" विश्व-सुन्दरी के नेत्र अब भी सजल थे और उसके स्वर में रुदनशीलता की गूँज थी। महाराज चन्द्रसेन ने घोषणा की–"रानी विश्व-सुन्दरी का दण्डादेश निरस्त किया जाता है। हम उन्हें चम्पानगरी की राजमहिषी के रूप में पुनः स्वीकार करते हैं।"

समस्त सभा-मण्डप में हर्ष-ध्वनि छा गयी। जनता जय-जयकार कर उठी– "महाराजा चन्द्रसेन की···· जय ! महारानी विश्व-सुन्दरी की जय····!!"

"जय-जयकार तो चम्पकमाला और आनन्दसेन की होनी चाहिए। बाबा ने सत्य ही कहा है कि आनन्दसेन राजा बनने को ही उत्पन्न हुए हैं।" महाराज चन्द्रसेन ने हाथ उठाकर कहा–"आज उन्होंने आनन्दनगर के शासक के रूप में प्रतिष्ठा पाकर चम्पानगरी को गौरवान्वित कर दिया है। उन्होंने हमें और रानी सुन्दरी को धन्य कर दिया है। हमें उनके माता-पिता कहलाते हुए गर्व है।" महाराज ने स्वयं आनन्दसेन और चम्पकमाला की जय-जयकार करवायी। समस्त सभा में अद्‌भुत उल्लास और उत्साह छा गया। इसी समय महाराज आनन्दसेन, महारानी शीलावती और चम्पकमाला ने अपने जनक-जननी के चरण स्पर्श किये। पिता चन्द्रसेन महाराज ने शीष छूकर आशिष दी और माता विश्व-सुन्दरी ने उन्हें गले से लगा लिया। ममता भरे पुनर्मिलन का अद्‌भुत दृश्य निर्मित हो गया।

रानी तेजस्विता व अन्य रानियों का भय और आतंक के मारे बुरा हाल था। उन्हें तो साक्षात् मृत्यु ही अपने समक्ष दिखायी देने लगी थी। दुष्कर्म करते समय कोई लक्ष्य सामने रहता है, उसकी पूर्ति की आशा से एक सुख का अनुभव होता है। किन्तु अन्ततः जब पाप का घड़ा फूटने को आता है, तो परिस्थिति बड़ी दारुण हो जाती है। पाप-कर्म के समय कोई जितना ही अधिक निष्पाप होने का अभिनय करता है, इस समय वह उतना ही अधिक भयातुर और लज्जित होने लगता है। ये रानियाँ भी सोचने लगीं कि यह धरती फट जाय और वे उसमें समा जायें तो कितना अच्छा हो। रानी तेजस्विता तो थर-थर काँपने लगी। उसका सारा तेज ही लुप्त हो गया था। उसका रक्ताभ मुख सहसा विवर्ण होकर पीताभ हो गया। तभी महाराज चन्द्रसेन का सशक्त स्वर मण्डप में गूँज उठा–"सलखू दाई ने विश्वासघात किया, दुष्ट रानियों की

दुष्कामनाओं की पूर्ति में सहायक बनी, निरीह विश्व-सुन्दरी रानी के कष्टों की कारण बनी, अबोध शिशुओं के प्रति निर्ममता का व्यवहार किया, बड़े होने पर भी उनके प्राणों के पीछे पड़ी रही। इसका जघन्य अपराध अवश्य ही प्राणदण्ड के योग्य है, किन्तु उसने प्रायश्चित्त किया, आगे होकर अपराध स्वीकार किया है, अतः सलखू दाई को देश निकाले का दण्ड दिया जाता है। उसे चम्पानगरी राज्य में प्रवेश की अनुमति इसी समय से नहीं दी जाय–यह आदेश है हमारा।"

"हमारा दूसरा आदेश रानी तेजस्विता और उसकी अन्य सहयोगी रानियों के लिए है।" महाराज चन्द्रसेन के इतना कहने पर ये रानियाँ हाथ जोड़े, मुँह नीचा किये काँपती-हाँफती मंच पर सामने आ खड़ी हुईं। महाराज की वाणी ने पुनः वेग पकड़ा–"ये रानियाँ नारीत्व के नाम पर महाकलंक हैं। सलखू ने तो प्रायश्चित्त किया भी है, किन्तु इनके लिए प्रायश्चित्त की कोई विधि नहीं हो सकती। इन्होंने नारी होकर भी हृदय की कोमलता और वात्सल्य-भाव से अपना सम्बन्ध तोड़ा, सौतिया डाह से दहकती रहीं, सलखू को पाप-मार्ग पर आरूढ़ किया। इन्हें प्राण-दण्ड दिया जाता है।" इतना कहकर महाराज जब मौन हुए तो उनके मुख-मण्डल पर आत्मतोष की आभा दिखायी देने लगी। कुछ ही क्षणों के विराम के पश्चात् महाराज ने रानी विश्व-सुन्दरी के विषय में कहा–"इनके साथ बड़ा अन्याय हुआ है। रानी सुन्दरी ने बड़ी सहिष्णुता के साथ सारा कष्ट का समय व्यतीत किया। किसी के भी प्रति उनके मन में कुभाव नहीं आया। हम इनकी इस समता-भावना के लिए हृदय से इनके प्रशंसक हैं। बड़ी साधना से यह क्षमता किसी में विकसित होती है। हम इनका छिना हुआ गौरव इन्हें पुनः प्रदान करते हैं। इन्होंने चम्पानगरी को उसका भावी भव्य शासक दिया, हमारे राजकुल को कुल-दीपक से अलंकृत किया। हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।" रानी विश्व-सुन्दरी के मन में भी एक विचार उमड़ रहा था। अनुकूल अवसर पाकर वे भी निवेदन करना ही चाहती थीं कि इसी समय राजरानी कल्याणवती ने सहसा हस्तक्षेप किया। महाराज चन्द्रसेन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा–"श्रीमानेश्वर ! आपके विचार बड़े ही स्तुत्य हैं। रानी विश्व-सुन्दरी के प्रति आपके मन में जो भाव हैं वे सर्वथा उपयुक्त हैं। उन्होंने जिस समता-भावना का व्यवहार किया है–क्या ही अच्छा होता आप भी इस प्रसंग में वैसा ही अनुसरण करते ! शासक के रूप में आपने न्याय ही किया है, अवश्य ये रानियाँ प्राण-दण्ड की ही पात्र हैं, किन्तु यह तो राजकाज हुआ है स्वामी, आपका। अब तनिक मानव-रूप में भी अपना व्यवहार खोजिये। आप तो समता-भावना के अप्रतिम साधक हैं।

आपकी दृष्टि में तो क्या हम और क्या ये रानियाँ, क्या रानी विश्व-सुन्दरी और क्या सलखू दाई सभी समान हैं। कोई भी आपकी अहितकारिणी नहीं। चाहे कोई हो भी–आप उसे ऐसा नहीं मानते। उपेक्षा भाव को अपनाइये महाराजश्री और इन अबोध नारियों को क्षमा-दान कीजिये। आप महान् हैं, आप द्वारा ही ऐसा व्यवहार सम्भव है।"

रानी विश्व-सुन्दरी ने राज्रानी का समर्थन किया। "महाराज की जय हो ! मेरे मन की भावना ही शब्द ग्रहण कर राजरानी जी के अधरों पर थिरक उठी है, स्वामी ! जो कुछ इन बहिनों ने किया है–आपका विचार सत्य ही है कि वह जघन्य है, अमानवीय है। किन्तु आप तो विचारशील हैं। आप यह जानते और मानते हैं कि यह व्यवहार कर्मवशात् ही हो गया। यदि इन्हें किसी भावी कष्ट या पीड़ा का आभास भी था, सौतिया डाह भी इनके मन में रहा–तो भी इन्हें ऐसा नहीं करना था, किन्तु भवितव्य ने ही इनसे ऐसा करवाया। इन्होंने अशुभ कर्मबन्ध किया तो इसके अशुभ फल इन्हें भविष्य में भोगने ही होंगे। एक ही अपराध के लिए दोहरा दण्ड नहीं मिले तो अच्छा है, महाराज !कर्मों का अशुभ फल भी भोगें और राजकीय दण्ड भी–यही दोहरा दण्ड है। इन रानियों ने मेरे और मेरी संतति के विरुद्ध अपराध किया है–यही सत्य है, किन्तु यह भी सत्य है, महाराज कि मेरे मन में इनके लिए कोई प्रतिक्रिया नहीं है। मैंने तो इन्हें क्षमा कर दिया है। कृपा कर इनके दण्डविधान पर पुनर्विचार कीजिये। इन्हें क्षमा कर दीजिये स्वामी !" रानी विश्व-सुन्दरी की मुखमुद्रा में अनुरोध का रंग व्याप्त हो गया।

इसी समय चम्पकमाला और महाराज आनन्दसेन ने भी महाराज से अनुनय की। उनकी भावना यह थी कि रानियों के द्वारा जो भी कष्ट हमें पहुँचा है–वह कष्ट तो हमारी नियति में था। हमें हमारे पूर्व कर्मानुसार यह स्थिति झेलनी ही थी। हमारी ये माताएँ तो मात्र निमित्त बन गयी हैं। यह निमित्त किसी-न-किसी को तो बनना ही था। फिर चाहे इनके मन में कितनी ही दुर्भावना क्यों न रही हो–उसका मात्र उतना ही अंश तो क्रियान्वित हो पाया–जितना हमारे लिए निर्धारित था। परिणाम यह हुआ कि हम चम्पानगरी के युवराज और राजकुमारी आज भी विद्यमान हैं।" इन्होंने जो कुछ भी किया–अज्ञानता के वशीभूत यह उनसे हो गया है, महाराज ! इन्हें क्षमा कर दिया जाय–यही हमारी विनती है।" महाराज के मन में अपनी संतति के कथन के ये अन्तिम शब्द प्रतिध्वनित होते रहे। कुछ क्षणों तक तो वे आत्मलीन से बैठे रह गये। सारी सभा में अटल नीरवता छा गयी।

बाबा ब्रह्मानन्द ने इसी समय हस्तक्षेप करते हुए कहा–"महाराज, आप तो गहन मनोमन्थन में ग्रस्त हो गये। कहिये इतने आग्रह-अनुरोधों की क्या प्रतिक्रिया है। मैंने भी ध्यान से इन सारे विचारों को सुना-समझा और उन पर मनन किया है। हमें इन विचारों में औचित्य लगा; आपका क्या कथन है, राजन्?"

"पूज्य गरुवर्य ! आपका कथन तो सदा ही हमारे लिए एक अनुसरणीय मार्गदर्शन रहा है। आपके औचित्य के अनुभव की उपेक्षा करने की धृष्टता हम करेंगे नहीं। हम विश्व-सुन्दरी रानी, महाराज आनन्दसेन, चम्पकमाला की महाशयता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। यथार्थ में ये महान् हैं जिन्होंने अपना अहित चाहने वालों के प्रति भी करुण और सदय भाव व्यक्त किया है। इन्होंने सिद्ध कर दिया है कि इनकी आत्मिक उच्चता की कोई समकक्षता नहीं है। दुर्जन के साथ भी सज्जनता का व्यवहार करना–सज्जनों का यह प्रथम कर्त्तव्य है। हम तो सचमुच में राजरानी कल्याणवती देवी के बड़े आभारी हैं। अति आरम्भ से ही हमें उन्होंने सन्मार्ग की प्रेरणा ही है। उनका परामर्श भी यही है कि इन अपराधिन रानियों को क्षमा कर दिया जाय। इन्होंने निःसन्देह जघन्य दुष्कर्म किये हैं, हमारा इतिहास तक इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता रहेगा। इन्हें···· "

महाराज का कथन अधूरा ही रह गया और आर्त्तनाद-सा करती हुई रानी तेजस्विता सहसा मंच पर आगे बढ़ आयी। उसके साथ अन्य रानियाँ भी थीं। रुदन करती हुई रानी तेजस्विता ने कहा–"हाँ···· हाँ···· महाराज, हमने घोर अपराध किया है। आपकी चहेती रानियाँ बने रहने के लोभ ने हमें जैसे दृष्टिहीन ही कर दिया था। हम करणीय-अकरणीय का सारा भेद भुला बैठीं। हमने जन्म के साथ ही विश्व-सुन्दरी रानी की संतति की हत्या की योजना बनायी थी। हमें मातृ-पद तो क्या नारीत्व का अधिकार भी नहीं है। धिक्कार है हमें, धिक्कार है हमारे कलुषित हृदयों को जिनमें यह कुभाव जन्मा और बढ़ता रहा। हमने ही सलखू दाई के सहारे आगे-से-आगे घातक योजनाएँ बनायीं। हम क्षमा के योग्य नहीं हैं महाराज, कदापि नहीं हैं। हमें दण्ड मिलना ही चाहिए–सम्भव है दण्ड ही हमारे कुकर्मों की कालिमा को कुछ फीका कर सके। हमें दण्ड दीजिये महाराज, हमें दण्ड दीजिये, हमें क्षमा न करें, हमें दण्ड दीजिये।" रानी तेजस्विता की साँस तीव्र गति से चलने लगी। वह सुबकियाँ ले-लेकर रोने लगी। सभी अन्य रानियों के नयन सजल हो उठे। सभी के मन में तीव्र अनुत्ताप था।

अब महाराज चन्द्रसेन की बारी थी। वे बोले–"हमने निर्णय कर लिया है। पुनर्विचार के पश्चात् हमने निश्चित किया है कि इन अपराधिन रानियों को मृत्युदण्ड से मुक्त कर दिया जाय। हम इन्हें राजमहिषी की गरिमा से च्युत कर इन्हें निष्कासन का दण्ड देते हैं। अब ये अनाश्रित-सी भटकती रहेंगी। चम्पानगरी राज्य में इनके लिए प्रवेश की अनुमति नहीं होगी।"

तेजस्विता व अन्य रानियाँ रानी विश्व-सुन्दरी के चरणों में गिर पड़ीं। रो-रोकर उनकी महानता का बखान करने लगीं। वे ही हैं जिनके कारण उनके प्राणों की रक्षा हुई। उन्होंने सचमुच करुणाशीलता का परिचय दिया है। रानी विश्व-सुन्दरी तो संकोच के मारे मानो धरती में गड़ी जा रही थीं–दीदी, आप यह क्या कर रही हैं? मैं तो आपकी अनुजा हूँ। ऐसा करके मुझे पाप में तो नहीं घसीटिये।" यह कहते हुए विश्व-सुन्दरी रानी ने अपने चरणों में लोटती हुई रानियों को अपनी बाहुओं में उठाने का प्रयत्न करने लगीं–"दीदी, भटका हुआ राही सन्मार्ग पर आ जाय तो उसका सारा दोष धुल जाता है। सन्मार्ग पर चलते रहने वालों की अपेक्षा वे अधिक महान् होते हैं जो कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग ग्रहण करते हैं। हमें आपसे प्रेरणा लेनी चाहिए। उठिये, आप लोग उठिये। आपने दण्ड माँगा है, क्षमा नहीं–इससे आपकी महिमा बढ़ी है।" बड़ी देरी तक रानी विश्व-सुन्दरी प्रबोधन देती रहीं, रानियों को आश्वस्त करती रहीं। सारे सभा-मण्डप में एक अलौकिक दृश्य छा गया। सभी के हृदयों में एक आवेग था, जो अब शान्त हो गया। सबके सजल नयनों से करुणा की वर्षा होने लगी। सभी के अधरों पर महाराज चन्द्रसेन की उदारता और रानी विश्व-सुन्दरी की क्षमाशीलता का बखान थिरकने लगा। सभी को तेजस्विता और रानियों के प्रति सहानुभूति हो आयी। वन-प्रान्तर से आ रही शीतल पवन का अब सभी को आभास होने लगा। सुख-शान्ति के क्षणों में ही सुखद उपादान सुख उत्पन्न कर सकते हैं। दुःखद अवस्था में तो वे ही उपादान संत्रास उत्पन्न करते हैं। अस्ताचलगामी सूर्यदेव भी इस दृश्य के मूक साक्षी बने हुए थे।

× × ×

चम्पकमाला और रानी शीलावती आनन्दनगर के राजप्रासाद के एक शृंगारित कक्ष में बैठी इस शान्त संध्या में आज दोपहर की घटनावली की विवेचना कर रही थीं। रानी विश्व-सुन्दरी चम्पकमाला के लिए नव-परिचिता तो नहीं थीं, किन्तु वे भी अब काननबाला के स्थान पर रानी विश्व-सुन्दरी हो गयी थीं। माँ वे तब भी थीं और अब भी, किन्तु इन दोनों स्थितियों में भी आत्मीयता का एक अनजाना अन्तर विकसित हो गया था। अपनी इन्हीं माता

के साथ जब महाराज आनन्दसेन ने कक्ष में प्रवेश किया तो माँ-बेटी–दोनों के अधरों पर एक सहज स्मिति फैल गयी जो हार्दिक प्रफुल्लता की द्योतक थी। रानी शीलावती ने साड़ी सिर पर तनिक आगे की ओर खिसकाई और आँचल सँभालती हुई, सम्मान में उठ खड़ी हुई। माता के आसन ग्रहण कर लेने पर सभी आसीन हुए और मोहपूर्वक वार्त्ता करने लगे। इन्हें सुख के वे दिन स्मरण आगे लगे जो आश्रम में व्यतीत हुए थे। बात और वात की स्थिति भी एक-सी रहा करती है। कुछ ही पलों में ये कहीं-से-कहीं पहुँच जाती हैं। बात चलती-चलती तेजस्विता तक पहुँच गयी। इस समय रानी तेजस्विता सभी के लिए करुणा की पात्र हो गयी थी। "हाय ! कैसी निष्ठुर नियति निकली है माँ तेजस्विता की भी। उनकी ओर तो देखे भी नहीं बनता है ''''।" चम्पकमाला यह कह ही रही थी कि इसी समय रानी तेजस्विता ने कक्ष में प्रवेश किया। सभी ने अपने आसनों से उठकर उनका स्वागत किया। "बड़ी लम्बी आयु है माँ आपकी, हम अभी-अभी आपकी ही चर्चा कर रहे थे।"–यह कहते हुए चम्पकमाला ने अपने आसन की ओर संकेत किया और बोली– "आप इधर बैठिये माँ !" और उस रिक्त आसन पर बैठती हुई तेजस्विता ने एक दीर्घ स्वाँस छोड़ा और कहा–"क्यों दुष्कामना करती हो बिटिया ! क्या करूँगी इस अभागे जीवन को लम्बा बनाकर? अब तो मृत्यु ही प्रसन्न हो जाय मुझ पर तो इस कलंकित जीवन से छुटकारा तो मिले।"

"नहीं माँ'''' क्यों ऐसी अशुभ वाणी निकालती हो।" धीरज दिलाते हुए महाराज आनन्दसेन ने कहा–"अभी तो तुम्हें अपने पुत्र-पुत्री मिले हैं, कुछ समय हमारे साथ आनन्द से रहो और बीती बातों को बिसरा दो।" आनन्दसेन महाराज की यह अपनत्व भरी वाणी उस कठोर हृदय नारी पर भी जादू कर गयी। द्रवित होकर आर्द्र कंठ से वे बोलीं–"कैसे भूलूँ, वत्स ! वह भी भला कोई भूलने की बात है ! मैंने कितना बुरा सोचा तुम लोगों के लिए और तुम'''' तुम कितने अच्छे हो''''।"–कहकर सहसा वे फफककर रोने लगीं। विश्व-सुन्दरी रानी ने उनके आँसू पोंछते हुए शान्ति दिलायी–"वत्स आनन्दसेन उचित ही कहता है, दीदी ! अब भुलाना ही होगा अतीत को और फिर से नया जीवन आरम्भ करना होगा।" रानी शीलावती ने तेजस्विता के कंधों को कोमल स्पर्श देते हुए कहा–"हमें आप अपनी ममता और दुलार दीजिये, माँ ! हमारा भी उपकार होगा और आपके दुःखी मन को भी सहारा मिलेगा। अब आप और अन्य माताएँ यहीं रहें–हमारे पास–हमारी यही विनती है।"

"नहीं बहूरानी···· नहीं···· अब ऐसा सम्भव ही नहीं रहा।" कुछ संतोष के साथ तेजस्विता ने कहा–"अब हमारे भाग्य में तो वन-वन भटकना लिखा है। निष्कासन जो मिला है हमें।" और उन्होंने एक ठंडी साँस छोड़ी। कहने लगीं–"मुझे तो साहस ही नहीं हो रहा था यहाँ आने का। बहिनों ने हठ करके मुझे यहाँ भेजा कि अपने अपराधों के लिए अपने पुत्र-पुत्री से भी क्षमा माँग लूँ। अपनी दुःखिया माँ को क्षमा कर दो वत्स, तभी हम विदा होकर कुछ संतोष के साथ जा सकेंगी। क्या कहती हो चम्पक, बिटिया? हमारे संतोष के लिए ही सही···· ।"

"किन्तु आपको जाना कहा है, माँ? रानी शीलावती ने ठीक ही अनुरोध किया है। आप सभी को अब यहीं रहना है।" महाराज आनन्दसेन अपनी बात पूर्ण भी नहीं कर पाये थे कि तेजस्विता बीच में ही बोल पड़ीं–"नहीं वत्स, हमें जाना ही होगा। निष्कासित जीवन ही अब हमारी नियति है न !"

"सत्य है माँ, पिताश्री महाराज ने निष्कासन का निर्णय दिया है। निर्णय अतर्क्य है–उसकी समीक्षा हमें नहीं करनी। वह व्यवस्था, मातुश्री ! आपके लिए पालनीय भी है, किन्तु हमारा यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि निष्कासन चम्पानगरी से ही तो हुआ है। चम्पानगरी में प्रवेश और प्रवास वर्जित है, किन्तु आनन्दनगर के लिए तो प्रतिबन्ध नहीं है। यहाँ आप निःसन्देह निवास कर सकती हैं।" सहसा सूझ आये इस तर्क पर स्वयं महाराज को भी आश्चर्य हो रहा था। उनके नेत्र अद्भुत ज्योति से जगमगा उठे। "अब आप हमारा अनुरोध अस्वीकार नहीं कर सकतीं, माँ !" महाराज ने सादर आग्रह किया।

"भैया महाराज ने उचित ही कहा है, माँ ! आप अब कहीं नहीं जायेंगी, यहीं रहेंगी हमारी सभी माताएँ।" चहकते से स्वर में चम्पकमाला ने कहा और रानी विश्व-सुन्दरी तथा रानी शीलावती ने उसका प्रबल अनुमोदन किया। अब तेजस्विता सभी ओर से ऐसी घिर गयी कि असहाय-सी वे सभी का मुख ताकने लगीं। अनुकूल अवसर पाकर महाराज ने भी इस कोमल परिस्थिति में माँ के संकोच पर सशक्त और अचूक प्रहार किया–"अब सोच-विचार किसी बात का नहीं रहा, मातुश्री ! आपको यहीं रहकर हम पर अपनी ममता और वात्सल्य की वर्षा करना है। हम अन्य माताओं को भी यहीं बुलवा लेते हैं।" "जैसी इच्छा तुम लोगों की ··।" तेजस्विता विवश-सी मात्र इतना ही कह सकीं। उनका मुख झुक गया, नेत्र सजल हो गये और अधर मुस्कान से चमक उठे। सभी के मन में उत्फुल्लता और आकाश में सिंदूरी संझा बिखर गयी।

● ●

"हे भव्य प्राणियो ! जिज्ञासु ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है जो सामयिक भी है और जो कर्म-फल की शृंखला के रहस्य-उद्घाटन की प्रेरणा भी देता है। यथार्थ यह है कि हम आज इसी विषय पर चर्चा करने की भावना भी रखते हैं।" आर्य धर्मसेन महाराज ने अपनी गंभीर वाणी में कथन किया–"जिज्ञासु ने यह प्रश्न पूछकर हमारी सहायता की है कि नरेश चन्द्रसेन और नरेश आनन्दसेन के जीवन-क्रम में घटित इन असामान्य घटनाओं का क्या रहस्य है? क्यों रानी तेजस्विता और उसकी सहयोगिनी रानियाँ और सलखू दाई राजा आनन्दसेन के प्राणों के पीछे पड़ी रहीं? क्या इसके पीछे पूर्व-भव और शुभाशुभ कर्मों का परिणाम सक्रिय रहा है? बड़ा ही अनूठा, बड़ा उत्तम प्रश्न है। साधारणजन तो जीवन की घटनाओं को उनके मूर्त्त और प्रत्यक्ष स्वरूप में ही देख पाते हैं, उनकी दृष्टि वर्तमान की यवनिका को भेदकर, उसके पार अतीत में निहित कर्म-कारणों तक नहीं पहुँच पाती। ज्ञानीजन ही इसका प्रयत्न करते हैं और वे सफल भी होते हैं। जो प्रश्न पूछा गया है–उसका उत्तर व्यापक जनहित में है, वह उत्तर हम देंगे। इससे अशुभ कर्मों के अशुभ और दुःखद परिणामों की अवश्यंभाविता स्थापित हो सकेगी और जनसामान्य को सन्मार्ग और शुभ कर्मों को अपनाने की प्रेरणा मिलेगी।" आर्य धर्मसेन महाराज ने सस्मित कथन किया–"हम आज आपको एक कथा सुनाते हैं। प्राचीनकाल में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में तिलकपुर नामक एक राज्य था। राज-काज-दक्ष नरेश संयती वहाँ के शासक थे। उनको एक मात्र संतति की प्राप्ति हुई थी। राजकुमार राघव के आचरण से वे संतुष्ट नहीं थे। उन्हें अपने उत्तराधिकारी के विषय में न तो गर्व था और न ही संतोष।" कथारंभ कर आर्य धर्मसेन कुछ क्षणों के लिए मौन हो गये। सभा में अक्षय शान्ति व्याप्त थी। सभी श्रोताओं की समग्र चेतना श्रवणेन्द्रिय में ही मानो केन्द्रित हो गयी थी।

आनन्दनगर के अद्भुत आतिथ्य से प्रभावित महाराज चन्द्रसेन आज दिन-भर की गतिविधियों की मन-ही-मन समीक्षा कर रहे थे। कर्म-तंत्र की

अद्‌भुत गति से तो वे चमत्कृत हो उठे थे। यह कर्म-गति ही तो है कि सन्तान-प्राप्ति के पश्चात् भी वर्षों तक उन्हें सन्तानहीनता का क्षोभ भी भुगतना पड़ा और विश्व-सुन्दरी जैसी सुलक्षणी रानी का वियोग भी। उन्होंने गर्व की अनुभूति के साथ सोचा–हम महाराज आनन्दसेन जैसे पराक्रमी और मनोज्ञ सुपुत्र के पिता हैं। तभी आनन्दपुर के राजोद्यान के प्रभारी के उच्च एवं उत्साहपूर्ण स्वर से चौंक उठे !

"महाराजश्री की जय हो ..... सदा विजय हो ! एक शुभ समाचार निवेदन करने को यह सेवक उपस्थित हुआ है।" करबद्ध नतमस्तक हो उद्यान-प्रभारी मौन खड़ा इसके आगे मात्र इतना कह सका–"निवेदन करने की अनुमति प्रदान करें, राजन् !" रात्रि के इस प्रथम प्रहर में महाराज चन्द्रसेन आनन्दनगर के अपने विश्राम-कक्ष में आश्चर्यचकित बैठे, यह सोचने लगे कि अब यह क्या नया शुभ प्रसंग जुटा लाया है। वे कुछ क्षण तो अनुमान करते मौन ही रह गये। यत्नपूर्वक तब वे बोले–"कहिये .... कहिये ..... अब आप क्या सुखद संवाद लाये हैं। लगता है आज का दिन ही बड़ा शुभ है। एक के पश्चात् एक शुभ रहस्य खुलते जा रहे हैं। हमें लगता है आप जो समाचार लाये हैं, वह तो इन सभी में सर्वोपरि ही होगा। कहिये .... क्या कहना चाहते हैं?"

शुभ समाचार यह है कि परम शान्त, परम सौम्य और इन्द्रियनिग्रहकर्त्ता, समुद्रवत गहन गंभीर, परम गुणशील और करुणा-निधान आर्य धर्मसेन संध्या समय ही आनन्दनगर के राजोद्यान में अपनी शिष्य-मण्डली सहित पदार्पण कर चुके हैं। यह अहोभाग्य है आनन्दनगर राज्य का, श्रीमानेश्वर ! कि धर्मावतार, ज्ञान-मूर्ति आर्यश्रेष्ठ का पदार्पण हुआ ....।"

"हम अत्यन्त प्रसन्न हुए इस समाचार से .... ।" महाराज चन्द्रसेन के मुख-मण्डल पर आन्तरिक आह्लाद की आभा झलक आयी। अहोभाग्य तो हमारा है .... प्रभारी ! हम भाग्यशाली हैं कि हमें ऐसी धर्म-विभूति के दर्शन का पुण्य लाभ होगा। अहोभाग्य तुम्हारा है कि तुम्हें यह शुभ संवाद धर्म-प्रेमियों तक पहुँचाने का अवसर मिला है। धन्य हो तुम ... धन्य है तुम्हारा कर्म ! हम अतिशय प्रसन्न हैं।" गद्‌गद् होते हुए महाराज ने कहा और अपने कंठ से मुक्ताहार उतारकर उद्यान-प्रभारी को प्रदान करते हुए वे आसन से उठ खड़े हुए और उद्यान की ओर अभिमुख होते हुए आर्य धर्मसेन महाराज की भाव-वन्दना की। नयन मुँदे हुए, अधरों में वन्दना की थिरकन, हृदय में श्रद्धा और भावों में धर्ममयता–महाराज चन्द्रसेन समग्र रूप से एक श्रद्धालुजन

की प्रतिमूर्ति-सी हो गये थे। रात्रि-भर वे धर्म-धारणा में रहे। प्रातः होते-होते सारे नगर में अद्‌भुत उल्लास व्याप्त हो गया। आनन्दनगर और चम्पानगरी के राजकुल और प्रजाजन धर्म-लाभार्थ उद्यान में एकत्र हुए। आर्य धर्मसेन महाराज का कथा-कथन चल रहा था। सभी श्रद्धासहित एकाग्र मन से भ्रमण कर रहे थे।

"महाराज अपने राज्य तिलकपुर की धर्मप्रियता पर तो गर्व करते थे, किन्तु राजकुमार राघव के कुमार्गगामी होने के तथ्य से बड़े व्यथित रहते थे। इस संताप को भी वे अपने कर्मों का फल स्वीकार करते रहे। तिलकपुर में एक सम्पन्न श्रेष्ठी-दम्पति का निवास था। श्रेष्ठी सुदत्त और उसकी पत्नी गुणसुन्दरी—दोनों ही शान्त स्वभावी और धर्माचारी थे। यह संयोग ही था कि ये दोनों स्त्री-पुरुष अत्यन्त सुन्दर थे। राजकुमार राघव की दृष्टि एक बार गुणसुन्दरी पर अटकी तो अटकी ही रह गयी। वह धृष्टता की सीमा तक आसक्ति रखता था। रसिक वह था ही। मुग्ध-भाव से वह गुणसुन्दरी को देखता रहा और उसके मानस में उसे प्राप्त कर लेने की ललक लहरा उठी। लम्पट राजकुमार राघव इस दिशा में बड़ा ही दुष्ट स्वभाव का था। उसने एक के पश्चात् एक बारह विवाह रचाये थे। वह इस प्रकार अनेक सुन्दरी राजपुत्रियों का स्वामी होते हुए भी भ्रमर-वृत्ति का था। जिस सुन्दरी पर उसका चित्त रीझ जाता—वह उसे अपना बनाने में लग जाता था। गुणसुन्दरी की कोमलता, उसका यौवन और आकर्षक सौन्दर्य ही उसका शत्रु हो गया। रसिया राघव उसके पीछे जो पड़ गया था। वह दिन-रात गुणसुन्दरी के स्वप्नों में ही खोया रहता था। उसे तो एक ही धुन, एक ही लगन थी—कैसे गुणसुन्दरी की प्राप्ति हो ! दुराचरण के लिए दुराचारियों की लगन और दुस्साहस भी अद्‌भुत होता है। सदाचारी भी कदाचित् उनकी अपेक्षा पिछड़े प्रतीत होते हैं। सत्कर्म भी वे विचारपूर्वक ही कर पाते हैं। अवसर की ताक में लगा राघव एक दिन अनुकूलता पाकर श्रेष्ठी-प्रासाद में पहुँच गया। गुणसुन्दरी एकाकी थी; सुदत्त उस समय वहाँ नहीं था। एकान्त तो उस पवन के समान होता है जो वासनानल को उद्दीप्त कर देता है। काम-ज्वर से पीड़ित राजकुमार ने धृष्टतापूर्वक गुणसुन्दरी के समक्ष प्रणय-याचना की। वह सदाचारिणी सती नारी तो राघव का यह व्यवहार देखकर ही सकते में आ गयी। परिस्थिति की विषमता अपने चरम पर थी, किन्तु उस धीरा नारी ने साहस से काम लिया। गुणसुन्दरी ने राघव को सन्मार्ग की प्रेरणा दी और कहा कि उन जैसे कुलीन जनों को ऐसा आचरण शोभा नहीं देता। राजकुमार को चाहिये कि वे तुरन्त वहाँ से चले जायें और किसी पर-नारी को कुदृष्टि से न

देखें। इस प्रकार के प्रबोधन कभी भी राघव के लिए प्रभावी नहीं रहे। वह कामांध तो अपनी ही रट लगाता रहा। जब दीन-भाव से, चाटुकारिता और अनुनय-विनय से वह गुणसुन्दरी को अपने पक्ष में नहीं कर पाया तो उसने शक्ति का प्रयोग किया। जब उसने बलपूर्वक कुचेष्टा की ठान ली तो गुणसुन्दरी का सतीत्व सतेज हो उठा। उसकी भौंहें तनकर कमान हो गयीं, रोष के वशीभूत उसके नासापुट फड़कने लगे। रतनारे नयनों से अग्नि स्फुलिंग बरसाते हुए जो गर्जनापूर्वक उसने ललकार लगाई तो राघव का सारा साहस द्रवित होकर प्रवहमान हो उठा। वह पानी-पानी हो गया और भाग खड़ा हुआ।

साँझ ढले श्रेष्ठी सुदत्त अपने आवास पर पहुँचा तो गुणसुन्दरी ने निःसंकोच सारा वृत्तान्त अपने पति को कह सुनाया। उसने यह विचार भी प्रकट किया कि अपमानित होकर राजकुमार राघव चला तो गया है, किन्तु इस पराजय के अपमान से उसकी दुर्द्धर्षता और बढ़ जायेगी, उसका दुस्साहस चरम को पहुँच गया होगा। गुणवती को आशंका थी कि राघव तो कुमार्गी है, दुराग्रही है, हठी है। वह अब अन्य प्रकार के प्रयत्न कर सकता है। नारी सामान्यतः संघर्ष के पक्ष में नहीं होती, वह उसके टल जाने की कामना और प्रयत्न करती है। यही शान्तिप्रियता का लक्षण उसमें पलायन की प्रवृत्ति का आभास करा देता है। गुणसुन्दरी भी इसकी अपवाद नहीं थी। श्रेष्ठी सुदत्त अपनी प्रिया पत्नी का कथन कुछ अधीर और कुछ संतप्त मन से, एकाग्रता के साथ सुनता चला जा रहा था। उसका मौन उसकी भीरुतापूर्ण चिन्ता का परिचायक तो नहीं था, किन्तु वह आत्म-रक्षा का मार्ग खोजने और दुष्ट राजकुमार को पाठ पढ़ाने का मनोबल संकलित करने में अवश्य लग गया था। मनुष्य के भीतर की दृढ़ता उसे बाहर से अविचल और अविकल बना देती है। सुदत्त भी धीर-गंभीर था। अपनी पत्नी के साथ हुए दुर्व्यवहार और इसकी प्रबल भावी आशंकाओं ने उसे कुपित और प्रतिशोधपूर्ण नहीं बनाया, अपितु उसमें एक विवेक जाग्रत कर दिया। पति की इस विचारशीलता को गुणसुन्दरी ने उसकी कष्टदायी चिन्ता समझा और दुःखद स्थिति से उसे मुक्त करने के प्रयोजन से उसने अपना मत व्यक्त किया और कहा–"स्वामी ! राजकुमार की दुष्टता की कोई सीमा नहीं है। वह पराजित होकर लौट तो गया है, किन्तु उस लम्पट को कोई भी पराभव निस्तेज नहीं कर पाता। ठोकर खाकर सँभल जाने वाले विवेकशीलजनों में से वह नहीं है। वह तो और प्रचण्ड होकर आ सकता है और अपनी मनोकामना के वशीभूत होकर वह कुछ भी अनर्थ कर सकता है। किसी भी विकट आपदा की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता है।"

"सत्युत है, तुम्हारे कथन में यथार्थ है, निर्मूल नहीं है तुम्हारी धारणा।" सुदत्त ने अपनी सुदीर्घ चुप्पी भंग करते हुए कहा–"किन्तु तुम .... क्या करने को कहती हो? क्या उपाय करना होगा हमें, हम कौन-सा मार्ग अपनावें?" सुदत्त के गौर-सौम्य मुख पर एक प्रश्नात्मकता बिखर गयी।

"मार्ग तो एकमेव है, नाथ ! और कुछ किया ही नहीं जा सकता– अतिरिक्त इसके कि हम इस नगर का परित्याग ही कर दें।" गुणसुन्दरी ने ऐसी त्वरा के साथ अपना मत व्यक्त कर दिया, मानो बड़ी देर से वह इस अवसर की व्यग्र प्रतीक्षा में ही रही हो। उसने कहा–"हमने बड़े जतन के साथ अपनी प्रतिष्ठा को इस नगर में विकसित किया है। इसे यहाँ रहकर नष्ट करवा देने के स्थान पर यही उपयुक्त होगा कि इसे सहेज-बटोरकर अपने साथ ले चलें, अन्यत्र किसी निरापद स्थान पर सुख-शान्ति से रहें। यह चिन्ता और तनावपूर्ण, वैभव का जीवन हमारे लिए अब सुखद नहीं रह सकेगा। जिस कुटिया में आग लग गई हो–उसे त्याग देना ही श्रेयस्कर रहता है। उस कुटिया का मोह तो घातक ही सिद्ध होगा न, स्वामी !"

"तुम कदाचित् ठीक ही कहती हो, गुणसुन्दरी !" सुदत्त ने अपनी विपरीत धारणा की स्थापना की दिशा में भी पत्नी की धारणा के अनुमोदन के साथ कथन आरंभ किया। समर्थन के इस स्वर ने पत्नी को उत्साहित किया। वह अपलक दृष्टि से पति का मुख निहारने लगी।" किन्तु क्या यह ... यह अन्तिम उपाय नहीं है? अपनी बात को प्रश्न का कोमल बाना पहनाते हुए सुदत्त ने कहा–"हमें ऐसा करने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिये। आत्म-रक्षा प्रत्येक प्राणी की सर्वप्रमुख और अति सहज प्रवृत्ति होनी ही चाहिये। किन्तु इसके लिए आपदा से दूर भागना–क्या उपयुक्त रहेगा? आपदा को समाप्त करने का प्रयत्न करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। अशुभ से आँख मींच लेना और बात है। इससे उस अमंगल का निराकरण तो नहीं होता। हम चले भी जायेंगे तो राघव की दुष्टता तो समाप्त नहीं हो जायेगी ..... इससे। हम नहीं तो कोई अन्य उसका आखेट बनेगा। भागो मत, बुराई को बदलो– हमारा यही मार्ग होना चाहिये। इसी में सभी का और स्वयं राजकुमार का भी मंगल है कि हम उसकी दुष्प्रवृत्तियों का विरोधपूर्वक सामना करें। उसके दुस्साहस को कुचलना ही होगा प्रिये ..... कुचलना ही होगा।" सुदत्त ने शून्य में स्थिर दृष्टि से ताकते हुए दृढ़तापूर्वक कहा।

सुदत्त की अभिव्यक्ति-शैली विरोध-विनाशक थी। गुणसुन्दरी में भी इससे सहमति का संचार होने लगा था। वह अपने मत से हटने लगी थी, बोली–

"आपका कथन यथार्थ ही है, स्वामी ! किन्तु उस दुष्ट की शक्ति का कोई पार ही नहीं है। हम उसका सामना कैसे कर पाएँगे? मुझे तो भीतर-ही-भीतर बड़ा भय लग रहा है।" गुणसुन्दरी की वाणी में कम्प होने लगा।

"गुणसुन्दरी, अनीति की शक्ति को दबाने के लिए बल की अपेक्षा कल की अधिक आवश्यकता रहती है। लोक-मंगल की भावना के साथ ऐसे दुष्टों को यदि छल से भी पराजित करना पड़े तो हमें इसमें पीछे नहीं रहना चाहिये। तुम निश्चिन्त और निर्भय रहो–शुभ संकल्पों की पूर्ति में तो आत्मबल और साहस ही परम सहायक सिद्ध होता है–वह है तो अन्य सहकार स्वतः ही आ जुटते हैं। आवश्यकता संकल्प के प्रति दृढ़ आस्था की है। हमें विश्वास है कि विजय हमारी होगी। अन्यथा भी जो उपाय तुमने सुझाया है–वह तो सदा ही हमारे पास रहेगा, जब चाहेंगे–उसे अपना लेंगे। भाग जाने में ..... साहस और शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती ..... प्रिये !"–यह कहते हुए श्रेष्ठी सुदत्त के मुख पर एक मुस्कान छा गयी। गुणसुन्दरी भी सलज्ज मुस्कान के साथ धरती की ओर देखने लगी। श्रेष्ठी दम्पति को अपने भीतर-बाहर एक हल्का-फुल्का वातावरण लगने लगा।

गंभीर चर्चा में कितना ही समय व्यतीत हो गया–इन्हें इसका भान ही नहीं हुआ। रात्रि काफी बीत गयी। तभी सुदत्त को कुछ आहट सुनाई दी। उसे अश्व की टापों की ध्वनि समीप आती सुनायी देने लगी। वातायन से झाँककर देखा और वह सोचने लगा कि गुणसुन्दरी का अनुमान सत्य ही था। दुष्ट राजकुमार राघव ही उस अंधेरी रात्रि में अश्वारूढ़ हो वहाँ आ पहुँचा था। उसके हाथ में लपलपाती खुली तलवार, नेत्रों में आक्रोश की ज्वाला और हृदय में दूषित कामना थी। आहत नाग-सा वह फुत्कार रहा था। गुणसुन्दरी ने आज उसकी अवमानना ही नहीं अपमान भी किया था। उसी का प्रतिशोध उसे लेना था। राजकुमार था–उसकी मनोकामना अपूर्ण कैसे रह जाती ..... वह उसे पूर्ण करके रहेगा। सुदत्त राघव के मनोभावों को भाँप गया। गुणसुन्दरी ने भी स्थिति का आकलन कर लिया था। दोनों मौन, एक-दूसरे की ओर निहारने लगे। शुभ संकल्प भी उचित अवसर पर, उचित प्रयत्नों से ही पूर्ण हो पाते हैं। विवेकहीनता के साथ, अति उत्साहित होकर कार्यारम्भ करने से सफलता संदिग्ध हो जाती है। श्रेष्ठी सुदत्त भी इस मर्म का ज्ञाता था। उसने सोच-समझकर ही कदम उठाने का निश्चय किया। उसने सर्वप्रथम तलघर में अपनी पत्नी गुणसुन्दरी को छिपा दिया और तब उसने अपने भवन के सभी खिड़की-दरवाजों को भीतर से बन्द कर लिया और स्वयं भी तलघर में छिप

गया। भवन के भीतर कोई चहल-पहल नहीं, कहीं भी प्रकाश नहीं, सब ओर से भवन बन्द था। राघव ने भवन के चारों ओर अनेक परिक्रमाएँ कीं। अन्ततः निराशा और खीझ के साथ वह राजभवन को लौट गया।

आर्यश्री कथा-कथन में दत्तचित्त थे और श्रोता-मण्डल भी एकाग्र मन से श्रवण करता चला जा रहा था। वातावरण गंभीर एवं शान्त हो चला था। आर्यश्री के विराम लेने पर तो सूखे पत्ते की खड़क भी स्पष्ट सुनायी दे जाती थी। कथा अग्रसर हुई–

भोर हुई और श्रेष्ठी-दम्पति को कुछ सान्त्वना हुई। वे तलघर से बाहर निकल आये। रात्रि की इस घटना ने अब श्रेष्ठी सुदत्त को भी अपनी पत्नी की धारणा से सहमत कर दिया था–दुष्ट राघव अपमानित और अतृप्त होने से और भी कुटिल और क्रूर हो गया है। अपनी धुन का पक्का राघव अपनी लगन को पूरा करने को कुछ भी कर सकता है। इस विश्वास ने सुदत्त को हताश नहीं बनाया। वह तो और भी यह सोचने लगा था कि अब समय खोना–जोखिम को आमंत्रित करना होगा। समस्या का निदान यथाशीघ्र ही खोज लेना अनिवार्य है। उसने इस प्रश्न पर एकाकी, गहन चिन्तन किया और शीघ्र ही उसने एक युक्ति निश्चित भी कर ली।

श्रेष्ठी सुदत्त अत्यन्त रूपवान और आकर्षक व्यक्तित्व वाला कमनीय पुरुष था। उसने संध्यापूर्व ही गुणसुन्दरी के वस्त्राभूषणों से स्वयं को सज्जित कर लिया और राजकुमार राघव के पास पहुँचा। उसे ज्ञात था कि राघव जब उसके आवास में पहुँचा और गुणसुन्दरी से भेंट की थी तब व्रीड़ावश गुणसुन्दरी पर-पुरुष के सम्मुख अवगुंठन में रही थी। स्त्री-वेशधारी सुदत्त ने भी अपना मुख आवृत रखा और स्त्रियों जैसी कोमल वाणी बनाकर बोला– "मेरे प्रियतम राजकुमार जी ..... कैसे बताऊँ कि मैं आपसे कितना प्रेम करती हूँ। आपसे क्या छिपाऊँ मैं तो आपको बहुत पहले से चाहती हूँ, किन्तु आप बड़े निष्ठुर निकले ..... आप पुरुष होकर भी साहस नहीं कर सके। मैं भला क्या कर सकती थी, अबला जो हूँ। ... आप .....।"

"गुणसुन्दरी, मैं धन्य हो गया। तुम्हारा प्रेम जिस पुरुष को प्राप्त हो जाय उसके लिए सारे संसार का वैभव भी तुच्छ हो जाता है। तुमने मेरा जीवन ही सफल कर दिया है।" राघव अत्यन्त प्रसन्न और उत्साहित हो उठा, बोला– "किन्तु फिर कल तुमने मेरे प्रणय-निवेदन को निर्दयतापूर्वक ठुकरा क्यों दिया था?"

"आप समझते क्यों नहीं, कुमार !" सुदत्त ने कहा–"प्रेमी होकर भी प्रीत की रीत नहीं जानते। यों भी भला कोई अपनी प्रेमिका से मिलने जाता है ! आप जिस प्रकार वहाँ चले आये थे, उससे तो सारा खेल ही नष्ट हो जाने का भय था। जगत् में हमारी निन्दा होती, सो पृथक् बात है। इसी कारण उस समय आपको वहाँ से हटाना आवश्यक था। आपके चरणों की दासी हूँ मैं तो । मैं स्वयं उपस्थित हो गयी हूँ।"

"गुणसुन्दरी ! सचमुच तुम गुणवती भी हो और सुन्दर भी। अब हमें अविलम्ब कृतार्थ करो, देवी !" उस अधीर राजकुमार को यह कहकर सुदत्त ने आश्वस्त किया कि रात्रि के शान्तैकान्त में पुनः आएगी और त्वरा के साथ वह स्त्री वहाँ से चल दी। सुदत्त ने तब गंध व्यवसायी का वेश बनाया और अन्तःपुर में राघव की रानियों के पास पहुँचा। इत्र की बन्द मंजूषा से भी बड़ी मोहक और तीव्र सुगंध फूटी पड़ती थी। वह रानियों को भाँति-भाँति के इत्र दिखाने लगा। मुग्धा रानियाँ इत्रों की प्रशंसा करते नहीं थकती थीं। सुदत्त भी उत्साह के साथ इत्रों की विशेषताएँ बखानता रहा। उसकी व्यवहार कुशल बुद्धि ने उसे आभास करा दिया था कि रानियाँ इत्र की अपेक्षा उसके रूप पर अधिक मोहित हैं। उसने इस आसक्ति का भरपूर लाभ उठाने की ठान ली। प्रकटतः उसने यही कहा कि उसके पास और भी अच्छे-अच्छे कई सारे इत्र हैं। रानियाँ चाहें तो अर्द्ध-रात्रि को उद्यान में पहुँच जाएँ। वह उन्हें कृतार्थ कर देगा। रानियों को सुदत्त के इस कथन से परम संतोष हुआ और उन्होंने उद्यान में पहुँच जाने का वचन दे दिया। जैसे पतिदेव चरित्र के दुर्बल थे–उनकी धर्मपत्नियाँ भी उन्हीं की अनुकृतियाँ, उनसे कुछ अधिक ही दुर्बल थीं।

आर्यश्री इस कथा को अविराम आगे बढ़ाते जा रहे थे। उन्होंने कहा–अपनी मंजूषा लेकर सुदत्त अपने प्रासाद में पहुँचा और रात्रि के प्रथम प्रहर में ही वह पुनः गुणसुन्दरी बनकर राजभवन चला गया। इस बार वह अपने साथ तीव्र सुगंधीयुक्त मदिरा अपने साथ ले गया। राघव तो गुणसुन्दरी की प्रतीक्षा में व्यग्र हो रहा था। गुणसुन्दरी को आयी जानकर वह अपने आसन से उठा ही था कि उसे मादक मदिरा की गंध ने अधीर कर दिया। वह जब उस मदिरा की प्रशंसा और उसे लाने वाली का धन्यवाद करने लगा तो सुदत्त का कार्य स्वतः ही सुगम हो गया। उसने एक के पश्चात् एक, अनेक चषक भरकर राघव को पिला दिये। वह चेतनाशून्य होकर निढाल पड़ गया। सतर्क सुदत्त तब उसे उठाकर अपने यहाँ ले आया और उसे तलघर में बंदी बना लिया। सुदत्त ने अपनी पूरी योजना बना रखी थी। उसके अनुरूप ही उसने

पुनः गंधी का वेश बनाया और मंजूषा लेकर उद्यान में पहुँचा। उद्यान में पहले से ही रानियाँ उद्विग्नता के साथ प्रतीक्षारत थीं। सुदत्त को देखा तो वे सभी एक साथ प्रसन्नता के मारे चहक उठीं। सुदत्त को विश्वास हो गया था कि रानियों की यह चहक, यह उल्लास और उमंग किसी सुवासित इत्र की चाह में नहीं है–इसके पीछे इनकी कुछ और ही मनोकामना है। वह नीतिज्ञ था और उसने रानियों की इस दुर्बलता का लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। उसने आरंभ में तो कुछ इत्रों का प्रदर्शन किया और तत्काल ही उसने प्रस्ताव किया कि रानियाँ यदि और भी सुन्दर इत्र चाहती हैं तो वे उसके साथ उसके घर पर चलें। सदत्त की आशा के अनुरूप रानियाँ तत्काल ही इस हेतु तत्पर हो गयीं। अति उत्साह के साथ वे उठ खड़ी हुईं। किसी-किसी रानी का व्यवहार तो और भी आगे बढ़ गया। वे सुदत्त का हाथ पकड़कर आगे की ओर खींचने लगीं कि शीघ्र ही प्रस्थान किया जाय। अन्य रानियाँ इन्हें पीछे धकेलकर स्वयं आगे आने का प्रयास करने लगीं। स्पष्ट ही सुदत्त ने यह अनुभव किया कि रानियाँ उतावली हो उठी हैं। वह उन्हें घर की ओर ले चला। सारे मार्ग में रानियाँ चलती जाती थीं और सुदत्त के मुख की ओर अधिक देखती जाती थीं, मार्ग की ओर कम। अपने प्रासाद में लाकर सुदत्त ने इन रानियों को भी उसी तलघर में बन्द कर दिया, जिसमें राजकुमार राघव पहले से ही बन्दी था।

आर्यश्री ने इतनी कथा कही और श्रोताओं की ओर दृष्टिपात किया। इतनी विशाल जनसभा में भी घोर शान्ति थी। सभी के मुखों पर कुतूहल और जिज्ञासा का भाव लहरा रहा था। क्षणेक विराम के पश्चात् उन्होंने कथन पुनः आरंभ किया–

इस प्रकार सुदत्त और गुणसुन्दरी–दोनों ही तात्कालिक रूप में संकट-मुक्त हो गये। जब महाराज संयत को ज्ञात हुआ कि राजकुमार राघव और उसकी सभी रानियाँ राजभवन में नहीं हैं, उनके विषय में कोई सूचना भी नहीं है, तो आरंभ में तो वे भी कुछ चिन्तित और विचलित हुए, किन्तु क्रमशः वे सामान्य होते चले गये। वे अपने पुत्र के आचरण और कर्मों से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने सोचा कि राघव होगा कहीं, अपने कर्मों का फल भोग रहा होगा। जब यह क्रम पूर्ण होगा–वह स्वयं ही लौट आएगा। किन्तु डेढ़ वर्ष व्यतीत हो गया–राघव और उसकी रानियों का कहीं पता न चला तो पितृ-हृदय अनेक प्रकार की आशंकाओं से घिरने लगा। उन्हीं दिनों तिलकपुर में केवलज्ञानी भगवान का शुभागमन हुआ। नरेश भी अपने परिवार सहित भगवान के दर्शन

और अमृतवाणी से उपकृत होने को उनके चरणों में उपस्थित हुए। सुदत्त और गुणसुन्दरी भी वहाँ पहुँचे थे। भगवान ने अपनी देशना में कर्म और कर्म-फल का विवेचन किया। कर्म अपना प्रतिफल कर्त्ता को अवश्य देता है। शुभ कर्मों का सदा सुखद रूप होता है। मनुष्य हँसते-हँसते दुष्ट प्रवृत्तियों में लगा रहता है--उस समय तो वह सुख और आनन्द का अनुभव करता है, उसे ज्ञात नहीं रहता कि जिन अशुभ कर्मों का बन्ध वह करता चला जा रहा है, इनके कुफल भी उसे ही भोगने होंगे। विवेकीजनों को चाहिये कि वे अशुभ कर्मबन्ध न करें। इसी से अमंगल नियति का निर्माण होता चला जाता है। भगवान की भाव-भरी देशना चल ही रही थी। तिलकपुर-नरेश कर्म-फल के संदर्भ में अपने राजकुमार के आचरण का चिन्तन करने लगे। श्रेष्ठी सुदत्त आत्म-निरीक्षण करने लगा। उसे स्पष्ट आभास होने लगा कि उसके कर्मों में भी अशुचिता है, वे भी शुभ नहीं रहे हैं। उसे विचार आया कि किसी प्रकार से भी उसके इस कर्म का शुभ औचित्य नहीं हो सकता है कि उसने अपने यहाँ राजकुमार राघव को उसकी रानियों के साथ इतने दीर्घ समय से बन्दी बना रखा है। उसके मन में तीव्र अनुत्ताप जाग्रत हो उठा। घर जाकर उसने इन बन्दियों को मुक्त कर दिया। राजकुमार और रानियों से उसने हाथ जोड़कर क्षमा-याचना की और विनयपूर्वक यह निवेदन भी किया कि वे भविष्य में कुमार्गों पर गमन नहीं करें, अपनी दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का परित्याग कर दें। आपके ऐसे ही आचरण से आपको मैं सतर्क करना चाहता था, अतः आपको बन्दी बनाकर रखा गया। यदि आज से आप शुभ कर्मों का संकल्प लें तो मेरा ध्येय सफल हो जाय। मेरे इस अशुभ कर्म का फल तो मुझे भोगना ही होगा। राघव और उसकी रानियों के मन में भी अपने-अपने दुष्कर्मों के लिए पश्चात्ताप होने लगा था। उन्होंने भविष्य में सदा सन्मार्गी रहने की प्रतिज्ञा की। श्रेष्ठी सुदत्त को परम संतोष हुआ। श्रेष्ठी-दम्पति ने अपने कर्मों के क्षय के प्रयोजन से साधु-जीवन अंगीकार कर लिया। संयम स्वीकार कर ये कठोर तपाराधना में लीन हो गये। उनका क्रमशः आत्मिक उत्थान होता रहा। इसी साधना में एक सुदीर्घ अवधि व्यतीत हो गयी। अनेक वर्षों पश्चात् उनका आगमन पुनः तिलकपुर में हुआ। यहाँ के नरेश उस समय राघव हो गये थे। नरेश राघव ने इन्हें देखकर ही पहचान लिया और उनके मन में अपने उस बन्दी जीवन की यातनापूर्ण अवधि की स्मृति जाग्रत हो गयी जो उसने इनके श्रेष्ठी प्रासाद में व्यतीत की थी। उसके मन में वैर और प्रतिशोध का भाव जाग्रत हो गया। परिणामतः उसने विषाक्त मोदक बहरा दिये। समता-भावना

के साथ मुनि जी महाराज और महासती जी ने आहार ग्रहण किया। मरण तो सर्वनिश्चित था ही। मरणोपरान्त वे दोनों देवलोक में प्रादुर्भूत हुए। देवलोक की अवधि के समापन पर उन्हें पुनः मानव देह प्राप्त हुई। श्रेष्ठी सुदत्त और गुणसुन्दरी के जीव ही आज के आनन्दसेन और चम्पकमाला हैं।

यह सुनकर उपस्थित जनसमुदाय में एक अद्‌भुत हर्ष-ध्वनि हुई। चमत्कृत-से श्रोताओं के मन में आनन्दसेन और चम्पकमाला के प्रति विशेष श्रद्धा-भावना प्रबल हो उठी। ये दोनों भाई-बहिन तो जैसे आश्चर्यचकित ही हो उठे। सभा में जब कुछ शान्ति पुनः लौटने लगी तो आर्यश्री ने कथनारंभ किया–

दाई सलखू नाइन अपने पूर्व-भव में कौन थी? यह जानने की उत्सुकता भी आपके मन में होगी। दुष्ट प्रवृत्ति वाला राजकुमार राघव श्रेष्ठी-दम्पति का विरोधी, वैरी रहा। इस भव में उसका जीव ही सलखू के रूप में उत्पन्न हुआ। राघव की रानियाँ ही इस भव में तेजस्विता आदि अन्य रानियाँ हुई हैं। यही कारण है कि आनन्दसेन और चम्पकमाला के प्राणों पर सदा सलखू और इन रानियों की करतूतों से संकट बना रहा। यह पूर्व-भव के वैर का ही परिणाम रहा कि सलखू ने बार-बार इतने प्राणघातक षड्‌यंत्र किये, चम्पकमाला और आनन्दसेन के पूर्व-भव के शुभ कर्मों का प्रतिफल ही यह हुआ कि सलखू का कोई भी कुचक्र प्रभावी नहीं हुआ। श्रेष्ठी सुदत्त शुभ आचरणयुक्त सज्जन पुरुष था। सभी लोग उसके प्रति शुभ कामनाएँ रखते थे। ऐसे ही दो सज्जन उसके प्रगाढ़ मित्र थे जो उसके परम हितैषी थे। पूर्व-भव के ये ही मित्र इस भव में बाबा ब्रह्मानन्द और शीलावती के रूप में आनन्दसेन और चम्पकमाला के प्राणरक्षक और हितैषी बने।

आर्य धर्मसेन महाराज ने दिव्य-देशना प्रदान करते हुए कहा–यह सारी जीवन-लीला कर्मों की ही क्रीड़ा है। पूर्व-कर्मों का नियंत्रण इह जीवन को रूपाकार देता है। भव्यजनो ! कर्मों के इस तंत्र को हृदयंगम करो। सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहो। भविष्य की श्रेष्ठता और मंगलमयता का यही एकमेव रहस्य है। यह सत्य है कि पूर्व-कृत अशुभ कर्मों का परिणाम भी अशुभ ही रहता है। मनुष्य को इस परिणाम में अनेक कष्ट भोगने होते हैं। समता-भावना के साथ, शुद्ध भाव से इस यातना को भोग लेना श्रेयस्कर रहता है। जो इस भोग के समय भी अशुभ भावना और विषमता का व्यवहार करता है, वह नये-नये अशुभ कर्मबन्ध करता चलता है। विवेकशीलता तो इसमें है कि समता का प्रश्रय न त्यागा जाय, नये अशुभ कर्मों का बंध न किया जाय।

जो ऐसा आचरण करता है उसके पूर्व-कृत कर्मों का क्षय भी संभव हो जाता है, उनकी सघनता कम होने लगती है और अशुभ फलों में न्यूनता आने लगती है।

आर्य धर्मसेन महाराज ने कर्म और कर्त्ता का विवेचन करते हुए कहा कि सामान्यजन तो कर्माधीन रहते हैं, कर्म के संकेतों पर ही वे जीवन-नर्तन करते रहते हैं, किन्तु ज्ञानी और विवेकशील जन कर्मों पर अपना नियंत्रण रखते हैं। ऐसी आत्माएँ ही कर्म और कर्म-फलों को अपने वश में कर पाती हैं। उन्हीं आत्माओं का उत्थान संभव हो पाता है। आत्मा कर्माधीन न रहकर, कर्म आत्माधीन हो जायें यह आवश्यक है और ऐसा समता की साधना से ही संभव हो सकता है। समता की साधना का प्रथम सोपान है–विषमता का परित्याग।

मंगलकारी उपदेश भी उन्हीं के लिए अधिक हितकर होते हैं जो मंगलोत्सुक होते हैं, जो इस मार्ग के अनुसरण की आन्तरिक प्रेरणा रखते हैं। समत्व का महात्म्य सुनकर बाबा ब्रह्मानन्द के मन में भी एक नयी चेतना का संचार हुआ। वे आत्म-विश्लेषण करने लगे। सोचने लगे कि वे साधक हैं अवश्य, किन्तु संसार का सर्वथा त्याग अभी हुआ नहीं है। वे सर्वविरति चारित्र्य ग्रहण करने के अभिलाषी हो उठे। इस हेतु बाबा ने अब आर्यश्री से विनती की। आर्यश्री के मत में भी बाबा ब्रह्मानन्द ने अभी अणुव्रत ही धारण कर रखा था और इस प्रकार वे श्रावक धर्म का पालन कर रहे थे। देश-चरित्रधारी ब्रह्मानन्द ने चम्पानगरी और समीपवर्ती क्षेत्र के मंगल की साधना की है। सर्वविरति की स्थिति में फिर भी वे अभी पहुँचे नहीं हैं। इस हेतु ब्रह्मानन्द के अनुरोध और जनसभा के अनुमोदन पर आर्यश्री ने उन्हें अणगार धर्म की प्रव्रज्या प्रदान की। बाबा ब्रह्मानन्द को यथार्थ सुख की अनुभूति होने लगी।

महाराज चन्द्रसेन के मन में भी विरक्ति सघन से सघनतर होती जा रही थी। इसी भावना के वशीभूत हो, उन्होंने निवेदन किया–"स्वामी ! प्रव्रज्या ग्रहण करने की तीव्र आकांक्षा मेरे मन में भी है। मैं आत्मिक उत्थान की साधना में प्रवृत्त होना चाहता हूँ। यही मेरे जीवन का चरम और परम लक्ष्य है। बाबा ब्रह्मानन्द जी की भाँति मैं स्वाधीन, स्वतंत्र नहीं हूँ। मुझे अपने वर्तमान दायित्त्वों के लिए वैकल्पिक व्यवस्थाएँ करनी हैं। राज-काज के दायित्त्वों के लिए उपयुक्त निर्वाह-व्यवस्था करनी होगी। इसके उपरान्त मैं यथाशीघ्र संयम ग्रहण करने के प्रयोजन से आपश्री के चरणों में उपस्थित

होना चाहता हूँ। श्रीमद् ! इस भक्त का भी कल्याण करें। आर्य धर्मसेन महाराज ने नृपति चन्द्रसेन की भावना का स्वागत किया और उन्हें आश्वस्त भी किया।

× × ×

चम्पानगरी में पहुँचकर महाराज चन्द्रसेन ने सभी भावी व्यवस्थाओं के लिए कार्यारंभ कर दिया। अब युवराज की प्राप्ति से समस्त चम्पानगरी प्रसन्न और संतुष्ट थी। इस उमंग में जनता ने राजधानी को भाँति-भाँति से सजा-सँवार दिया। सर्वत्र हर्ष-ही-हर्ष व्याप्त हो गया था। चम्पानगरी ने आनन्दसेन और चम्पकमाला का अति भव्यता के साथ हार्दिक स्वागत किया। मंगल वाद्यों की मधुर ध्वनि से नगर गूँज उठा। चम्पानगरी के नये नरेश के रूप में आनन्दसेन का राज्याभिषेक हुआ। महाराज चन्द्रसेन ने स्वयं उन्हें राज्यासन पर आरूढ़ किया और राजमुकुट धारण कराया। अपने समस्त दायित्वों से मुक्त महाराज चन्द्रसेन के मन में विरक्ति का भाव उत्तरोत्तर तीव्र, सघन और प्रबल होने लगा। उनका समय धर्माराधना में ही व्यतीत होने लगा।

आर्य धर्मसेन महाराज का चम्पानगरी में पदार्पण हुआ तो चन्द्रसेन को लगा कि उनकी चिरसंचित आकांक्षा की पूर्ति का समय समीप आ गया है। वे आनन्दसेन और समस्त राजकुल सहित आर्यश्री के दर्शनार्थ सभक्ति-भाव उपस्थित हुए। विशाल सभा जुट गयी थी। आर्यश्री ने उद्‌बोधन प्रदान किया–

भव्य प्राणियो ! इस जीवन के स्वभाव को समझो। मानव-जीवन तो क्षण-भंगुर है। आज यह है–सत्य है। किन्तु कब तक बना रहेगा–यह अनिश्चित है। यह बुद्‌बुद् है, पानी के तल पर बना हुआ, जो दिखायी तो देता है, किन्तु कब तक दिखेगा–कुछ कहा नहीं जा सकता। आगामी क्षण ही नष्ट हो जाय–यह भी संभव है। मानव-जीवन पल्लव की नोंक पर लटकी ओस की बूँद के समान है। कभी भी पवन का कोई झोंका आकर इसे नीचे टपका देगा। मानव-जीवन अत्यन्त मूल्यवान है। यही वह अवसर है जब आत्मा अपने कल्याणार्थ साधनारत रह सकती है–अन्य योनियों में यह संभावना नहीं रहती। यह जीवन पाकर भी जो आत्म-कल्याण की साधना नहीं करता, वह व्यर्थ ही इस अवसर को खो देता है। वही सफल कहलाता है जिसने जीवन का सदुपयोग कर लिया। यह सदुपयोग भी अनिश्चित मरण के पूर्व ही किया जा सकता है। अतः समय को व्यर्थ खोते रहने वाले को पछतावा ही हाथ लगता है। क्षण-प्रतिक्षण भव्य प्राणी आत्मोत्थान की साधना में रत रहता है–यही सज्ञान मानवों का मार्ग है, यही जीवन की सार्थकता है।

आर्यश्री के शब्दों में मानो चन्द्रसेन का मनोभाव ही मुखरित हो रहा था। इस प्रबल, बाह्य अनुमोदन से उनका चित्तस्थ वैराग्य-भाव और भी सशक्त हो उठा। भावविभोर-से महाराज चन्द्रसेन ने आर्यश्री से अनुनय-विनय के साथ अपना आश्रय प्रदान करने की प्रार्थना की। उन्होंने संयम स्वीकार करने की अपनी कामना व्यक्त की। महाराज चन्द्रसेन, उनकी सभी रानियों, अनेक अमात्यों, सामन्तों, श्रेष्ठियों आदि को आर्यश्री ने दीक्षा प्रदान की, सभी ने सर्वविरति चरित्र स्वीकार किया। महाराज आनन्दसेन ने श्रावक-व्रत स्वीकार किया।

महाराज आनन्दसेन ने सहज जिज्ञासावश प्रश्न किया कि क्या वे भी कभी श्रमण-जीवन में प्रवेश कर सकेंगे? अपनी स्वाभाविक गंभीरता और माधुर्य के साथ आर्यश्री ने कहा–

"आनन्दसेन ! तुम तो अखण्ड सौभाग्यशाली हो। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यही है कि तुम्हें भी यह सुअवसर अवश्य ही मिलेगा। तुम श्रवण-जीवन को अंगीकार करोगे, किन्तु अभी उसके लिए उपयुक्त समय नहीं आया है। अभी तो तुम्हें कर्मों की भोगावली का काफी समय व्यतीत करना होगा। तुम्हें अपनी संतति का आदर्श पालन-पोषण करना होगा, उनके जीवन को धर्म के साँचे में ढालना होगा। आनन्दनगर और चम्पानगरी को योग्य शासक देना होगा। संसार-सागर में अभी तुम्हें अपनी जीवन नौका को खेना होगा, वत्स ! अपने सभी दायित्त्वों से मुक्त हो जाने पर ही तुम विरक्ति की ओर मुड़ सकोगे। हाँ, यह तुम्हारे जीवन का अंतिम लक्ष्य अवश्य ही होगा; किन्तु उसके पूर्व का तुम्हारा सारा जीवन धर्ममय हो यह भी उसके लिए आवश्यक है। शुभ कर्मों में ही सदा प्रवृत्त रहो, समता-भावना की साधना में लीन रहो, तुम्हारा सदा मंगल होगा, कल्याण होगा। यही तुम्हारा अखण्ड सौभाग्य होगा।"

●●

प्रस्तुत कृति से संकलित

# सूक्तियाँ और सद्विचार

कोई भी स्त्री अपने प्रियतम के प्रेम का विभाजन सहन नहीं कर सकती। वह एकाधिपत्यपूर्वक एकनिष्ठ प्रीति की आकांक्षा रखती है।

× × ×

मनुष्य जब निरुत्तर हो जाता है तो मिथ्यात्व का आश्रय लेता है और कुतर्क प्रस्तुत करने लगता है। वह जान-बूझकर विषयान्तरित होने लगता है।

× × ×

सत्य ही है कि नियति जिसे दुःखद परिस्थितियों में जकड़ लेना चाहती है, वह प्रथमतः उसके विवेक को ही दुर्बल कर देती है।

× × ×

दूसरों को सुखी बनाने में जो आनन्द मिलता है, वह स्वयं के सुखी होने में भी नहीं मिलता। अपना सुख तो प्यास बढ़ाने वाली तृप्ति के समान होता है।

× × ×

विवेकशील समतानुरागीजन स्वयं ही सुख एवं उत्सर्ग के मार्ग पर नहीं चलते वे अपने संसर्गियों को भी अपने अनुगामी बना देते हैं। वे दिशा ही नहीं देते गतिशील रहने की शक्ति भी देते हैं। वे तो तूम्बे के समान स्वयं भी तैरते हैं और दूसरों को भी तैराते हैं।

× × ×

सन्मार्ग का संतोष सभी अभावों को विस्मृत कर देता है। अलौकिक आनन्द का लक्ष्य-गामी बनाकर वह साधक को लोक-सागर में कमलवत् निर्लिप्त कर देता है।

× × ×

सबसे प्रेम, सभी के प्रति सहानुभूति, सभी के प्रति ही वत्सलता–व्यक्ति अपने इन गुणों से विरोधियों का मन भी जीत लेता है। वह अजातशत्रु बन जाता है।

× × ×

किसी में अपने प्रति विरोध तो व्यक्ति को तब दिखायी देता है जब वह स्वयं उस व्यक्ति के प्रति अशुभ भाव रखे। वह विरोध उसके अपने ही विरोध की प्रतिछवि होता है।

× × ×

लोक में आदर्श प्रचलित है–'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर'। समता-भावना इस तटस्थ भावना से आगे बढ़कर कहती है–'सब काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर'। प्राणिमात्र के साथ मैत्री का मार्ग दिखाने वाली होती है–समता-भावना।

× × ×

जो भी परिस्थितियाँ हैं, उनमें रमे रहते हुए सत्कर्म में प्रवृत्त रहना ही मनुष्य का करणीय है।

× × ×

संतोष के साथ सम-भावपूर्वक जीना जो सीख जाता है, सुख स्वयं ही उसका स्वागत करने को लालायित रहता है।

× × ×

प्रजा के माँगने पर भी जो न दे वह दुष्ट, माँगने पर ही दे वह दंभी और प्रशंसा का भूखा है और जो राजा बिना माँगे ही आवश्यकता की पूर्ति करता चलता है उसका सिंहासन जनता के हृदय में होता है।

× × ×

प्रजा जब सदाचार का तप करती है, तभी उसे जनहितकारी शासन व्यवस्था मिल पाती है। सर्वजन-हिताय और लोक-मंगलकारी शासन स्वयं जनता के ही शुद्धाचरण का परिणाम होता है।

× × ×

वर्तमान पर संतुष्ट होकर बैठ रहने वालों को भविष्य की उज्ज्वलता कहाँ मिल पाती है। जिनके पाँव वर्तमान की धरती पर चलें, किन्तु हाथ भविष्य की ओर ललकते हों, वे ही उत्तम कल का निर्माण कर सकते हैं।

× × ×

शासक तो स्वयं सुख-साधनों का नियन्ता होता है। उसके अपने सुख में क्या कमी हो सकती है। किन्तु जनता के सुख में ही सुखानुभव करने वाला सच्चा शासक होता है।

× × ×

व्यक्ति जब सन्मार्गी हो जाता है और इस मार्ग पर बने रहने की प्रबल आन्तरिक प्रेरणा बनी रहती है तो बाह्य वातावरण भी उसकी सहायता ही करता है। सभी दिशाओं से उसे सहकार मिलता है। हाँ, उसके धैर्य की परीक्षा भी कम नहीं होती।

× × ×

काल तो अपने सहज प्रवाह के साथ चलता रहता है, चलता रहेगा और यथासमय सर्वघटनीय घटित होते रहेंगे। हमारा धर्म तो वर्तमान परिस्थितियों को सुन्दर बनाये रखने में योगदान करना है।

× × ×

नियति हमारे कर्मानुसार ही चलती है। हमारा मन तो एक दर्पण है जिसमें उत्पन्न कामनाएँ कर्म-फल की ही छवियाँ हैं। शुद्ध मनोकामनाएँ ऐसी ही होती हैं।

× × ×

अतिशय स्नेह पाकर व्यक्ति अपनी भूमिका नहीं निभाने के हठ से डिग जाता है। यह अन्य बात है कि बाह्य परिस्थितियाँ उसे उचित रूप में अपनी भूमिका नहीं निभाने दें–किन्तु वह निष्क्रिय नहीं रह पाता।

× × ×

स्वयं सन्मार्गी बने रहने से तो संतोष की अनुभूति होती है, किन्तु अन्यजनों को सन्मार्ग पर लाने में जो प्रसन्नता होती है, उसकी समकक्षता अन्य कोई सुख नहीं कर पाता। वही परहितैषियों का सच्चा सुख है।

× × ×

पुरुषार्थ से दुर्लभ समझी जाने वाली वस्तुएँ भी सुलभ हो जाती हैं। आवश्यकता केवल आस्था, निष्ठा और साहस की ही है।

× × ×

लक्ष्य-साधना का नैष्ठिक साधक कभी बाधाओं से विचलित नहीं होता, न ही उसे मार्ग की सुरम्यताएँ किसी प्रकार का मोह जगाकर चेष्टा-शिथिल बना पाती हैं।

× × ×

आवश्यक नहीं कि क्रोध से कोप-भाजन के मन में भी क्रोध उत्पन्न हो, किन्तु विनय के प्रत्युत्तर में विनय का ही उद्‌भव होता है। सच्चा विनय कभी निरर्थक नहीं रहता।

× × ×

प्रीति-पात्र की पीड़ा से द्रवित हो जाना, स्वयं को पीड़ित अनुभव करने लगना—सच्चे अनुराग-भाव का परिचायक होता है। यह समानुभूति भी पारस्परिक होती है।

× × ×

ममता किसी के भी साथ नहीं, समता सभी के साथ—सुखी जीवन का यह स्वर्णिम सिद्धान्त है। ममता तो सभी क्लेशों की मूल होती है।

× × ×

बड़ी-से-बड़ी शपथ का भी ग्रहण किया जाना सुगम होता है; किन्तु छोटी-से-छोटी शपथ का पूर्णतः पालन दुष्कर होता है। इसे सामायिक-साधना द्वारा ही सुकर बनाया जा सकता है।

× × ×

जन्म से न तो कोई अधार्मिक होता है और न ही धार्मिक। वह जैसे वातावरण में रहता है, वैसा ही ढलता चला जाता है। धर्मप्रियजनों की सत्संगति की इसी कारण परम महत्ता समझी जाती है।

× × ×

नारी का वर्चस्व कौमार्यकाल में पिता के संरक्षण में निर्मित होता है, यौवनावस्था में वह पति के सामीप्य में पुष्ट होता है और जरावस्था में वह पुत्र के सान्निध्य में पुष्पित फलित होता है।

× × ×

धर्म के मार्ग में सभी पथिक एक-दूसरे के सहयोगी और सहकारी होते हैं। सहयात्री और सहकर्मी तो वे होते ही हैं–सहगामी होने के नाते वे परस्पर पूरक भी होते हैं।

× × ×

धर्ममय जीवन का अपना ही एक अनूठा रस होता है। उस रस में लीन रहने का स्वभाव जिनका हो जाता है, वे सम-भाव के साथ सर्वजन-हिताय जीवन जीने लग जाते हैं और आत्मोत्कर्ष के सोपान चढ़ते चले जाते हैं।

× × ×

यदि कोई मनोभाव ऐसा है जो अनिवार्य रूप में और सम्पूर्णतः व्यक्त हो जाता है तो वह केवल 'प्रसन्नचित्तता' ही है। इससे अपने-पराये सभी क्षोभ और दुःख दूर भाग जाते हैं।

× × ×

मातृत्व का जो वरदान नारी को प्राप्त है वही उसके जीवन-साफल्य की आधारशिला है। यही वरदान पुष्ट होकर वात्सल्य-भाव में साकार होता है, जिसमें समस्त नारीत्व निहित है।

× × ×

विवेकशीलजन अपने समस्त करणीय कार्यों में संतुलन और तालमेल रखते हैं। तभी वे अपने समस्त दायित्वों को निभा पाते हैं; अन्यथा वे निन्दा और अपयश के भागी भी हो जाते हैं और आत्मतोष से भी वंचित रह जाते हैं।

× × ×

अमंगल को टालने का प्रयत्न–प्रत्येक सज्जन और धर्मीजन का नैतिक कर्त्तव्य होता है। वह निरपेक्ष और तटस्थ भाव से उसे घटित होते नहीं देख सकता।

× × ×

कुविचारों को त्यागकर सन्मार्ग का अनुसरण करना ही सुख-शान्ति का मूल है। स्वार्थांधता सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं होने देती–इससे बचना अत्यावश्यक है।

× × ×

प्रत्येक युग में अधर्म धर्म की हँसी उड़ाता रहा है, पर किसी युग में अधर्म बलवान सिद्ध नहीं हो पाया। अंतिम विजय तो सदा धर्म की ही होती रही है।

× × ×

अधर्म मात्र सुखाभास ही करा सकता है। सच्चा सुख तो धर्माचरण का ही परिणाम हो सकता है।

× × ×

जिज्ञासा ही ज्ञान-लाभ के क्रम का प्राथमिक सोपान होती है। जानने की कामना है तो प्रयत्न भी होगा और सच्चा प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता।

× × ×

उन्नति का कोई चरम नहीं होता–प्रगति का मार्ग अनन्त होता है। कोई उतनी ऊँचाई से ऊपर नहीं उठ पाता, जितनी वह कल्पना करता है। उच्चतम कल्पना करो और प्राप्ति का भरसक प्रयत्न करो। सफलता ऐसे साधक के चरण चूमती है।

× × ×

प्रतिद्वन्द्वी चाहे साधारण प्रतीत होता हो–उससे सावधान रहना और स्पर्धा के लिए अधिकाधिक शक्ति अर्जित करना–विजय का यही रहस्य है। संघर्ष से पूर्व स्व-शक्ति को अपरिमेय मानना, स्वयं को दुर्जेय मानना स्वयं को धोखा देना ही है।

× × ×

सामर्थ्य के साथ जब आत्म-विश्वास भी जुड़ जाता है तो विजय निश्चित हो जाती है।

× × ×

अपने सामर्थ्य और सद्गुणों को गोपन करके रखो, उनका प्रदर्शन व्यर्थ है। इनके उपयोग का अनिवार्य अवसर आ जाने पर जनहित में इनका धर्मपूर्वक सदुपयोग करो।

× × ×

किसी के अनिष्ट की आशंका भी और उससे रक्षा की चिन्ता भी सर्वप्रथम हितैषियों के मन में ही उठती है।

× × ×

किसी के गुणों की महत्ता को स्वीकार किये बिना हम उससे कोई लाभ नहीं उठा सकते। ईर्ष्यालुजन इसी कारण पिछड़ जाते हैं।

× × ×

कुकर्मी अपने पाप के दुष्परिणामों से उतना नहीं डरता जितना वह कुकर्म के प्रकट हो जाने की आशंका से भयभीत रहता है।

× × ×

भय के कारण सत्य अथवा तथ्य को अव्यक्त रखना भी मानसिक बोझ को बढ़ाना ही है, यही नहीं–यह अनैतिकता भी है। इसके कारण होने वाली हानि का आंशिक दायित्व उसका भी बनता है, जो उसे छिपाता है।

× × ×

ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने पतन के लिए स्वयं ही गर्त्त बना लेता है। श्रद्धालुजन गुणीजनों की महत्ता स्वीकार करके ही आत्मिक उन्नति का मार्ग निर्मित कर लेते हैं।

× × ×

कुशलजन अवसर का लाभ उठाने में रंचमात्र भी नहीं चूकते। जाते-जाते अवसर का भी उपयोग कर ही लेते हैं; निराश होकर निष्क्रिय नहीं हो जाते।

× × ×

लोहा जब तक तप्त हो, तभी तक उसे मनचाहा आकार दे दो। ठंडा हो जाने पर उस पर हमारा वश नहीं रह जाता। अवसर का सदुपयोग भी ऐसा ही है। अवसर चूक जाने पर असफलता और पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है।

× × ×

अनियंत्रित और असंरक्षित शक्ति भी उत्पात ही होकर रह जाती है। ऐसे शक्तिशाली का अनैतिक और दुराचारी हो जाना अस्वाभाविक नहीं।

× × ×

क्रोध के उत्तर में क्रोध नहीं करो। क्रोधानुक्रोध का अनन्त क्रम सर्वनाशी ही होगा। विनयपूर्ण व्यवहार और प्रेम से मूल क्रोध को ही उन्मूलित किया जा सकता है। यही विवेकीजन का मार्ग है।

× × ×

चिन्तन मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इससे मुक्त वह कभी रह नहीं सकता। यही चिन्तन उसका मानस बनाता है और भावी आचरण का मार्ग भी निर्मित करता है।

× × ×

अहिंसा अपने सच्चे अर्थों में शौर्य का ही पर्याय है। हिंसा के विरुद्ध यह सशक्तजनों का एक समर्थ अभियान है।

× × ×

विनय अचतुर होती है, सदाशयता में एक निरीहता होती है। कुचक्र और छद्म उन्हें छल लेते हैं, पर अन्तिम विजय इन्हीं सद्भावों की होती है, चाहे विजय का मार्ग लम्बा, ऊबड़-खाबड़ और संकटपूर्ण ही क्यों न हो।

× × ×

भस्म करना ही हो तो अपने क्रोध को भस्म करो। मारना ही है तो अपने दर्प को मारो। इसी में विवेकशीलता है।

× × ×

भीतर उमंग हो तो बाहर का भी सारा उल्लास पूर्व ही दृष्टिगत होता है। मनुष्य का मन अपने ही रंग में सभी कुछ रंग देने की अद्भुत क्षमता रखता है।

× × ×

मिथ्या के समान कायर अन्य कोई नहीं हो सकता और कुचक्र स्वयं ही अधीरता और आशंका का कारण बना रहता है।

× × ×

सन्मार्ग पर ही चलते रहने वालों की अपेक्षा वे अधिक महान् हैं जो कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर आ जाते हैं।

× × ×

सुख-शान्ति के क्षणों में ही सुखद उपादान सुख उत्पन्न कर सकते हैं। दुःखद अवस्था में तो वे ही उपादान संत्रास को बढ़ा देते हैं।

× × ×

दुराचारियों की लगन और दुस्साहस भी अद्भुत होता है। सदाचारी भी उनकी अपेक्षा कदाचित् पिछड़े प्रतीत होते हैं। सत्कर्म भी वे विचारपूर्वक ही कर पाते हैं।

× × ×

नारी सामान्यतः संघर्ष के पक्ष में नहीं होती। वह उसके टल जाने की कामना और प्रयत्न करती है। यही शान्तिप्रियता का लक्षण उसमें कभी-कभी पलायन की प्रवृत्ति का आभास करा देता है।

× × ×

अनीति की शक्ति को दबाने के लिए बल की अपेक्षा कल की अधिक आवश्यकता रहती है। लोक-मंगल की भावना के साथ ऐसे दुष्टों को यदि छल से भी पराजित करना पड़े तो इसमें पीछे नहीं रहना चाहिये।

× × ×

शुभ संकल्प भी उचित अवसर पर और उचित प्रयत्नों से ही पूर्ण हो पाते हैं। विवेकहीनता के साथ, अति उत्साहवश कार्यारंभ से सफलता असंदिग्ध नहीं रह पाती।

× × ×

सामान्यजन तो कर्माधीन रहते हैं। ज्ञानी और विवेकीजन कर्मों पर अपना नियंत्रण रखते हैं। वे कर्म-फलों को भी अनुकूल आचरण द्वारा स्वानुकूल कर लेते हैं।

× × ×

मंगलकारी उपदेश भी उन्हीं के लिए हितकारी होते हैं जो मंगलोत्सुक होते हैं, जो सन्मार्ग के अनुसरण की आन्तरिक प्रेरणा रखते हैं।

● ●